प्रतापनारायण मिश्र

रचनावली

संपादक
डॉ. चन्द्रिकाप्रसाद शर्मा

प्रतापनारायण मिश्र रचनावली : 3

मिश्र जी ने बहुत लिखा। 'ब्राह्मण' पत्र का वे सम्पादन करते ही थे, साथ ही गद्य भी उच्चकोटि का लिखते थे। पद-रचना में तो वे जन्मजात कवि ही प्रतीत होते थे। जिस प्रकार का मस्तानापन, कल्पना-प्रवणता, सजीवता तथा भावुकता एक कवि में होनी चाहिए, वैसी सबकी सब प्रभूत मात्रा में स्वर्गीय मिश्र जी के अन्दर विद्यमान थी। वे गुणी और गुण-ग्राहक दोनों ही थे।

खड़ीबोली का वह प्रारम्भिक युग कैसे हँसते-खेलते रूप में आविर्भूत हुआ और स्वर्गीय मिश्र जी ने अपनी विनोदप्रियता, व्यंग्यपूर्ण वक्रता, लोकोक्ति-निबन्धता तथा भाव-प्रवणता द्वारा उसे किस प्रकार आगे बढ़ाया, इसे हिन्दी-साहित्य का अध्येता भली-भाँति जानता है। उस युग का साहित्यिक हिन्दी, फारसी, बँगला, अंग्रेजी आदि कई भाषाओं का ज्ञान रखता था। वह नवीन और प्राचीन का संधि-युग था। उसमें प्राचीन रूढ़ियाँ त्याज्य समझी जाने लगी थीं और नवीन भावनाओं के प्रति आकर्षण उत्पन्न हो रहा था। पं० प्रतापनारायण मिश्र प्राचीन और नवीन दोनों को साथ लेकर चले।

—डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम'

ISBN—81-88122-01-7 (Set)

ISBN—81-88122-04-1 (Vol. 3)

मूल्य : रु० 1,050.00 (चार खंड)

प्रतापनारायण मिश्र रचनावली

3

भारतीय प्रकाशन संस्थान

प्रतापनारायण मिश्र रचनावली

तृतीय खण्ड

संपादक

डॉ० चन्द्रिकाप्रसाद शर्मा

ISBN—81-88122-01-7 (Set)
ISBN—81-88122-04-1 (Vol. 3)

प्रकाशक
भारतीय प्रकाशन संस्थान
24/4855, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

प्रथम संस्करण
2001

आवरण
रवि शर्मा

मूल्य
एक हजार पचास रुपये (चार खण्ड)

मुद्रक
बी. के. ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

PRATAP NARAYAN MISHRA RACHANAVALI : 3 (Hindi)
Ed. by Dr. Chandrika Prasad Sharma
Price : Rs. 1,050.00 (For Volumes)

क्रम

सांस्कृतिक निबंध

रुपया हिंदुस्तान में अब नहीं रहा । मुसलमानों ने सात सौ बरस राज्य किया, उसमें भी बाजे 2 बादशाहों ने हजारों आदमी मार डाले, सैकड़ों नगर लूट लिए, तौ भी अन्न वस्त्र सबको मिली रहता था । पर इस सुराज्य में सौ ही बरस के बीच यह दशा हो गई है कि देश-भर में चौथाई से अधिक जन केवल एक बेर खा पाते हैं, सो भी पेट भर नहीं । तिस पर भी जिनको रामजी ने खाने भर को दिया है उन्हें अपने धन की ममता नहीं है ।

गुप्त ठग

कपड़ा लत्ता चेहरा मुहरा देखो तो भले मानसों का सा । बातें सुनो तो साक्षात् युधिष्ठिर जी का अवतार । "झूठ बोलना और···और··बराबर है" यह जिनके तकिया कलाम हैं, "रामौराम पर" "धर्मौंधरम पर" "जनेऊ कसम" "राम धै" "परमेसुर जानै" "जो तुम्हारे ईमान में आवै" "अरे भैया रुपया पैसा हाथ का मैल है, धरम नहीं तौ कुछ भी नहीं"—दिन भर यही बातें बात 2 पर निकलैंगी । गंगाजी के दर्शन दोनों पहर करैंगे, मंदिर में घंटों घंटा हिलावैंगे, कथा में बैठे तो श्लोक 2 पर आँसू चले आते हैं । कोई जाने धरती के खंभ, धर्म का पुतला, प्रेम का रूप, जो हैं सो बस आप ही हैं । पर कौड़ी 2 के लिये सब सतजुग वाली बातैं बिलैमान हो जाती हैं । दूकान पर आये नहीं कि "या महादेव बाबा भेज तौ कोई भोला भाला आँख का अंधा गाँठ का पूरा" ।

अ ह ह ह ह बलिहारी 2 बगुला भगत, बलिहारी ! ध्यान करते देखै सो तो जानै कि ब्रह्म से तन्मय हो रहे हैं पर मछली निकली की गप । जानते होंगे कि कोई जानता नहीं, यह नहीं समझते "पापु अँटारी चढ़ि कै गोहरावत है ।" भला यार लोगों से भी कुछ छिपती है ! यार बुरा मानो चाहै भला पर कहैंगे वही जो तुम्हारे और सबके हित की हो । जब तक आचरण न सुधरैंगे तब तक यह सब भगतई और भलमंसी कौड़ी काम की नहीं है । अपने मुँह चाहो जो बने रहो जानि परो जब जइहौ कचहरी । 'फक्कड़ भाई यह किस पर फबतियाँ हो रही हैं ?' दो एक थोड़ी हैं, हम कहते जायँ तुम गिन चलो । पहिले चलो नाज की मंडी । बैपारी राम तो जानते हैं भाई अच्छी सोने की चिड़िया हाथ लगी है, रुपया उधार दिया है जो माँगते तक नहीं, आओ तो कुछ नजर करैं, जावो तो कुछ भेट धरैं, जब तक रहो आँखों पर रक्खैं, बात 2 पर कहैं कि 'हमार तुम्हार घर का वास्ता है ।' यह नहीं समझते कि 'बनिया का बेटा कुछ तो समझकर फिसल पड़ा ।'

भला रुपए की आढ़त पर यह धम 2 कैसे सहे जा सकते हैं, वहाँ कनवाँ बुधिया मासा चलता है । ब्योपारी से कहा बीस सेर बिका और ग्राहक से इशारा किया 'कनवाँ', बस 'खग जानै खग ही की भाषा ।' बिचारा गँवार ब्योपारी क्या जानै कि इस गूढ़ मंत्र का यह अर्थ है कि छँटाक रुपया तो अढ़तिया जी के बाप का हो गया । जहाँ कहा 'मासा' बस पौवा रुपया अलग ही अलग चित्त हुआ । यह तो ब्योपारी का माल बेचने का हतखंडा है । जब अपना माल बेचेंगे तब बानगी और दिखाई तुलाय और दिया । 'गुरू यह तो विश्वासघात है !!' अबे चुप ! बनियई के पेंच हैं उल्लू, कहीं तुलसी सोना डालै रोजगार होते हैं ।

अब घी वाले की दूकान पर देखो चलैं । ग्राहक के दिखाने को भंड़िया पर ताजा अरंड का पत्ता बँधा हुआ है, मानौ अभी दिहात से आया है । जहाँ खोल के देखा, घी क्या है घी का बाबा है, आँच दिखाते ही जानोगे । 'गुरु यह पहेली सी क्या कहि गये, घी का बाबा तो मट्ठे को कहते हैं क्योंकि मट्ठे

से मक्खन और मक्खनी से घी होता है' । अबे ऐसा नहीं कहते, देख तो कैसा घी धरा है । सच है, सच है, दानेदार नहीं बरुक दाने का जीव और घी का जीव एक हो गया है, तभी तो रङ्गत तक नहीं बदली । खासा भैंस का सा घी बना है ।

भैंस का न सही यह लेव गाय का घी है । इसमें भी गुल्लू का तेल मिला होगा । हाय ! इन रतन में जतन करने वालों की क्या दशा होगी नारायण ! चलो 2 ऐसा घी खाये बिना क्या डूबा जाता है । दूध खाया करैंगे । दूध वाले ही कौन दूध के धोये बैठे हैं, वहाँ भी 'सेरुक दूध अढ़ैयक पानी । धम्मक धम्मक होय मथानी' । की धैना है । उन्हें कुछ कम समझे हो, वह भी बकरी भेंड़ी का दूध मिला 2 के एक 2 के दो 2 करते हैं । तभी तो घी दूध का गुन जाता रहा । हाय ! इन ठगों की खबर सर्कार क्यों नहीं लेती कि अभी दूध का दूध पानी का पानी हो जाय । सर्कार को क्या पड़ी है कि छोटी बातों में अपना समय खोवै, सर्कार को अपने लाइसेंस टैक्स से काम है कि तुम्हारे धंधों से ? फिर क्या ग्राहक लोग नहीं जानते कि राक्षसों के मारे गाय भैंस तो बचने ही नहीं पातीं घी दूध आवै कहाँ से ?

ऐसी ही शरीर रक्षा करनी हो तो हिंदू भाई यदि अधिक न हो सके तो एक गाय पाल ही लें, जिसमें शरीर रक्षा, स्वादिष्ट भोजन और धर्म तीनों मिलैं । सर्कार से किस 2 बात की शिकायत करते फिरोगे । यहाँ तो यह कहावत हो गई है कि 'पेशे में सभी चोरी करते हैं' । हलवाई की दूकान पर जाओ, सब चीज ताजी घी की बनी तैयार है, पर खाते ही जानोगे । जो तीन ही दिन की हो तहाँ तक ही कुशल समझो । सेर भर घी में पाव भर तेल मिला हो तो तब तक तो जानो बड़े ईमानदार का सौदा है नहीं तो शुद्ध एक बर्धा 'तेल गले मढ़ैगा' । अत्तार के यहाँ बरषों की सड़ी दवायें, सुंदर ऊँख का शहद, खालिस शिरे का शर्बत और गङ्गा जी का अरक तो एक साधारण बात है । संबत् 1936 में बीमारी बहुत फैली थी, तब बहुतेरे महापुरुषों ने लसोरे की गुठली पर अमरस चिपकाय के आलूबुखारे बनाये थे और बड़ी कठिनाई से पैसा के तीन 2 देते थे । क्यों न देश का देश निर्बीज हो जाय ?

रोगी राम कहते हैं, हकीम जी की दवा से फायदा नहीं होता । फायदा कहाँ से हो, दवा तो यार ही लोगों के यहाँ से आवैगी । हाय ! यह भी तो नहीं हो सकता कि सब काम अपने हाथ ही से किये जायँ । संसार में कोई किसी का विश्वास न करै तो भी तो काम नहीं चल सकता । पर विश्वास कीजिये किसका, यहाँ तो वही लेखा है कि 'हुशियार यारे जानी यह दस्त है ठगों का । याँ टुक निगाह चूकी और माल दोस्तों का' । 'सबको ठग बनाते हो ? ऐसा न हो कि कोई बिगड़ जाय ।' अरे भाई ऐसे डरने लगते तो यह काम ही क्यों मुड़ियाते ? यहाँ तो खरी कहना माथे के अक्षर ठहरे । कुछ हो हमसे तो बिना कहे नहीं रहा जाता कि अपने मन के धन के लिये ऐसे अनर्थ करना कि दूसरों की तन्दुरुस्ती (स्वास्थ्य) में भी बाधा लगै, केवल लोभी का नहीं बरञ्च महा अधम का काम है ।

इसमें परलोक ही अकेला नहीं बिगड़ता, दुनिया में भी साख जाती है । अन्य देशी लोग बेईमान बनते हैं । रोजगार जैसा सावधानी और ईमानदारी से चलता है वैसा इन अंधेरों से सपने में न चल सकेगा । हमेशा तीन खाओगे तेरह की भूख बनी रहैगी । विश्वास न हो तो जैसे अपनी रीति पर अब तक चले हौ वैसे ही जी कड़ा करके कुछ दिन हमारी बूटी का भी सेवन करो तो देखो कैसा मजा होता है, कैसे 2 लाभ उठाते हो । हम ब्राह्मण हैं । हित की कहते हैं । हमारी मानोगे तो धरम मूरत धरमा औतार हो जाओगे नहीं तो कोई अँगरेज सुन पावैगा तो 'डेम फूल' बना के मनवावैगा । वह मानना और तरह

का होगा, बस आगे तुम जानो तुम्हारा काम जानै ।

खं० 1, सं० 4 (15 जून, सन् 1883 ई०)

बेकाम न बैठ कुछ किया कर

किसी व्यवहारकुशल महात्मा का यह सिद्धांत कितना उत्तम है कि उस पर दृढ़ चित्त होकर बर्ताव करने वाला कभी न कभी अवश्य ही कृतकार्य होता है । संसार में ऐसा कोई काम ही नहीं है जो मनुष्य न कर सके । लोग कहते हैं पत्थर पर कोई वस्तु नहीं जम सकती । पर हमारी समझ में निस्संदेह जम सकती है । यदि कोई निरंतर बीज और जल छोड़ता रहे तो कुछ दिन में जल के योग से वह बीज सड़ के मिट्टी हो जायगा । उस पर क्या बात की न जमै । बहुतेरे आलसियों का मत है कि 'ह्वै है सोई जो राम रचि राखा । को करि तर्क बढ़ावै शाखा ।।' हम कहते हैं कि इस बचन का वे अर्थ ही नहीं समझते । इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर ने जिस पदार्थ में जैसी शक्ति रक्खी है उसके विपरीत न होगा । इससे प्रत्येक वस्तु का स्वाभाविक गुण जानने का यत्न करना चाहिए । तदनंतर उसके अनुकूल उद्योग करते रहना चाहिए । फिर निश्चय कार्य सिद्ध हो ही रहेगा । आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, ढँचरा चला जाय, तार न टूटने पावे तो उद्योग में परमेश्वर ने कार्य सिद्धि की शक्ति रखी है । मनुष्य को हतोत्साह तो कभी होना न चाहिए । जिस बात में मनसा वाचा कर्मणा जुट जाओगे, कर ही के छोड़ोगे ।

शिक्षा कमीशन ने देवनागरी का तिरस्कार कर दिया । कुछ परवा नहीं । उसके सच्चे रसिकों का ठेंगा निराय ही कौन नहीं जानता 'श्रेयांसि बहु विघ्नानि ।' फिर सही, दे मेमोरियल पर मेमोरियल, दे लेख पर लेख, दे चंदा पर चंदा । देखें तो सरकार कहाँ तक न सुनेगी ! और सरकार न भी सुने, जब देशहितैशी महाशय सेतुआ बाँध के पीछे पड़ जायेंगे, नगर 2, ग्राम 2, जन 2 में नागरी देवी का जस फैला देंगे, आप ही स्वदेश भाषा की उन्नति हो रहेगी । आप ही उरदू बीबी के नखरे सबको तुच्छ जँचने लगेंगे । कहीं उद्योग भी निष्फल हुआ है ? इसी प्रकार इलबर्ट ने गुड़ दिखा के ईंट मारी है । इस बात की भी सोच वृथा है । अँगरेज न हमारी जाति के, न हमारे देश के, न हमारे धर्म के । उनकी बराबरी से हमें क्या ? हम ऐसे काम ही न करें जिससे उन्हें हमारा मुकद्दमा करने की नौबत आवे । उन्हें अँगरेज अपराधियों का इतना पक्षपात कि हिंदुस्तानी हाकिम, बिना यूरोपियों की पंचायत बैठे, उनका न्याय ही न कर सकैं ! क्यों न हो 'घर का परसैया अँधेरी रात' ।

क्या हम किसी दूसरे के प्रजा हैं ? हमें भी सरकार से निवेदन पर निवेदन इस बात के लिये करना चाहिए कि हमारे मुकद्दमे अँगरेज हाकिम बिना स्वदेशियों की पंचायत के न कर सकें । एक बार नहीं सौ बार, एक प्रकार नहीं सहस्र प्रकार, सरकार को समझावैं कि हमारा भी कुछ हक है । निश्चय है

सर्कार अवश्य सुनेगी। और न सुने तो इसका उद्योग करते रहना श्रेष्ठ है कि अपने देशभाइयों का विचार देशभाई ही कर लिया करें। अभी यह भूमि ऐसी निर्बीज नहीं हो गई कि प्रत्येक स्थान में ऐसा विद्वान् विचारशील एक पुरुष भी न मिले जो हमारा उचित न्याय कर सकता हो। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है, भारतीय बादी प्रतिबादी का न्याय तो आप हुआ सही पर गौरांग महाशय ने हम पर कोई अत्याचार किया तो वही गेंद वही चौगान फिर न उपस्थित होगा ? इसका सहज उत्तर यह है कि जब हम अपने गौरव रक्षण में दत्तचित्त हो के, बद्धपरिकर हो जायँगे, तब हमारे स्वाभाविक तेज के आगे किसी का मुँह न होगा जो हमसे विरुद्ध हो।

उद्योग में सब सामर्थ्य है। जिस बात के लिये कुछ करते रहो एक न एक दिन उसका फल हो ही रहता है। आज कल राजा शिवप्रसाद सी०एस०आई० भारत व्यवस्थापक सभा का सभादल छोड़ने वाले हैं। उनके स्थान पर यदि कोई खुशामदी टट्टू बिठा दिया गया तो फिर मानों भारतवर्ष डूबा कुए में, गरचि भँवर से निकल गया ! अतएव हमारे देशानुरागियों का परम धर्म है कि किसी सज्जन धर्मिष्ठ भारत-भक्त को लेजिसलेटिव कौंसिल का मेंबर नियत करने के लिये सर्कार से निवेदन करें और पूर्ण विश्वास है कि महात्मा लार्ड रिपन ऐसे निवेदन को अवश्य सुनेंगे। अपने सहयोगी 'उचित वक्ता' को सम्मति पूर्वक हम एक बार लिख चुके हैं और अब भी अवसर है इससे फिर चिताए देते हैं कि हिंदुस्तान का एक मात्र निष्कपट हितैषी श्रीयुत भारतेंदु हरिश्चंद्र के समान 'न भूतो न भविष्यति'।

यदि वे कौंसिल में विराजमान हुए तो इस देश के अहो भाग्य हैं !!! आओ भाई संपादकों, एक मत हो के इसका उपाय करें। आओ प्यारे देशोद्धारक महाशयों, इस समय को हाथ से न जाने दें। देखो तो क्या होता है। उपाय का फल बड़ा गुणकारक है और स्वदेश हित साधन बड़ा सुकर्म है। यह न कहना कि कल की बात है, गोरक्षा में क्या कर लिया था। वह किसी दूसरे का दोष नहीं था, तुम्हीं 'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैत लक्ष्मी' इस परमोत्तम बचन को भूल गए थे। फिर सही, 'बेकाम न बैठ कुछ किया कर'।

खं० 1, सं० 12 (15 फरवरी 1884 ई०)

बाल्यविवाह विषयक एक चोज

आर्यावर्तीय जनों को सर्वथा अनिष्टकारक होने के कारण, वेद शास्त्र, पुराण तो क्या, बाल विवाह की विधि, आज्ञा वा प्रमाण आल्हा तक में नहीं है। शीघ्र बोध के जिन श्लोकों को प्रमाण मान के हिंदू भाई इस घोर कुरीति पर फिदा हैं, जिनके लिए नई रोशनी वाले विचारे काशिनाथ पर फटकेबाजी करते हैं, उनका ठीक 2 अर्थ ही कोई नहीं बिचारता, नहीं तो उनमें तो महा 2 निषेध, बरंच भयानक रीति से बाल्य विवाह का निषेध ही है। देखिए साहब ! पुत्र का नाम आत्मा है, और लोक में भी प्रसिद्ध है कि 'भाई

तुमको देख लेते हैं तो मानो साक्षात् तुम्हारे पिता ही को देख लेते हैं ।' अर्थात् वेद और लोक दोनों के अनुसार पिता और पुत्र की अभिन्नता है ।

अब शीघ्रबोध के बचनों पर ध्यान दीजिये—'अष्टवर्षा भवेद्‌गौरी नव वर्षा च रोहिणी' इत्यादि । आठ वर्ष की लड़की गौरी है, और गौरी साक्षात भगवान शिवजी की अर्धांगी, जगत की माता है ! और नव वर्ष की लड़की रोहिणी है, जो साक्षात भगवान श्रीकृष्ण चंद्र जी के बड़े भाई श्री दाऊ जी (बलदेव) की माता है । इस नाते संसार की दादी हुईं । भला कौन ऐसा तैसा दुष्ट नराधम राक्षस होगा जो श्रीमती पार्बती तथा रोहिणी देबी से विवाह…! अरे राम राम ! करना कैसा, करने का नाम ले उसकी जीभ में कीड़े पड़ैं ! कहाँ रोहिणी, पार्बती, कहाँ क्षुद्र मानव तथा उसके संतान ! और हाय रे कुजा (कहाँ) बैवाहिक संबंध ! अरे भाई, ऐसा तो विचार करना महा चांडालत्व है !

और लीजिए—'दशवर्षा भवेत्कन्या' । इस लेखे मनुष्यों की कन्या एवं उनके बालकों की भगिनी हुई ! कहते रोएँ थर्राते हैं, कौन बेटी बहिन से ब्याह कर लेगा ! हाँ, 'ततश्चौर्द्ध्वं रजस्वला' तिसके (दश वर्ष के) ऊपर जब रजस्वला होय (हो होगी बारहें तेरहें वर्ष) तब ब्याह के योग्य होगी !

हाँ, इतना विचार रखो, रजस्वला का छूना तक आर्य रीति के विरुद्ध है । इस वाक्य के न मानने से यह होगा कि बीच ही में, अर्थात् दश वर्ष के लगभग…होने से रजस्वला धर्म, जो सृष्टि क्रमानुसार बारह तेरह वर्ष में होता है, सो बीच ही में अर्थात् ग्यारहें ही साढ़े ग्यारहें वर्ष कूद पड़ेगा । इससे बिचारी कन्या की रजस्वला संज्ञा हो जायगी । अर्थात् थी वास्तव में कन्या पर माँ बाप ने जबरदस्ती रजस्वला बनाया ।

इस स्वभाव विरुद्ध कर्म वालों के हक में भी काशिनाथ जी ऊपर वाले श्लोक की पुष्टि करते हैं—'माता चैव पिता चैव ज्येष्ठ भ्राता तथैव च' । दयानंद स्वामी 'तथानुजः' और जोड़ते हैं, सो भी ठीक है । ब्याह के तमाशे खूब छोटे लड़के ही देखते हैं । बरंच हमारी राय लीजिये तो पुरोहित जी, क्योंकि पढ़े न समझे, अपने भ्रम में बिचारे यजमान से पाप करावैं औ बर कन्या का जन्म नशावैं ! 'ते सर्वे नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलां' । अब कहौ, श्री काशिनाथ भट्टाचार्य का दोष है कि गप्पूनाथ भ्रष्टाचार्य हिंदुस्तानियों का गदहपन है ?

खं० 3, सं० 11 (जनवरी ह० सं० 2)

युवावस्था

जैसे धरती के भागों में बाटिका सुहावनी होती है, ठीक वैसे ही मनुष्य की अवस्थाओं में यह समय होता है । यदि परमेश्वर की कृपा से धन बल और विद्या में त्रुटि न हुई तौ तो स्वर्ग ही है, और जो किसी बात की कसर भी हुई तो आवश्यकता की प्राबल्यता यथासाध्य सब उत्पन्न कर लेती है । कर्तव्याकर्तव्य

का कुछ भी विचार न रखके आवश्यकता देवी जैसे तैसे थोड़ा बहुत सभी कुछ प्रस्तुत कर देती है। यावत पदार्थों का ज्ञान, रुचि और स्वाद इसी में मिलता है। हम अपने जीवन को स्वार्थी, परोपकारी, भला, बुरा, तुच्छ, महान जैसा चाहें वैसा इसी में बना सकते हैं।

लड़काई में मानो इसी अवसर के लिए हम तयार होते थे, बुढ़ापे में इसी काल की बचत से जीवन यात्रा होगी ! इसी समय के काम हमारे मरने के पीछे नेकनामी और बदनामी का कारण होंगे। पूर्वपुरुषों के पदानुसार बाल्यावस्था में भी यद्यपि हम पंडित जी, लाला जी, मुंशी जी, ठाकुर साहब इत्यादि कहाते हैं, पर वह ख्याति हमें फुसलाने मात्र को है। बुढ़ापे में भी बुढ़ऊ बाबा के सिवा हमारे सब नाम साँप निकल जाने पर लकीर पीटना है। हम जो कुछ हैं, हमारी जो निजता है, हमारी निज की जो करतूत है वह इसी समय है, अतः हमें आवश्यक है कि इस काल की कदर करने में कभी न चूकें।

यदि हम निरे आलसी रहे तो हम युवा नहीं जुवाँ है अर्थात् एक ऐसे तुच्छ जन्तु हैं कि जहाँ होंगे वहाँ केवल मृत्यु के हाथ से जीवन समाप्त करने भर को ! और यदि निरे ग्रह धंधों में लगे रहे तो बैल की भाँति जुवा (युवाकाल) ढोया। अपने लिए धर्म ही श्रम है, स्त्री पुत्रादि दस पाँच हमारे किसान चाहे भले ही कुछ सुखानुभव कर लें। यदि, ईश्वर बचाए, हम ईंद्रियाराम हो गए तौ भी, यद्यपि कुछ काल, हम अपने को सुखी समझेंगे। कुछ लोग अपने लोग अपने मतलब को हमारी प्रशंसा और प्रीति भी करेंगे, पर थोड़े ही दिन में सुख का लेश भी न रहेगा, उलटा पश्चात्ताप गले पड़ेगा, बरंच तृष्णा पिशाची अपनी निराशा नामक सहोदरा के साथ हमारे जीवन को दुःखमय कर देगी।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य यह षड्वर्ग यद्यपि और अवस्थाओं में भी रहते ही हैं, पर इन दिनों पूर्ण बल को प्राप्त हो के आत्म मंदिर में परस्पर ही युद्ध मचाए रहते हैं, बरंच कभी 2 कोई एक ऐसा प्रबल हो उठता है कि अन्य पाँच को दबा देता है और मनुष्य को तो पाँच में से जो बढ़ता है वही पागल बना देता है। इसी से कोई 2 बुद्धिमान कह गए हैं कि इनको बिल्कुल दबाए रहना चाहिए, पर हमारी समझ में यह असंभव न हो तो महा कठिन, बरंच हानिजनक तो है ही। काम शरीर का राजा है (यह सभी मानते हैं) और क्रोधादि मानो हृदय, नगर, अथवा जीवन, देश ही कुछ न रहा। किसी राजवर्ग के सर्वथा वशीभूत हो के रहना गुलाम का काम है। वैसे ही राज-परिषद का नाश कर देने की चेष्टा करना मूर्ख, अदूरदर्शी अथवा आततायी का काम है।

सच्चा बुद्धिमान, वास्तविक वीर वा पुरुषरत्न हम उसको कहेंगे जो इन छहों को पूरे बल में रख के इनसे अपने अनुकूल काम ले ! यदि किसी ने बल नाशक औषधि आदि के सेवन से पुरुषार्थ का और "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" का दृढ़ विश्वास करके कामनाओं का नाश कर दिया और यावत् सांसारिक संबंध छोड़ के सबसे अलग हो रहा तो कदाचित षड्वर्ग का उसमें अभाव हो जाय ! यद्यपि संभव नहीं है पर उसका जीवन मनुष्य जीवन नहीं है। धन्य जन वे हैं जो काम शक्ति को अपनी स्त्री के पूर्ण सुख देने और बलिष्ठ संतान के उत्पन्न करने के लिए रक्षण और वर्धन करने में लगावें। कामना अर्थात् प्रगाढ़ इच्छा प्रेममय परमात्मा के भजन और देशहित की रक्खें।

क्रोध का पूर्ण प्राबल्य अपने अथच देश भाइयों के दुःख अथच दुर्गुण पर लगा दें। (अर्थात् उन्हें कच्चा खा जाने की नियत रक्खें) लोभ सद्विद्या और सद्गुण का रक्खें। मोह अपने देश, अपनी भाषा और अपनेपन का करें। जान जाय पर इन्हें न जाने दें। अपने आर्यत्व, अपने पूर्वजों के यश का पूर्ण मद (अहंकार) रक्खें। इसके आगे संसार को तुच्छ समझें, दूसरे देश वालों में चाहे जैसे उत्कृष्ट गुण

हों उनको कुछ न गिन के अपने में ऐसे गुण संचय करने का प्रयत्न करें कि दूसरों के गुण मंद न पड़ जायँ। मात्सर्य का ठीक 2 बर्ताव यह है। जो ऐसा हो जाय वही सच्चा युवक, सच्चा जवान और सच्चा जवाँमर्द है। उसी की युवावस्था (जवानी) सफल है। पाठक ! तुम यदि बालक वा वृद्ध न हो तो सच्चा जवान बनने का शीघ्र उद्योग करो।

खं० 4, सं० 4 (15 नवंबर ह० सं० 3)

नारी

यह शब्द जितने अर्थ रखता है उन सबमें यही प्रभाव है कि सदा सावधान रहो। ठीक नियम में रखो तौ तो भलीभलाई और जहाँ तनक असावधानता हुई कि जीवन को दुखमय कर दिया। एक इस नाम का तुच्छ शाक (नारी का साग) है, जिसमें गुण तो यह है कि कैसा ही अफीम (अहिफेन) के विष से विकल हो, जहाँ थोड़ा सा उसका रस पिलाया कि सब दुख दूर। दीन निर्धनों के लिए सुलभ स्वादिष्ट खाजी। अकाल मृत्यु से मरे हुए असंस्कृत लोगों की नारायण बलि में उपयोगी। पर यदि उक्त गुणों पर भूल के कुछ दिन खाइए तो बात रोगों का लक्ष्य (निशान) बना दे। ऐसे ही घर और सड़कों की नारी (नाली, मोरी) नित्य शुद्ध होती रहें तो दुर्गंध पदार्थों को दूर करें। यदि कुछ भी उनकी ओर से असावधानता हो तो क्षण-भर में गंध के मारे माथा भिन्ना दें। और लीजिए, हाथ की नारी (नाटिका) ठीक समता पर चली जाय तभी तक कुशल है, नहीं तो चिता पर न सुलावै तो खटिया सेवन तो अवश्य ही करावे।

अर्द्धांगिनी नारी (स्त्री) का तो कहना ही क्या है, संसार की उत्पत्ति, गृहस्थी का सुख, रसिकों का प्रमोद इन्हीं के हाथ में हैं। पर परमात्मा न करे कहीं रुक्माबाई ऐसी हों कि सात पीढ़ी की नाक कटावैं। कर्कशा हों तो जीना भारी कर दें। अरबी में नारी कहते हैं अग्नि संबंधी को, उसका भी अर्थ अपसरा (परी) और नर का संबंधी दोनों हो सकते हैं। चाहे हृदय संलग्न होने पर सुखदायिनी समझ लो, चाहे वियोग द्वारा संतप्त कारिणी मान लो, चाहे मुसलमानों और क्रिस्तानों के मतानुसार सदा के लिए आत्मा फूँकने वाली ठहरा लो !

हेर फेर के सिद्धांत यही निकलेगा कि यह न हो तो हमारा निर्वाह न हो या यों कहो कि न हो तो अल्ला मियाँ की कुदरत को वर्तमान कानून बदलनी पड़े। हों और नियमबद्ध न हों तो हमारी जीवन यात्रा नर्कमय हो जाय। इसलिए यही उचित है कि जैसे बने वैसे हिकमत के साथ इनसे बर्ताव रखें। न का अर्थ है नहीं और अरि कहते हैं शत्रु को, भावार्थ यह हुआ कि न यह शत्रु हैं न इनसे अधिक कोई शत्रु है। जहाँ तक हो इन्हें स्वतंत्रता न सौंपो। अच्छे वैद्यों के द्वारा, पथ्यापथ्य विचार द्वारा, म्यूनिसिप्यलिटी द्वारा, सदुपदेश द्वारा नारी मात्र को अनुकूल रखना ही श्रेयस्कर है।

तनिक भी व्यतिक्रम पाओ तो वैद्यराज से कहो, महाराज नारी देखिए, मुहल्ले के मेहतर से कहो कि चिलम पीने को यह पैसा लो और नारी अभी साफ करो, घर की लक्ष्मी से कहो ना री ! ऐसा उचित नहीं ! कोई अफीम खा गया हो तो उसके संबंधी से कहो कि नारी का साग पिलाना चाहिए । इसी प्रकार सदैव नारी का विचार और भगवान मदनारी (कामदेव के नाशक शिव) का ध्यान रखा करो, नहीं महाअनारी हो जाओगे ।

खं० 4, सं० 4 (15 नवंबर ह० सं० 3)

पतिब्रता

इस नाम का हमारे यहाँ सदा से बड़ा गौरव है । हमारे वेद-शास्त्र-पुराणों में सहस्रों वचन पतिब्रताओं की महिमा के हैं । हमारी परम पूज्या-जगदंबा श्री पार्वतीजी, श्री सीताजी, श्री अनुसूया जी इत्यादि का बड़ा महत्त्व विशेषतः इसी कारण है कि वे पतिब्रता थीं । निश्चय स्त्री के लिए पतिव्रत से बढ़ के कोई धर्म नहीं है, न पति से बढ़ कर कोई देवता है । अद्यापि साधारण स्त्रियाँ बोला करती हैं कि "हमार पति परमेश्वर आहीं ।" सच तो यों है कि जिस स्त्री ने मन बचन कर्म से सत्य और सरलता के साथ पति प्रेम का निर्वाह किया वुह महत्पूजनीया है । दक्ष प्रजापति की पुत्री सती देवी का चरित्र परम प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने प्यारे प्राणनाथ भगवान भोलानाथ का अपमान देख के पिता का, देवताओं का, रिषियों का, अपने प्राण का भी कुछ सोच संकोच न किया । फिर क्यों न हम लोग सती शब्द को पतिब्रता का पर्याय समझें ।

भारत की पूर्णोन्नति का एक बड़ा भारी कारण यह भी था कि स्त्रियाँ बहुधा पतिब्रता होती थीं । संसार रूपी रथ के दोनों पहिए स्त्री और पुरुष हैं और व्यभिचार को तो व्यभिचारी लोग भी शारीरिक, मानसिक, आत्मिक और सामाजिक अवनति का मूल मानते हैं । फिर जिस देश में स्त्रियाँ विशेषतः पतिब्रता हों और पुरुष एकस्त्रीव्रत हों, उस देश की उन्नति में क्या बाधा हो सकती है । जिस गाड़ी के दोनों पहिए दृढ़ हों, उसके चलने में भी कोई अड़चन है ?

प्रेम में यह सामर्थ्य है कि प्रेम पात्र कैसा ही हो, पर प्रेमिका की दृढ़चित्तता से वह अवश्य प्रेमिका के रंग ढंग का हो जाता है । पुरुष कैसा ही कुकर्मी और कर्कश हो पर स्त्री सच्ची पतिब्रता हो तो पुरुष निर्लज्ज व्यभिचारी न रहेगा । ऐसे ही पुरुष सचमुच स्त्री से प्रीति रक्खें तो स्त्री का सुधर जाना असंभव नहीं है । इसी से कहते हैं कि पतिब्रता स्त्री दोनों कुल को सुशोभित करती है । जिस घर में पतिब्रता हो वह घर, वह कुल, वह देश धन्य है !

चित्तौर का राजवंश भारत के इन गिरे दिनों में भी इतना प्रतिष्ठित है, इसका मुख्य कारण यही है कि इस घोर कलिकाल में भी वहाँ सहस्रों शूर और सती थीं । इस जमाने में हम देखते हैं कि शूरता

का तो प्रायः लोप ही सा हो गया है, पर सती भी बहुत कम रह गई हैं, बरंच न होने के बराबर कह सकते हैं। सती से हमारा यह प्रयोजन नहीं है कि खामखाह पति के साथ जल जाना चाहिए।

मुख्य सती वुह है जो पति के विरह रूपी अग्नि में ऐसा दुख अनुभव करे कि जीते जी मर जाने के समान। पर हाय ! एक वुह दिन थे कि हमारे यहाँ सतीत्व उस पराकाष्ठा को पहुँचा हुवा था कि जीते जल जाना तक रिवाज हो गया था, और एक वह दिन है कि पतिब्रता ढूँढ़े मिलना कठिन है। हम यह तो नहीं कहते कि सारी स्त्रियाँ रुक्माबाई की साथिनी हो रही हैं, पर इसमें भी संदेह नहीं है कि पति के दुख सुख में अपना सचमुच दुख सुख समझने वाली, पति की प्रतिष्ठा का पूरा ध्यान रखने वाली, पति से सच्चा स्नेह निभाने वाली स्त्रियाँ भी हजारों में दस ही पाँच हों तो हों !

इसके कई कारण हैं। एक तो यही कि स्त्री शिक्षा की चाल उठ सी गई है। यदि कोई 2 लोग पढ़ाते भी हैं तो मेमों से या मेम दासियों से। भला वे ईसा के गीत और लिबरटी सिखावेंगी अथवा पतिब्रत ! दूसरे थोड़ा बहुत पढ़ भी गईं तो घर का ठीक नियम नहीं है। बहुत सी दो 2 चार 2 पैसे की ऐसी पुस्तकें छप गई हैं जो पुरुषों के लिए तो खैर, जी बहलाने को अच्छी सही, पर स्त्रियों के लिए हानिकारक हैं। बाबू साहब बाजार से ले आए, घर में डाल दिया। बबुआइन साहिबा ने खोल के पढ़ा तो 'जोबन का माँगे दान कान्ह कुंजन में।' भला कौन आशा करें ! तीसरे, मरदों को तो सभाएँ भी हैं, अखबार हैं, पुस्तकें भी हैं, पर स्त्रियों के लिए उपदेश का कोई चाल ही नहीं है।

हम आशा करते हैं कि श्रीमती हेमन्तकुमारी देवी (रतलामवासिनी) अपनी 'सुगृहिणी' नामक पत्रिका में पतिब्रत पर अधिक जोर देंगी जिसमें सर्वसाधारण स्त्रियों को वास्तविक लाभ हो। फोटोग्राफी आदि की अभी हमारी गृहदेवियों के लिए अधिक आवश्यकता नहीं है। नवीन ग्रंथकारों को भी चाहिए कि जहाँ और बहुत सी बातें लिखते हैं, कभी 2 इधर भी झुकते रहें। व्याख्यानदाता लोग कभी 2 स्त्रियों को भी परदे के साथ स्त्री धर्म की शिक्षा दिया करें। यही सब पतिब्रत प्रचार की युक्तियाँ हैं।

इधर हमारे गृहस्थ भाइयों को समझना चाहिए कि दोनों हाथ ताली बजती है। उन्हें पतिब्रता बनाने के लिए इन्हें भी स्त्रीब्रत धारण करना होगा। एक बात और भी है कि स्त्रियाँ अभी विशेषतः मूर्ख हैं। अतः साम, दाम, दंड, भेद से काम लेना ठीक होगा। निरे न्याय और धर्म से वे राह पर न आवेंगी। ऐसी युक्ति से बर्तना चाहिए कि वे प्रसन्न भी रहें और कुछ डरती भी रहें। तभी प्रीत करेंगी। कनौजियों की तरह निरी डंडेबाजी से वे केवल डर सकती हैं, प्रीति न करेंगी। अगरवालों, खत्रियों की भाँति निरी स्वतंत्रता सौंप देने से भी वे सिर चढ़ेंगी।

अतः भय और प्रीति दोनों दिखाना, स्वतंत्र, परतंत्र दोनों बनाए रहना। मौके 2 से उन्हें अनुमति और शिक्षा भी देते रहना, और कभी 2 उनकी सलाह भी लेते रहना। बस इन उपायों से संभव है कि भारत कन्याएँ पुनः पतिब्रत की ओर झुकने लगेंगी और पतिब्रताओं के प्रभाव से फिर हमारी सौभाग्यलक्ष्मी की वृद्धि होगी।

खं० 4, सं० 12 (15 जुलाई ह० सं० 4)

स्त्री

संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसमें केवल गुण ही गुण अथवा दोष ही दोष हों । घी और दूध स्वादु और पुष्टि के लिए अमृत के समान हैं, पर ज्वरग्रस्त व्यक्ति के लिए महा दुखदायक हैं । संखिया प्रत्यक्ष विष है पर अनेक रोगों के लिए अति उपयोगी है । इस विचार से जब देखियेगा तब जान जाइयेगा कि साधारण लोगों के लिये स्त्री मानो आधा शरीर है । यावत सुख दुखादि की संगिनी है । संसार पथ में एक मात्र सहायकारिणी है । पर जो लोग सचमुच परोपकारी हैं, महोदारचरित हैं, असामान्य हैं, जगत बंधु हैं, उन्नतिशील हैं, उनके हक में मायाजाल की मूर्ति कठिन परतंत्रता का कारण और घोर विपत्ति का मूल स्त्री ही है ।

आपने शायद देखा हो कि धोबियों का एक लौह यंत्र होता है जिसके भीतर आग भरी रहती है । जब कपड़ों को धोकर कलप कर चुकते हैं तब उसी से दबाते हैं । उस यंत्रविशेष का नाम भी स्त्री है । यह क्यों ? यह इसी से कि धोये कपड़े के समान जिनका चित्त जगत् चिंता रूपी मूल से शुद्ध है उनके दबाने के लिये उनकी आर्द्रता (तरी वा सहज तरलता) दूर करने के लिये लोहे सरिस कठोर अग्निपूर्ण पात्र सदृश उष्ण परमेश्वर की माया, अर्थात् दुनिया भर का बखेड़ा, फैलाने वाली शक्ति स्त्री कहलाती है ।

अरबी में नार कहते हैं अग्नि को, विशेषतः नरक की अग्नि को और तत्संबंधी शब्द है नारी । जैसे हिंदुस्तान से हिंदुस्तानी बनता है वैसे ही नार से नारी होता है, जिसका भावार्थ यह है कि महादुख रूपी नर्क का रूप गृहस्थी की सारी चिंता, सारे जहान का पचड़ा, केवल स्त्री ही के कारण ढोना पड़ता है । फारसी में जन (स्त्री) कहते हैं मारने वाले को—राहजन, नकबजन इत्यादि । भला अष्ट प्रहर मारने वाले का संसर्ग रख के कौन सुखी रहा है । एक फारस के कवि फरमाते हैं, 'अगर नेक बूदे सरंजामे जन, मजन नाम न जन नामें जन', अर्थात् स्त्रियों (स्त्री संबंध) का फल अच्छा होता तो इनका नाम मज्न होता (मा मारय) ।

अंग्रेजी में वीम्येन (स्त्री) women शब्द में यदि एक ई (E अक्षर) और बढ़ा दें तो Woe (वो) शब्द का अर्थ है शोक और म्येन (Man) कहते हैं मनुष्य को । जिसका भावार्थ हुवा कि मनुष्य के हक में शोक का रूप । धन्य ! दुष्टा कटुभाषिणी कुरूपा स्त्रियों की कथा जाने दीजिये । उनके साथ तो प्रतिक्षण नर्क जातना हई है, यदि परम साध्वी महा मृदुभाषिणी अत्यंत सुंदरी हो तौ भी बंधन ही है । हम चाहते हैं कि अपना तन, मन, धर्म, सर्वस्व परमेश्वर के भजन में, राजा के सहाय में, संसार के उपकार में निछावर कर दें । पर क्या हम कर सकते हैं ? कभी नहीं ! क्यों ? गृहस्वामिनी किसको देख के जिएँगी । वे खायँगी क्या ? हमारा जी चाहता है कि एक बार अपनी राजराजेश्वरी का दर्शन करें ! देश देशांतर की सैर करें ! घर में रुपया न सही सब बेंच-खोंच के राह भर का खर्च निकाल लेंगे । पर मन की तरंगें मन में ही रह जाती हैं, क्योंकि घर के लोग दुख पावेंगे । हम पढ़े-लिखे लोग हैं । प्रतिष्ठित कुल के भये उपजे हैं । एक तुच्छ व्यक्ति की नौकरी करके बातें कुबातैं सुनेंगे । स्थानान्तरण में चले जायँगे ? दो चार रुपए की मजदूरी करके खायँगे । गुलामी तो न करनी पड़ेगी । पर खटला लिए-लिए कहाँ फिरेंगे ? घर वाली को किसके माथे छोड़ जायँगे ? यही सोच साच के जो पड़ती है सहते हैं ।

इन सब तुच्छताओं का कारण स्त्री है जिसके कारण हम गिरस्त कहाते हैं, अर्थात् गिरते-गिरते अस्त हो जाने वाला ? भला हम अपनी आत्मा की, अपने समाज की उन्नति क्या करेंगे ! एक रामायण में लिखा है कि जिस्समय रावण मृत्यु के मुख में पड़े थे, 'अब मरते हैं, तब मरते हैं' को लग रही थी, उस समय भगवान रामचंद्रजी ने लक्ष्मणजी से कहा कि रावण ने बहुत दिन तक राज्य किया है, बहुत विद्या पढ़ी है, उनके पास जाओ । यदि वे नीति की दो-चार बातें बतला देंगे तो हमारा बड़ा हित होगा । हमें अभी अयोध्या चल के राज्य करना है । लक्ष्मणजी भ्रातृचरण की आज्ञानुसार गये और अभीष्ट प्रकाश किया । रावण ने उत्तर दिया कि अब हम परलोक के लिये बद्धपरिकर हैं । अधिक शिक्षा तो नहीं दे सकते पर इतना स्मरण रखना कि तुम्हारे पिता दशरथ महाराज बड़े विद्वान और बहुद्रष्टा थे, उन्होंने कैकेयी देवी का वचन मानने के कारण पुत्र वियोग और प्राण हानि सही ! और हम भी बड़े भारी राजा थे पर मंदोदरी रानी की बात कभी नहीं मानते थे । उसका प्रत्यक्ष फल तुम देख ही रहे हो ।

सारांश यह है कि स्त्री को मुँह लगाना भी हानिजनक है और तुच्छ समझना भी मंगलकारक नहीं है । हमारे पाठक समझ गये होंगे कि स्त्री संबंध कितना कठिन है । यदि हम इन्हीं के वश में पड़े रहें तो किसी प्रकार कल्याण की आशा नहीं है । जन्म भर नोन तेल लकड़ी की फिक्र में दौड़ना होगा । और यदि छोड़ भागे तौ भी लोक में निन्दास्पद और परलोक में पापभागी होंगे ।

इससे उत्तम यही है कि विवाह केवल वर और कन्या ही की इच्छा से होना ठीक है नहीं तो दोनों की जीवन यात्रा में बाधा पड़ना संभव है । ईसाई और मुहम्मदीय ग्रंथ में लिखा है कि ईश्वर ने आदम को अति पवित्र और प्रसन्न उत्पन्न किया और स्वर्ग की वाटिका में रक्खा था परंतु जब उसे अकेला समझकर हौवा को साथ कर दिया उसके थोड़े ही दिन पीछे आदम शैतान से धोका खाया, ईश्वर की आज्ञा उलंघन की, और बैकुंठ से निकलकर दुनियाँ की हाव 2 में पड़े । जब परमपिता जगदीश्वर की इच्छा से विवाह का परिणाम यह है तो साधारण माता पिता की अनुमति से ब्याह होने पर कौन अच्छे फल की संभावना है ?

जगत में लाखों मनुष्य ऐसे हैं कि यदि उन्हें घर के धंधों से छुट्टी मिले तो पृथ्वी का बहुत बड़ा भाग मंगलमय कर दें । पर भवबंधन में पड़े हुए अपना जीवन नष्ट कर रहे हैं । ऐसों के लिए स्त्री क्या है ? एक स्वेच्छाचारी सिंह के लिये हाथ भर की जंजीर जो आधी उस अभागी के गले में बँधी हो और आधी खूँटा में । हमारे रिषि लोग बहुधा अविवाहित थे । महात्मा मसीह भी अविवाहित थे । आज उनके नाम से लाखों आत्माओं का उपकार हो रहा है । यदि वे भी कुटुम्ब की हाव 2 में लगे रहते तो इतना महत्त्व कभी न प्राप्त करते ।

सीता जी के समान स्त्रियाँ पूजनीया हैं जो पति प्रेम निभाने को बरसों के कठिन दुख को सुख से शिरोधार्य कर लें, राज्य सुख को पतिमुखदर्शन के आगे तुच्छ समझें । सती जी सी गृहदेवी माननीया हैं जो पति का अपमान न सह सकें चाहे सगे बाप का मुलाहिजा टूट जाय, चाहे प्राण तक जाते रहें । पर ऐसी गृहेश्वरी होती कहाँ हैं सतयुग त्रेतादि में भी एक ही दो थीं, अब तो कलिकाल है ! यदि मान लें कि कदाचित् कहीं कोई ऐसी निकल आवें तो उस पुरुष का जीवन धन्य है ! वुह चाहे जैसा दीन हीन हो पर आत्मपीड़ा से बचा रहेगा और जो लोग साम दाम दंड भेद से अपनी महा अनुकूला बना सकें वुह भी धन्य हैं ! पर वह दोनों बातें असंभव न हों तो महा कठिन हई हैं । पहली बात तो 'राम कृपा बिन सुलभ न सोई' । दूसरी बात के आसार भारत की वर्तमान दशा से कोसों दूर देख पड़ते हैं । न

जाने इतने देशभक्त, व्याख्यानदाता, इतने पत्र संपादक स्त्रियों के सुधार में बरसों से क्यों नहीं सन सकते ।

पुरुषों के लिए सब कहीं पाठशाला, इनके लिए यदि हैं भी तो न होने के बराबर । यदि आज सब लोग इधर झुक पड़ें तो शायद कुछ दिन में कुछ आशा हो, नहीं आज दिन के देखे तो हमें यही जान पड़ता है कि अर्धांगी स्त्री का नाम इसलिए रक्खा गया है कि जैसे अर्धांगी नामक बीमारी से स्थूल शरीर आधा किसी काम का नहीं रहता वैसे ही इस अर्धांगी के कारण मन, बुद्धि, आत्मा, स्वातंत्र्य, उदारचित्ततादि आधी (नहीं, बिलकुल) निकम्मी हो जाती है ! मनुष्य केवल भय निद्रादि के काम का रह जाता है, सो भी निज बस नहीं ।

खं० 5 सं० 1 और 2 (14 अगस्त, सितंबर ह० सं० 4)

खुशामद

यद्यपि यह शब्द फारसी का है पर हमारी भाषा में इतना घुलमिल गया है कि इसके ठीक भाव का बोधक कोई हिंदी का शब्द ढूँढ़ लावे तो हम उसे बड़ा मर्द गिनें । 'मिथ्या प्रशंसा' 'ठकुरसुहाती' इत्यादि शब्द गढ़े हुए हैं । इनमें वुह बात ही नहीं पाई जाती जो इस मजेदार मोहनी मंत्र में है । कारण इसका यह जान पड़ता है हमारे पुराने लोग सीधे, सच्चे, निष्कपट होते रहे हैं । उन्हें इसका काम बहुत कम पड़ता था । फिर ऐसे शब्द के व्यवहार का प्रयोजन क्या ? जब से गुलाब का फूल, उरदू की शीरीं ज़बान इत्यादि का प्रचार हुवा तभी से इस करामाती लटके का भी जौहरी खुला । आहाहा ! क्या कहना है ! हुज़ूर खुश हो जायँ और बंदे को आमद हो । यारों के गुलछर्रे उड़ें । फिर इसके बराबर सिद्धि और काहे में है ?

आप चाहे जैसे कड़े मिजाज हों, रुक्खड़ हों, मक्खीचूस हों, जहाँ हम चार दिन झुक 2 के सलाम करेंगे, दौड़ 2 आपके यहाँ आवैंगे, आपकी हाँ में हाँ मिलावेंगे, आपको इंद्र, वरुण, हातिम, करण, सुर्य्य, चंद्र, लैली, शीरीं इत्यादि बनावेंगे, आपको जमीन पर से उठा के झंडे पर चढ़ावेंगे, फिर बतलाइए तो आप कब तक राह पर न आवेंगे ? हम चाहे जैसे निर्बुद्धि, निकम्मे, अविद्वान, अकुलीन क्यों न हों, पर यदि हम लोकलज्जा, परलोक भय, सबको तिलांजली दे के आप ही को अपना पिता, राजा, गुरु, पति, अन्नदाता कहते रहेंगे तो इसमें कुछ मीन मेख नहीं है कि आप हमें अपनावेंगे और हमारे दुख दरिद्र मिटावेंगे । अजी साहब, आप तो आप ही हैं, हम दीनानाथ, दीनबंधु, पतितपावन कह 2 के ईश्वर तक को फुसला लेने का दावा रखते हैं, दूसरे किस खेत की मूली हैं ।

खुशामद वुह चीज है कि पत्थर को मोम बनाती है । बैल को दुह के दूध निकालती है । विशेषतः दुनियादार, स्वार्थपरायण, उदरंभर लोगों के लिये इससे बढ़ के कोई रसायन ही नहीं है । जिसे यह

चतुराक्षरी मंत्र न आया उसकी चतुरता पर छार है, विद्या पर धिक्कार है। कोई कैसा ही सज्जन, सुशील, सहृदय, निर्दोष, न्यायशील, नम्रस्वभाव, उदार, सद्‌गुणागार, साक्षात् सतयुग का औतार क्यों न हों पर खुशामद न जानता हो तो इस जमाने में तो उसकी मट्टी ख्वार है, मरने के पीछे चाहे भले ही ध्रुवजी के मुकुट का मणि बनाया जाय। और जो खुशामद से रीझता न हो उसे भी हम मनुष्य नहीं कह सकते। पत्थर का टुकड़ा, सूखे काठ का कुंदा या परमयोगी, महाबैरागी कहेंगे। एक कवि का वाक्य है कि, "बार पचै माछी पचै पत्थर हू पचि जाय, जाहि खुशामद पचि गई ताते कछु न बसाय'।

सच है खुशामदी लोगों की बातें और घातें ही ऐसी होती हैं कि बड़े-बड़ों को लुभा लेती हैं। सब जानते हैं कि यह अपने मतलब की कह रहा है, पर लच्छेदार बातों के मायाजाल में फँस बहुधा सभी जाते हैं। क्यों नहीं ! एक लेखे पूछो तो खुशामदी भी एक प्रकार के ऋषि मुनि होते हैं। अभी हमसे कोई जरा सा नखरा करे तो हम उरद के आटे की भाँति ऐंठ जायँ। हमारे एक उजड्ड साथी का कथन ही है कि 'वरं हलाहल पानं सद्यः प्राण हरं विषम्। नहि दुष्ट धनाढ्यस्य भूभृङ्ग कुटिलाननः'। पर हमारे खुशामदाचार्य्य महानुभाव सब तरह की निंदा, कुबातें सहने पर भी हाथ ही जोड़ते रहते हैं। भला ऐसे मन के जीतने वालों के मनोरथ क्यों न फलें। यद्यपि एक न एक रीति से सभी सबकी खुशामद करते हैं, यहाँ तक कि जिन्होंने सब तज हर भज का सहारा करके बनवास अंगीकार किया है, कंद मूल से पेट भरते हैं, भोजपत्रादि से काया ढँकते हैं उन्हें भी गृहस्थाश्रम की प्रशंसा करनी पड़ती है फिर साधारण लोग किस मुँह से कह सकते हैं हम खुशामद नहीं करते। बरंच यह कहना कि हमें खुशामद करनी नहीं आती यह आला दरजे की खुशामद है।

जब आप अपने चेले को, अपने नौकर को, पुत्र को, स्त्री को, खुशामदी को नाराज देखते हैं और उसे राजी न रखने में धन, मान, सुख, प्रतिष्ठादि की हानि देखते हैं तब कहते हैं क्यों ? अभी सिर से भूत उतरा है कि नहीं ? अक्किल ठिकाने आई है कि नहीं ? यह भी उलटे शब्दों में खुशामद है। सारांश यह कि खुशामद से खाली कोई नहीं है पर खुशामद करने की तमीज हर एक को नहीं होती। इतने बड़े हिंदुस्तान भर में केवल चार छः आदमी खुशामद के तत्ववेत्ता हैं। दूसरों की क्या मजाल है कि खुशामदी की पदवी ग्रहण कर सकें। हम अपने पाठकों को सलाह देते हैं कि यदि अपनी उन्नति चाहते हो तो नित्य थोड़ा 2 खुशामद का अभ्यास करते रहें। देशोन्नति फेशोन्नति के पागलपन में न पड़ें नहीं तो हमारी ही तरह भकुआ बने रहेंगे।

खं० 5 सं० 5 (15 दिसंबर ह० सं० 4)

भलमंसी

यदि भलमंसी यही है कि नाना भाँति के क्लेश और हानि सहना पर पुरानी लकीर के बाहर एक अंगुल

भी न होना, बिरादरी में दो दिन की वाह 2 के लिये ऋण काढ़ के सैकड़ों की आतिशबाजी छिन भर में फूँक के संतान के माथे कर्ज मढ़ जाना, केवल नाई और पुरोहित की प्रसन्नता के लिये साठ बरस और आठ बरस के वर कन्या की जोड़ी मिलाना तथा दोनों का जन्म नशाना, पाँच बरस की विधवा का यौवनकाल में व्यभिचार एवं भ्रूणहत्या टुकुर 2 देखते रहना, बरंच छिपाने का यत्न करना, पर विधवा विवाह का नाम लेने वालों से मुँह बिचकाना, भूखों मर जाना पर अपना पराया धन लगा के छोटा मोटा धंधा तथा दश पाँच की नौकरी न करना, लड़कियों को जवान बिठला रखना, उनका मनोवेदनाजनित शाप सहना पर बराबर वाले अथवा कुछ अठारह बीस बिशुध वंशज के साथ विवाह न करना, दहेज की दुष्ट प्रथा के मारे नई पौध की उन्नति मट्टी में मिलाना, बंध बांधव होटलों में खाया करें, विधर्मिनी स्त्रियों के मुँह में मुँह मिलाया करें अथवा कोटि 2 कुकर्म कर जेल में जाया करें, कुछ चिंता नहीं, पर विद्या पढ़ने और गुण सीखने के लिये विलायत हो आवैं तो उन्हें जाति में न मिलाना । क्यों ? रीति नहीं है !

ऐसा करने से नाम धरा जायगा । पुरखों की नाक कटैगी । भलमंसी में बट्टा लगेगा । न जाने कोई रीत पहिले पहिल किसी के चलाए बिना आपसे आप चल गई थी, या आपका अभी तक नाम ही न धरा गया, अथवा ऊपर कहे हुए कामों के अंत में नाम धरा ही न जायगा, वा पुरखों की नाक ऐसी मोम की नाक अथच ककड़ी खीरा की बतिया है, या भलमंसी कोई ऐसा बड़ा परमेश्वर से भी चार हाथ ऊँचा देवता है जिसके डर से पाप को पुन्य, हानि को लाभ, दुःख को सुख कह रहे हो । एक कल्पित शब्द के पीछे बुद्धि की आँखों में पट्टी बाँधना, अपने हाथों पाँव में कुल्हाड़ी मारना, देख सुन के, सोच समझ के, जान बूझ के, अनर्थ करना और दुःख पर दुःख सहते रहना ही यदि भलमंसी है तो ऐसी भलमंसी को दूर ही से नमस्कार है । पास आवे तो जूती है, पैजार है, उस पर और उसके गुलामों पर धिक्कार है ।

हमें तथा हमारे मित्रों को परमेश्वर भलमंसी से दूर रक्खे । मनुष्य को चाहिए अपना भला बुरा बिचार के, देशकाल की दशा देख के, अपना तथा अपने कुटुंब, जाति, देश का जैसे बने वैसे हितसाधन करे । लोक परलोक की लज्जा, चिंता, भय को लात मार के, उल्टा सीधा, छोटा मोटा, जैसा आ पड़े वैसा काम करके, अपना और अपने लोगों का धन, बल, विद्या, वैभव इत्यादि बढ़ाते रहना ही मनुष्य का परम कर्तव्य, मुख्य धर्म और सच्ची भलमंसी है । इतिहास हमें सिखलाता है कि जिन लोगों ने अपनी दशा को उन्नत किया हैं उन्होंने ऐसा ही किया है ।

कविवर राजर्षि भर्तृहरि जी भी ऐसी ही आशा करते हैं– 'क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि चपर्यंक शयनं, क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदन रुचिः । क्वचित् कंथाधारी क्वचिदपि च दिव्यांबरधरो मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम्' नीतिविदांबर चाणक्य जी भी यही कहते हैं "अपमानंपुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्टतः । स्वकार्य्यं साधयेद्धीमान् कार्य्यभ्रंशोहिं मूर्खता" । बस वास्तविक भलमंसी यही है । बरंच ऐसे ही बर्ताव से भलमंसी उत्पन्न होती है ।

इसके अतिरिक्त सब भलेमानस सदा दिन 2 दूनी दीनता के दास होते हैं और यार लोग चपत मार के, टोपी उतार के, उनकी भलमंसी झाड़ते रहे हैं । जो आज भलेमानसों के देवता, पितर, ऋषि, मुनि, पीर, पैगंबर, मान्य पूज्य कहलाते हैं वे यदि अपने समय में आज कल की भाँति भलमंसी निभाते तो कभी यह गौरव न पाते । इससे हमारे पाठकों को उचित है कि भलमंसी की ममता छोड़ें, शेखचिल्ली के बिचार समझ के उससे मुँह मोड़ें और येन केन प्रकारेण स्वार्थ साधन का आराधन करें । यही भलमंसी है,

भलमंसी चाहो तो स्मरण रक्खो कि भलमंसी बलमंसी कुछ नहीं, अपने काम से काम रखना ही भलमंसी है ।

खं० 6 सं० 2 (15 सितंबर ह० सं० 5)

पंचायत

ऐसा कोई काम नहीं है जो भला अथवा बुरा कहने के योग्य नहीं । यदि कोई इस सिद्धांत के विरुद्ध कह बैठे कि बहुत से काम ऐसे हैं जिनमें न किसी की हानि होती है न लाभ, न दुःख होता है न सुख, उन्हें भला वा बुरा क्योंकर कह सकते हैं । हाँ, निरर्थक अथवा निष्फल कह लीजिए । तो उत्तर यह होगा कि भलाई बुराई दो प्रकार की होती हैं, एक वे जिनका प्रभाव केवल कर्ता ही पर समाप्त हो जाता है, दूसरी वे जो दूसरों के सुख दुःखादि का हेतु होती हैं ।

इस रीति से विचार करने से निश्चित होगा कि निरर्थक कार्य यद्यपि दूसरों पर प्रभाव नहीं डालते पर कहने वाले का समय अवश्य नष्ट करते हैं और दूसरों की दृष्टि में उसकी तुच्छता, निर्बुद्धिता और विचार शून्यता निश्चय प्रगट करते हैं । अतः वे भी बुरे ही कामों की गणना में हैं । फिर कैसे कहा जा सकता है कि भलाई और बुराई के अतिरिक्त कोई तीसरा विशेषण भी है जो किसी कार्य अथवा व्यक्ति के लिए निर्धारित हो । इसी प्रकार ऐसा कोई मनुष्य अथवा समुदाय भी नहीं है जो भलाई और बुराई से न्यारा रह सके । जिन्हें लोग कहा करते हैं कि वे किसी के भले बुरे में नहीं रहते, उनका भी चरित्र विचार के देखिए तो या तो यह पाइएगा कि संसार में रह के किसी की सहायता लेने वा किसी को साथ देने की योग्यता से रहित हैं अतः व्यर्थजीवी हैं, पशुओं की भाँति केवल आहार निद्रादि में जीवन बिताते हैं, अतः बुराई करते हैं अथवा जगज्जाल से अलग रह के भगवान के जीवित संबंध में दत्तचित रहते अस्मात् अपनी आत्मा के लिए सर्वोच्च श्रेणी की भलाई कर रहे हैं ।

सारांश यह कि, 'विधि प्रपंच गुण औगुण साना' के अनुसार सभी भलाई बुराई दोनों में बस रहे हैं । शुद्ध निर्विकार अकेला परब्रह्म है और ऐसा कोई कभी कहीं नहीं जनमा जिसने जन्म भर भलाई ही अथवा बुराई ही की हो । जिन्हें आप बड़ा भला मनुष्य कहते हैं वे भी कभी 2 कोई ऐसी बुराई कर उठते हैं जिसको 'सुनि अघ नरकहु नाक सकोरी' का नमूना बनाना अत्युक्ति नहीं है । इसी प्रकार जो कुमानुस कहलाते हैं वे कभी-कभी भारी भलमंसी का उदाहरण बन जाते हैं । ऐसी दशा में यदि भलाई के लिए प्रशंसा का पुरस्कार अथवा बुराई के निमित्त दंड अथवा तिरस्कार न दिया जाय तो किसी को पुन्य कार्य में उत्साह एवं दुष्कर्म में अरुचि उपजने की संभावना न रहे और स्वतंत्राचार इतना फैल जाय कि मानव मंडली किसी बात में सँभलने के योग्य रही न सके । क्योंकि जिन कामों को बुद्धिमानों ने बुरा ठहराया है वे बहुधा ऐसे प्रलोभनपूर्ण और स्वल्पारंभ होते हैं कि अनेक लोगों के चित्त लालच में लगा के अपना

वशवर्ती कर लेते हैं और अंत को दुःख दुर्दशा दुर्बलता के गढ़े में ऐसा दबा देते हैं कि उकसना कठिन् हो जाता है ।

इसी से पूर्वकाल के लोकहितैषी दूरदर्शी महात्माओं ने यह रीति निकाली थी कि व्यवहारकुशल लोग समय 2 पर एकत्रित हो के मानव जाति की साधारण जनता के उचितानुचित कृत्यों का यथोचित विचार एवं निर्धार करते रहा करें जिसमें समाज के मध्य अच्छा काम करने वालों का सनमान और दुराचारियों का अपमान और एतद्वारा भलाइयों की बृद्धि तथा बुराइयों का ह्रास होता रहे, जो प्रत्येक जाति के सुख सौभाग्य सुदशा और सुयश का मूल है । इस प्रकार के सामाजिक समागम को पंचायत अर्थात् पंच लोगों की सभा और पंच अर्थात् जनसमुदाय के कार्य्याकार्य्य निर्णय करने वाले मुखिया लोगों को चतुर्धुरीण वा चौधरी अर्थात् चार जनों (समुदाय) का भार धारण करने वाला अथवा निर्धार बारक कहते हैं ।

इन मुखियों के द्वारा आपस के झगड़ों का निपटारा, विजातियों के अत्याचारों से छुटकारा, रीति का सुधार, नीति का निर्धार, दोषियों का दंड, पीड़ितों का निस्तार, व्यवहार में सुविधा और सिद्धि, कर्म का प्रचार और वृद्धि इत्यादि 2 सभी कुछ बड़ी सरलता एवं सुगमता से हो सक्ता है । जब तक जिस देश का भाग्य उदित रहता है तब तक वहाँ इस चाल का पूर्ण प्रचार बना रहता और पंच परमेश्वर की दया से सब जाति अपना 2 हित साधन करती रहती हैं । सतयुग, त्रेता और द्वापर में जब अपने देश के पूर्णाधिकारी हमीं थे तब हमारे पूर्वज महर्षिगण, जहाँ कोई राजा, प्रजा, ईश्वर, जीवन, पिता, पुत्र, सजाती, बिजाती इत्यादि के संबंध की उलझेड़ देखते थे वा कोई नवीन घटना होती थी वहीं काशी प्रयाग नैमिषारन्यादि में एकत्र हो के सर्वसम्मति के द्वारा कोई ऐसी युक्ति निकाल देते थे जिसमें सबको सब प्रकार की सुविधा प्राप्त हो जाती थी पर कलियुग में जबकि हमारा सुख सूर्य पश्चिम की ओर झुकने लगा तब बुद्धिमानों ने यह रीति निकाली कि ब्राह्मण यद्यपि सबके अग्रगामी और क्षत्रिय संसारिक स्वामी हैं पर समस्त जाति एवं कुटुम्बों में बहुत सी रीति नीति ऐसी हैं जो एक दूसरे की चाल ढाल से कुछ न कुछ भिन्नता रखती हैं, और सबको सबके यहाँ की सब बातों का पूर्ण होना दुस्साध्य है, इससे प्रत्येक जाति की पृथक् 2 पंचायत नियत हो जाय तो बड़ा सुभीता रहेगा ।

सच पूछो तो यह युक्ति और भी उत्तम थी और जिन समूहों में इसका जितना आदर बना हुआ है वह अद्यापि अनेक प्रकार की अड़चनों से बचे रहते हैं । हमारे पाठकों ने नाई, बारी, तेली, तमोली, आदि साधारण श्रेणी के लोगों की पंचायत कभी देखी होगी तो जानते होंगे (न देखी होगी तो देख के जान सकते हैं) कि किसी से कोई ऊँच नीच हो गई बस पाँच पंच ने इकट्ठा हो के कोई जाति संबंधी प्रायश्चित नियत कर दिया जिसके करने वाले को सामर्थ्य से बाहर कष्ट नहीं होता और अपराधी प्रसन्नतापूर्वक हँस 2 के अंगीकार कर लेता है तथा उसके जाति भाई आनंद सहित उसे उऋण कर देते हैं एवं आगे के लिए दूसरे लोग सावधान हो जाते हैं जिससे पुनर्बार वैसे दुःख दुर्गुणादि उपस्थित होने की संभावना विशेषतः नहीं रहती । यह लोग यद्यपि बहुधा विद्वान् नहीं होते पर पंचायत के द्वारा अपने समुदाय का प्रबंध ऐसी उत्तमता से कर लेते हैं कि धन मान एवं धर्म भी सहज में रक्षित रहते हैं बरंच कभी 2 राजकर्मचारी अथच उच्च जाति वाले अधिकारियों को भी अपने विरुद्ध हाथ पाँव हिलाने में अक्षम कर देते हैं । पर ब्राह्मण क्षत्रियादि उच्च कुल वालों में यह प्रथा न होने के कारण खेद है कि विद्या बुद्धि और प्रतिष्ठा के आछत कोई भी ऐसा प्रबंध नहीं है जो शिर पर आई हुई आपत्ति एवं असुविधा को रोक सके ।

जिसके जी में जो आता है वह कर उठाता है। कोई पूछने वाला ही नहीं। छिप 2 के बड़े से बड़े अधर्म अन्याय अनर्थ करने वालों के लिए कोई रोक टोक ही नहीं। कहीं किसी को गुप्त चरित्र प्रगट हो गया (सत्य हो वा मिथ्या) तो फिर किसी भाँति मरण पर्यन्त उसके दुष्फल से मुक्ति ही नहीं। भाई 2, बाप बेटे तक में झगड़ा खड़ा हो जाय अथवा किसी पर कोई दैवी मानुषी दुर्घटना आ पड़े तो कचहरी के बिना कहीं शरण ही नहीं। किसी को भी आपस के चार जनों से कोई आश्रा ही नहीं, किसी का त्रास ही नहीं, फिर भला निरंकुशता दृढ़ स्थायिनी हो के न चिमटे तो क्या हो। धन, धर्म, मान, प्रतिष्ठा, शक्ति, सदाचारादि का दिन 2 ह्रास न हो तो क्या हो।

बहुत आगे की कथा जाने दीजिए केवल दो तीन पीढ़ी आगे से वर्तमान कुटुम्बों की दशा का मिलान कीजिए तो, परमेश्वर झूठ न बुलावै, सौ पीछे कम से कम पचास साठ घर ऐसे निकलेंगे जिनके बाबा लक्षाधीश थे पर पोतों को पेट भर अन्न कठिनता से मिलता है। पिता बड़े 2 पंडितों का मुँह बंद कर देते थे पर पुत्रों को का खा गा घा में भी खलल है। प्रपितामह गाँव भर के झगड़े निपटाते थे पर प्रपौत्र अपने कुटुम्ब को भी प्रसन्न रक्खेंगे तो नाक कट जाय। ऐसे अवसरों पर बहुधा यही सुनने में आता है "अरे भाई उनकी बातें उनके साथ गईं, अब तो जैसे तैसे दिन काटते हैं।" सच है, जहाँ अपनी 2 डफली अपना 2 राग है वहाँ अपनी ही भलमंसी रखना लोहे के चने हैं, पुरुखों की चाल का निर्वाह कौन कर सकता है। जिस समुदाय में आपस के चार जने मिल जुलकर बनी बिगड़ी में साथ देना शूद्रत्व समझते हैं उसमें किसी को अपने तथा पराए भले में हाथ डालना अनुत्साह के अतिरिक्त और किस फल की आशा देगा तथा मनमानी चाल चलने में कौन सा भय दिखलावैगा।

यही नहीं बरंच बहुधा यह भी देखने में आता है कि कोई कुछ अच्छा काम कर उठावै तो उसको नीचा दिखाने का यत्न किया जाता है, उस पर दाँत बाए जाते हैं, बीसियों सुड़पेंचें लगाई जाती हैं, जिसमें कार्यसिद्धि के कारण वह हमसे बढ़ न जाय, तथाच आपदग्रस्त की हँसी उड़ाई जाती है जिसमें अपने बचाव का प्रयत्न करने में साहसी न हो सके। ऐसी दशा में यदि समाज का सब प्रकार से अधःपतन न हो तो क्या ? बहुतेरे बहुधा कहा करते हैं कि इस जमाने में भलेमानसों का गुजारा नहीं है, पर यह नहीं विचारते कि भलेमानस अपने गुजारे का उपाय क्या करते हैं, उच्च कुल में जन्म पाने के अतिरिक्त भलमंसी ही कौन सी रखते हैं ? रक्खें भी तो उसके चिरस्थायित्व और प्रचार का कौन सा मार्ग अवलम्बन करते हैं ? फिर क्या है, भलेमानस हों तो अपने को, कुमानस हों तो अपने को।

सुख पावैं तौ अपने आप पावैं, दुख भोगें तो अपने आप भोगें। इसी से आज मेरी, कल तुम्हारी, परसों इनकी, नरसों उनकी और यों ही धीरे 2 सबकी दुर्दशा होती चली जाती है और शीघ्र उपाय न किया गया तो होती ही रहैगी। उपाय दुस्साध्य नहीं है और बहुतेरे जानते भी हैं पर उसे ठीक रीति पर न बर्तने के कारण बड़े 2 उद्देश्यों से बड़े 2 नाम की सभाएँ होती हैं और थोड़े दिन धूम मचा के या तो समाप्त ही हो जाती हैं या नाम मात्र के लिए केवल दो उत्साहियों के उद्योग से ज्यों त्यों अपनी लीक पीटा करती हैं। नहीं तो ऐसा कोई नगर, ग्राम, टोला, महल्ला न होगा जिसमें दो चार (कम से कम एक) ऐसे पुरुष न हों जो अपनी जाति की रीति नीति में कुशल, पास पड़ोस वालों की दशा में अभिज्ञ, देश काल की गति के अनुकूल अनुमति देने में चतुर; बहुत समय बीतने अथवा वृद्ध लोगों की बात सुनते रहने के कारण अनुभवशील, दस पाँच जनों के श्रद्धापात्र और किसी न किसी योग्यता के हेतु दस-बीस लोगों पर दबाव रखने वाले न हों।

देश जाति के सच्चे शुभचिंतक लोग यदि ऐसों के पास अवकाश के समय जा बैठा करें और समय 2 पर आत्मीयत्व का बर्ताव रख के हेल मेल बढ़ाते रहें तथा अपने कुटुम्ब गोत्र मित्र हेतु व्यवहारी गाँव टोला से संबंध रखने वाले विषयों में उनसे सम्मति लेते देते रहा करें, घर बाहर के झगड़े उन्हीं के द्वारा निपटा के और व्यापार व्यवहार की बातों में उनका कहा करके सामाजिक राजनीतिक धार्मिक इत्यादि कामों में उन्हें शिरधरा के अपना तथा उनका उत्साह गौरव एवं परस्पर का हित बढ़ाते रहा करें तो थोड़े ही काल में देखेंगे कि कैसा सुभीता प्राप्त होता है, दूसरों की दृष्टि में कैसा संमान बढ़ता है और आगे के लिए कैसा सुख का विस्तृत मार्ग खुलता है। जिन बातों के लिए आज हमें इतरों की खुशामद करनी पड़ती है, बातें कुबातें सहनी पड़ती हैं, व्यर्थ एक 2 के चार रुपए लगाने पड़ते हैं, घर बाहर के काम छोड़ के, नींद भूख से मुँह मोड़ के, दिन रात इधर से उधर निरी कल्पित आशा के लिए दौड़ना पड़ता है वही बातें सौ विश्वा उपजेंगी नहीं और उपजों भी तो ऐसी सहज रीति से सिमट जायँगी कि मानो खेल ही मात्र थीं। यही नहीं सोशयल कान्फरेंस तथा नेशनल कांग्रेस इत्यादि बड़ी सभाओं के बड़े 2 मनोरथों की सिद्धि एवं बड़े 2 अभावों की पूर्ति में भी इन छोटी 2 सभाओं का बड़ा भारी प्रभाव पड़ेगा, बड़े 2 कठिन काम सहज में हो सकेंगे और प्रत्येक जाति, प्रत्येक समूह के प्रत्येक व्यक्ति को बड़ी भारी शक्ति का सहारा रहेगा। और यदि यह दूसरों की पंचायतों के साथ किसी प्रकार का विवाद न रख के काम पड़ने पर उन्हें भी तन मन धन से सहायता देने लेने में लगाई जाय तो क्या ही कहना है।

सोने में सुगंध अथवा बाघ और बंदूक बाँधे वाली लोकोक्ति थोड़े ही दिनों में प्रत्यक्ष दिखाई देने लगेगी और सब के सब दुःख दरिद्र आप से आप दूर हो जायँगे। पर तभी जब आज कल की नाईं सब के सभी अपने को डेढ़ सयानों में न समझ के, अपनी ही बात रखने का हठ न रख के, द्वेषियों का उत्तर द्वेषभाव से न दे के, सरलता, सहनशीलता एवं सत्यता के साथ अपनों को अपना बनाने का प्रयत्न करेंगे और हमारे इस मूल मंत्र पर दृढ़ विश्वास कर लेंगे कि सर्वशक्तिमान जगदीश्वर के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि स्वरूप पंच हैं, उन्हीं के आराधन से सर्व सिद्धि हस्तगत होती है एवं उनकी सच्ची तथा सत्यफलदायिनी उपासना का एक मात्र मार्ग, अद्वितीय सिद्ध पीठ, सर्वानुमोदित विधि पंचायत है।

खं० 7 सं० 1, 2 (15 अगस्त-सितंबर ह० सं० 6)

हमारी आवश्यकता (1)

जी बहलाने के लेख हमारे पाठकों ने बहुत से पढ़ लिए। यद्यपि उनमें भी बहुत सी समयोपयोगी शिक्षा रहती है पर वाग्जाल में फँसी हुई, ढूँढ़ निकालने योग्य। अतः अब हमारा विचार है कि कभी 2 ऐसी बातें भी लिखा करें जो इस काल के लिये प्रयोजनीय हों, तथा हास्यपूर्ण न हो के सीधी 2 भाषा में हों, जिसमें देखते और बिचारते समय किसी प्रकार का अवरोध न रहे अथच हमारे पाठकों का काम है कि

उन्हें निरस समझ के छोड़ न दिया करें तथा केवल पढ़ ही न डाला करें वरंच उनके लिए तन से, धन से, कुछ न हो सके तो बचन ही से यथावकाश कुछ करते भी रहा करें। क्योंकि यह समय बातों के जमाखर्च का नहीं है, कुछ करते रहने का है।

जब हमारा धन हेर फेर के हमारे ही देश में रहता था, हमारी शक्ति कुछ न होने पर भी इतनी बनी थी कि अपने सताने वालों को दबा न सकें तौ भी अपने बचाव के लिये हाथ पाँव हिला के जी समझा लें। हमारे लिए कृषी, वाणिज्य, शिल्प, सेवा के द्वार खुले हुए थे। इससे निर्वाह की अड़चन न थी, तब हमें बातें बनाना सोहता था, चाहे ब्रह्मज्ञान छाँटा करते, चाहे गद्य पद्यमय लेखों से कलम की कारीगरी दिखाया करते, चाहे अपने साथियों के धर्म कर्म चाल व्यवहार की प्रशंसा और दूसरों की तुच्छता के गीत गाया करते, पर अब जब कि हमारे हाथ कुछ भी नहीं रहा है, उसके भी चिरस्थायित्व का विश्वास नहीं, तो फिर सर्वथा यही उचित है कि सौ काम छोड़ के, (यदि अपना भला चाहते हों तो) ऐसे उद्योगों में लगे रहें जो हमारे लिए आवश्यक हैं। यदि हम विरक्त हों तो भी हमें आज अपनी आत्मा के कल्याणार्थ बन में जा बैठना श्रेयस्कर न होगा, क्योंकि हमारे चतुर्थांश भाई भूखों मर रहे हैं और तीन चौथाई ऐसे हैं कि तीन खाते हैं तेरह की भूख बनी रहती है।

ऐसी दशा में केवल अपने परलोक की चिंता करना निर्दयता और स्वार्थपरता है। फिर उनके लिए तो कहना ही क्या है जो गृहस्थ कहलाते हैं और परमेश्वर की दया से दोनों पहर अच्छा खाते, अच्छा पहिनते, थोड़ी बहुत समझ और सामर्थ्य भी रखते हैं। वे यदि अपने देश-भाइयों की आवश्यकता को न देखें, और उसके अभाव की पूर्ति में यत्नवान न रहें तो अंधेर है, अन्याय है, अनर्थ है। मनुष्य का जीवन हजार पाँच सौ वर्ष का नहीं है, बहुत जीता है वह सौ वर्ष जीता है। तिसमें भी अनुमान आधी आयु, रात्रि की, सोने में बीत जाती है। रही आधी, उसमें भी बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था, खेल कूद, और पड़े 2 खटिया तोड़ने के अतिरिक्त किसी काम की नहीं होती। यों लेखा जोड़िए तो सौ वर्ष में कुछ करने धरने के योग्य बीस ही पच्चीस वर्ष निकलेंगे। उनमें भी गृहस्थी के सौ झंझट एवं नाना रोग वियोगादि लगे रहते हैं। यों विचार के देखिये तो दस पंद्रह हद बीस ही वर्ष हैं जिनमें किए हुए कामों के द्वारा अपना पराया हिताहित अथच मरणांतर चिरस्थायी यश अपयश प्राप्त कर सकते हैं।

यदि इतना स्वल्प काल भी केवल अपना ही पापी पेट पालने, अपना ही स्वार्थ साधने तथा आलस्य और अनुद्योग ही में लगाया जाय तो हम नहीं जानते मनुष्य जनम पाने का दावा, 'अशरफुल मखलूकात' बनने का घमंड, आप किस बिरते पर कर सकते हैं। विशेषतः इस समय में जब कि हमारे पीछे होने वाली पौधों का भला बुरा हमारे ही हाथ आ रहा है और अनेक आवश्यक काम ऐसे आ लगे हैं जिनके किए बिना न हमारा निर्वाह देख पड़ता है न हमारी संतान के लिये सुखमय जीवन की राह सूझ पड़ती है। और इसी से अनेक सहृदय एक न एक कार्य में जुटे रहते हैं तथा वर्तमान राज्य में उन कर्मों के लिये बहुत कुछ सुभीता भी है। यदि ऐसे में चूक गए तो आपको तो क्या कहें, आपके बनाने वाले परमेश्वर ने आपको बुद्धि दान करके क्या फल पाया, यह हम पूछा चाहते हैं।

इन बातों के उत्तर में कहीं यह न कह दीजिएगा कि हमारे अकेले के किये क्या हो सकता है ? क्योंकि मनुष्य कभी अकेला नहीं रह सकता, सभी प्रकार के लोगों का थोड़े बहुत लोग साथ देने को, सदा सब ठौर मिल रहते हैं। यदि मान ही लें कि हमारा साथी कोई नहीं है तौ भी जो हम आस्तिक हैं तो परमात्मा अवश्य साथ है जो सर्व शक्तिमान कहलाता है और उसे न भी मानिए तो आँखें खोल के देखने

से जान पड़ेगा कि संसार में सारे काम मनुष्य ही नहीं करते हैं । फिर क्या हम मनुष्य नहीं हैं जो अपने कर्तव्य को न देखें, अपनी आवश्यकताओं को न जानें और उनकी पूर्ति के लिये यथासाध्य उपाय न करें ?

हाँ, सामर्थ्य की स्वल्पता से अग्रगामी न बन सकें, पूर्ण पौरुष न दिखा सकें, यह दूसरी बात है । पर इसके साथ यह भी समझे रहना चाहिए कि सभी सर्वगुण संपन्न नहीं होते और यदि हो जायँ तो किसी को किसी की सहायता मिलना दुर्घट हो जाय । या यों कहिए, फिर किसी को कोई अभाव ही क्यों रहें । इससे जितना, जो कुछ, हो सके उतना करते रहना ही परम कर्तव्य है । आगा पीछा करना या बहाने गढ़ना 'दुनिया में जैसे आए वैसे चले गए' का उदाहरण बनना है । अस्मात् समझ हो तो आँखें खोल के देखिए कि हमारे लिए किन 2 बातों की आवश्यकता है और उनके पूर्ण करने के क्या 2 उपाय हैं, तभी कुछ हो सकेगा । स्वयं समझने की समझ न हो तो हमसे वा किसी और से समझ लीजिए और दूसरों को समझाने में लगे रहिए, बस इसी में सब कुछ है ।

खं० 7, सं० 1-2 (15 अगस्त-सितंबर ह० सं० 6)

यह तो बतलाइये

आप ठाकुर जी के मंदिर में तो बिना नहाये ब्राह्मणों को भी नहीं आने देते तथा उनकी मूर्ति एवं मरे हुए संबंधियों का मृत शरीर कोई उच्च जाति का हिंदू भी छू ले तो नाक भौंह चढ़ाते हैं, पर उनको पोशाक और उन्हें कफन वही पहिनाते हैं जो विलायत के कोरियों का बुना हुआ है तथा खलीफा जी के द्वारा सूई में थूक लगा 2 के सिया गया है । यह कहाँ की पवित्रता है ? यदि देव प्रतिमा की प्रसन्नता और मृतकों की सद्‌गति, पवित्रता पर निर्भर समझते हो तो देश के कपड़ा बुनने वाले और हिंदू दरजी मर गये हैं ? अथवा परदेशियों और परधर्मियों से भी वह गए हैं जो उनकी कारीगरी को इतना उत्साह भी नहीं देते ?

और सुनिए । यदि घर में कुत्ता, कौआ कोई हड्डी डाल दे अथवा खाते समय कोई मांस का नाम ले ले तौ भी तो आप मुँह बिचकाते हैं पर बिलायती दियासलाई और बिलायती शक्कर, जिनमें हड्डी तथा रक्त दोनों पड़े हुए हैं, सो भी न जाने कि किन 2 जानवरों के, वह आरती के समय बत्ती जलाने की सिंहासन के पास तक रख लेते हैं और भोग लगा के गटक जाने तक में नहीं हिचकते । यह कहाँ का खाद्याखाद्य विवेक है ? क्या देश में दियासलाई बनाने की विधि जानने वाले मर गये हैं ? अथवा खाँड बनाने के नियम हर गए हैं जो आपसे इतना भी नहीं होता कि मथुरा वाली आर०एल० बर्मन कंपनी की मदद कीजिए और साबुन तथा दीपशलाका के कारखाने में दो एक शेयर (हिस्से) ले लीजिए तथा बनारसी चीनी खाया कीजिए ?

और लीजिए । देश की दरिद्रता और उद्धार के विषय में लेक्चर देते समय तो आप श्रोताओं के कान की चैली उड़ा देते हैं और लेख ऐसे लिखते हैं कि छापने के समय कम्पोजीटर नाकों आ जायँ पर अपने शरीर को शिर से पैर तक विलायती ही वस्त्र शस्त्र में मढ़े रहते हैं । घर में दमड़ी की सूई भी विलायती, खाने की दवा भी विलायती, पीने की मदिरा भी विलायती, नहाने का साबुन भी विलायती, साथ में कुत्ता तक विलायती, देशी केवल मुँह का रंग दिखाई देता है । क्या इन्हीं लक्षणों से देश का दरिद्र मिटाइएगा और देशोद्धार करनेवालों में पाँचवें सवार बनिएगा ? अथवा उपर्युक्त वस्तु यहाँ नहीं मिल सकती, वा बनना असंभव है, वा दाम अधिक लगते हैं, वा देर तक ठहरती नहीं है ? पर हाँ, शायद जी डरता हो कि कहीं काट न खायँ, क्योंकि आप तो ज्यंटिलम्येन अर्थात मुलायम आदमी हैं न !

आगे चलिए । आपको नेचर के तत्वज्ञान और उसकी पूरी पैरवी का दावा है, इससे हम पूछना चाहते हैं कि यह बात ला ऑफ नेचर की किस दफा में लिखी है कि जो देश अथवा जाति आज जिस दशा में है उसी में प्रलय तक बनी रहेगी अतः उसे अपने सुधार का यत्न करना जुर्म है और ऐसे जुर्म करने वालों से मुखालिफत करना ही नेचर का सबसे बड़ा उसूल, राजभक्ति का मूल और मसलहत के जहाज का मस्तूल है ? यह भी कहिए आपका जन्म हिंदुस्तान में हुआ है, खाना पीना, रीति व्यवहार, ब्याह शादी भी हिंदू ही मुसलमानों के साथ होती है, मरने पर भी यहीं की पृथिवी अथवा जल में मिल जाइएगा, फारस, अरब तथा इंग्लैंड में जाइए तो शायद कोई बात भी न पूछे, क्योंकि आपकी भाषा भेष, धर्म कर्म, आहार विहार सब वहाँ वालों से पृथक् है । ऊपर से तुर्रा यह है कि आप जहाँ भए उपजे हैं वहीं कोई बड़े विद्वान धनवान नहीं हैं, फिर परदेश में प्रतिष्ठा पाने की तो क्या आशा है । पर इन बातों को जान बूझ के भी, पुलिस की उरदी पहिनते ही, टिकिया बिल्ला लचका आदि धारण करते ही, अपने देश-भाइयों को सताना, सड़ी 2 बातों में चुगली खाना, कहनी अनकहनी कहना, बरंच कभी 2 उन पर हंटर तक फटकारते रहना कहाँ की बुद्धिमानी है ? अपनी डिउटी में न चूकिए, आला हाकिमों को अवश्य प्रसन्न रखिए, किंतु यह समझे रहिए कि आपका बर्ताव किसी कानून का हुक्म नहीं है, आप इस मुल्क के फतेह करने वाले नहीं हैं ।

साहब बहादुर विलायत चल देंगे तब आपको साथ भी न ले जायँगे । आपका रंग भी ऐसा नहीं है कि ख्वामख्वाह रियायत की जाय । नौकरी की जड़ सदा धरती से सवा हाथ ऊपर रहती है । इससे उस पर भरोसा करना नाहक है । परमेश्वर न करे कल को किसी अपराध के कारण छुड़ा दिए जाओ तो रुजगार की आशा किससे करोगे ? जुरूरत पड़ने पर कर्ज किसके यहाँ से काढ़ोगे ? दुःख, सुख, तंगी, बहाली आदि में किसका आश्रय ढूँढ़ोगे ? इन्हीं हिंदुस्तानियों ही का न, जिन्हें आप इस समय धमकाते, जिन पर हुकूमत जताते हैं, जिन्हें मनमानी घर जानी कार्रवाई का निशाना समझते हैं । बतलाइये तो उस समय चित्त की क्या दशा होगी ?

इतना और भी । भला आपके ऊपर और भी कोई हाकिम है । भारतवासियों को कोई सामर्थ्य न सही पर अपना दुख रोने की शक्ति है । यहाँ माना कि बहुत लोग आप ही का पक्ष करेंगे किंतु यहाँ से विलायत और विलायत से परमेश्वर के घर तक कोई भी ऐसा है जिसे न्याय की ममता तुम्हारे ममत्व से अधिक हो ? राजराजेश्वरी का प्रताप अथवा परमेश्वर का अचल नियम भी कोई वस्तु है ? यदि है तो आप फिर क्यों चाहते हैं यि 'भावै हियै करैं हम सोई' । इससे तो यही न उत्तम है कि ऐसे काम

कर जाइए जिन्हें स्मरण करके सब सदा आसीसते रहें । पूछना तो बहुत कुछ है पर इस समय इतना ही बहुत है ।

खं० 7, सं 1-2 (15 अगस्त-सितंबर ह० सं० 6)

हमारी आवश्यकता (2)

बुद्धिमानों का सिद्धांत है कि प्रत्येक जाति अपनी भाषा भेष भोजन और धर्म से पहिचानी जाती है । इस न्याय के अनुसार मनुष्य मात्र को इन चार पदार्थों के संरक्षण की आवश्यकता है । इनके लिए दूसरों का मुँह ताकना, दूसरों से आशा रखना अथवा भय संकोच करना, अपने जातीयत्व को सत्यानाश करना है । और ऐसा कोई भी देश धरती की पीठ पर नहीं है जहाँ के प्रत्येक समुदाय वाले इन चारों बातों को अपने ही रंग ढंग में साथ न रखते हों । यूरोप एमेरिकादि का तो कहना ही क्या है, वहाँ तो सब प्रकार परमेश्वर की दया है । अपने यहाँ देखिए, बंगाली, मद्रासी, गुजराती, मारवाड़ी इत्यादि सभी अपनी 2 भाषा, भेष, भोजनादि का पूरा ममत्व रखते हैं । चाहे जहाँ जायँ, चाहे जिस दशा में हों, अपनापन नहीं छोड़ते । पर खेद है हमारे पश्चिमोत्तर देशवासी हिंदू दास पर जिनके यहाँ किसी बात का ठीक ही नहीं है । जिस विषय में देखो उसी में ऐसे मोम की नाक हो रहे हैं कि फिरते देर ही नहीं । इन्हीं लक्षणों के कारण इनके लिए न घर में सुभीता है, न बाहर सम्मान है, न किसी को इन पर मनमानी अंधाधुंध करते कुछ भी संकोच होता है, न बड़े 2 शुभचिंतकों के लिए कुछ होता है । क्योंकि जिस जाति में आत्मत्व ही नहीं है उसे सृष्टि अथवा सृष्टिकर्ता से आशा ही क्या । विचार के देखिए तो मनुष्य तो मनुष्य ही है, पशु पक्षी तक अपने जातीयत्व के अंगों को नहीं छोड़ते । तोता मैना को आप लाख अपनी बोली सिखलाइए पर आपस में वा अपने सुख दुःखादि को प्रगट करने में अपनी ही बोली बोलेंगे । कौए पर करोड़ रंग चढ़ाइए पर कुछ ही काल में वह अपनी कालिमा को फिर धारण कर लेगा । सिंह के संमुख सौ प्रकार के शाक अथवा हरिण के सामने सहस्र भाँति के मांस रख दीजिए, चाहे जै दिन का भूखा हो उसकी ओर आँख उठा के न देखेगा । किंतु हम निजत्व से इतने वंचित हैं कि जिन्हें अपनी किसी बात का कुछ ध्यान ही नहीं, चाहे कोई कुछ कर उठावे, कुछ उत्साह ही नहीं । इसी हेतु से जिन दिनों प्रत्येक जाति अपनी उन्नति के लिए धावमान हो रही है उस अवसर में भी हमारा धन, बल, गौरव क्षण 2 क्षीण हो रहा है और परमेश्वर न करे सौ वर्ष भी यही दशा रही तो कोई आश्चर्य नहीं है कि हिंदू हिंदुस्तानी वा हिंदी इत्यादि शब्द मात्र रह जायँगे । इससे आज ही से चेतना और समझ रखना चाहिए कि अपना भला बुरा अपने हाथ है । दूसरों को क्या पड़ी है कि हमारे लाभ के लिए अपने समय, सुविधा अथवा स्वच्छंद व्यवहारों की हानि करेंगे । यद्यपि हमारी वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति प्रत्यक्ष वा प्रच्छन्न रूप से किसी प्रकार वास्तविक कष्ट व हानि न

करेगी वरंच कुछ ही दिनों में सुख और सहायता मिलना आरंभ हो चलेगा और परिणाम में तो देश और जाति की सभी प्रकार की सुविधा का द्वार खुल जायगा पर यदि पहिले पहिल कुछ अड़चनें देख पड़ें तो यह समझ के झेल डालनी चाहिए कि सुख का उपाय करने में दुःख होता ही है। जिसने यह न अंगीकार किया वह उसे क्या पावेगा। यह विचार चित्त में दृढ़स्थायी किए बिना और शीघ्र आलस्य छोड़ के कटि कसे बिना भविष्यत के लिए घोर विपद का सामना है। इससे सब काम छोड़ के पहिले लक्ष्यमाण आवश्यकताओं को पूर्ण करने में तन, मन, धन लगाना परमावश्यक है।

सबसे पहिले लड़कों के पढ़ाने का उचित प्रबंध करणीय है। क्योंकि सबसे आदिम अवस्था इन्हीं की है और इसी अवस्था की शिक्षा से उनको जन्म भर का सहारा और उनके पूर्वजों और अनुजों (पीछे उत्पन्न होने वालों अर्थात् छोटे भाइयों तथा युवादिकों) के सुख सौभाग्य सुयशादि का द्वार प्राप्त होता है। वह यदि अपने देश और दशा के अनुकूल न हुई तो हमें भारी उन्नति की कुछ भी आशा नहीं है और इसमें कोई संदेह नहीं है कि जब तक अपनी भाषा में पूर्ण रूप से पठन पाठन नहीं होता तब तक शिक्षा सदा अधूरी ही रहती है और पूर्ण फलदायिनी नहीं होती। इससे हमें हिंदी और संस्कृत अवश्यमेव पढ़नी पढ़ानी चाहिए। बरंच उच्च शिक्षा इन्हीं में प्राप्त करनी चाहिए। अँगरेजी, फारसी, अरबी, तुरकी यदि काम निकालने मात्र को सीख सिखा ली जाय तो अच्छा है, नहीं तो हमारी भाषा से भी हमारा कोई काम अटक न रहेगा। जब देश में एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा हो जायगा जो निज भाषा में पूर्ण दक्ष और अपने निर्वाह के लिए सब प्रकार के कष्ट सह के भी अपने ही हाथ पाँव का सहारा लेने का हठी तथा अन्य भाषाओं के लिए आत्मत्व को न छोड़ने में पूर्ण उत्साही हो, तब कोई भी संदेह नहीं है कि गवर्नमेंट हमारी सुविधा का भी प्रबंध अवश्य करैगी। आज इलाहाबाद यूनीवर्सिटी ने हिंदी को उठा के यह सिद्ध कर दिया है कि उसमें हिंदू जगत की ममता रखने वाला कोई नहीं है। अपने माथे से कलंक का टीका मिटाने के लिए संस्कृत को बना रहने दिया है। यह भी उसकी पालिसी मात्र है, हमारी हितैषिता नहीं है। क्योंकि हिंदी के पूरे सहारे बिना संस्कृत लोहे के चने है और यह आशा भी अनेकांश में दुराशामात्र है कि सर्कार हमारी एतद्विषयक प्रार्थना सुनेगी। अस्मात् हमें अपने लोक परलोक के निर्वाहार्थ अपनी भाषा स्थिर रखने के लिए केवल अपने ऊपर भरोसा रखना चाहिए। आज हम लाख गई बीती दशा में हैं पर हमारी भाषा किसी अन्य भाषा के किसी अंग से किसी अंश में कुछ भी कम नहीं है और यदि इसे संस्कृत का सहारा मिल जाय तो मानो सोने में सुगंध हो जाय। क्योंकि संस्कृत के यद्यपि लाखों ग्रंथ आज लुप्त प्राय हो गए हैं तथापि जो मिलते हैं अथवा दौड़ धूप से मिल सकते हैं वह ऐसे नहीं कि किसी लौकिक अथवा पारलौकिक विद्या से रहित हों। बरंच यह कहना अत्युक्ति नहीं है, अनेक सहृदयों की साक्षी से सिद्ध है, कि जो कुछ संस्कृत के प्राचीन ग्रंथकार लिख गए हैं वही अभी तक दूसरी भाषा के अभिमानियों को सूझना कैसा पूरी रीति से समझना ही कठिन है। एक बार नहीं सैकड़ों बार देखने में आया है कि जिस विद्या के जिस अंग को विदेशी विद्वानों ने वर्षों परिश्रम करके, सहस्रों का धन खो के, हस्तगत किया है और अनेक लोगों की समझ में उसके आचार्य (ईजाद करने वाले) समझे गये हैं वही बात संस्कृत की किसी न किसी पुस्तक में सहस्रों वर्ष पूर्व की लिखी हुई ऐसी मिल गई है कि बुद्धिमान चकित रह गए हैं। फिर हम नहीं जानते ऐसी सर्वांग सुंदर भाषा के भंडार के रत्न अपनी मातृभाषा के कोष में क्यों नहीं भर लिए जाते। रहीं वे बातें जिन पर इस समय तक विदेशी ही विद्वानों का दावा है।

वे हमारे देश के बी०ए०, एम०ए० डॉक्टर बारिस्टरादि के द्वारा हमारी भाषा में सहजतया भर ली जा सकती हैं और सर्वसाधारण के लिए वर्षों के परिश्रम का फल महीनों में दे सकती हैं। जो लोग यह समझ बैठे हैं कि अँगरेजी पढ़े बिना भोजनाच्छादन कहाँ से प्राप्त होगा उनको यह भी आँखें खोल के देखना चाहिए कि एक तो संसार का नियम है कि कोई भूखा नहीं रहने पाता बरंच बीसियों बेर देखा गया है कि अजीर्ण रोग से चाहे कोई मर भी जाय पर अन्नाभाव से नहीं मरता। लोगों को ज्वरादि के कारण पंद्रह 2 बीस 2 लंघन हुए हैं, जल के सिवा अन्न का दाना नहीं खोंटा, पर प्राण देवता ज्यों के त्यों बने हैं। रहा सहज में सुखपूर्वक निर्वाह, वह जिस बात में परिश्रम कीजिएगा उसी के द्वारा प्राप्य है। जितना परिश्रम आप अँगरेजी में करते हैं उतना ही संस्कृत में कर देखिए तो प्रत्यक्ष हो जायगा कि विद्वान सभी सुखित रहते हैं।

काले गोरे रंग के भेद भाव की दया से हम बीसियों एम०ए० पास किये हुए हिंदू दिखला देंगे जिन्हें सौ डेढ़ सौ (हद दो सौ) से अधिक वेतन की नौकरी के दर्शन नहीं होते। सो भी कब ? जब विदेशी भाषा, विदेशी भेष, विदेशी विचार (खयालात), विदेशी व्यवहार (बरंच आहार), विदेशियों की जै जै कार इत्यादि के मारे अपनी ओर देखने का अवसर नहीं मिलता। यदि उतना ही परिश्रम कोई किसी शास्त्र में करे तो क्यों किसी रजवाड़े अथवा कालेज में सौ दो सौ की नौकरी न पा जायगा !

यदि सेवा की वृत्ति न भी स्वीकृत हो तो विद्या के प्रभाव से प्रत्येक उद्योग में उतने के लगभग प्राप्ति हो सकती है। कुछ भी न कीजिए तो तनिक देखिए कि स्वामी विशुद्धानंद सरस्वती, स्वामी दयानंद सरस्वती, परिब्राजक श्रीकृष्ण प्रसन्न सेन इत्यादि की प्रतिष्ठा किस विदेशी भाषा के पंडितराज से कम है ? बरंच आपके एम०ए० बी०ए० आदि जिन श्रीमानों के द्वार पर खड़े रहते हैं वह धनाढ्य इन विद्वानों की सेवा में अपना गौरव समझते हैं। रहे मिडिल एंटरेंस वाले छुटभए, वे जितनी प्राप्ति अँगरेजी फारसी के द्वारा कर लेते हैं उतने हमारे साधारण पंडित भी सेवा सुश्रूषादि करके अवश्य हस्तगत कर सकते हैं। नहीं तो जितनी मुंड़धुन आप विदेशी भाषा में कर रहे हैं इतनी ही हम अपनी ज्योतिष, वैद्यक, पुराणादि में करके बिना नौकरी आपके लगभग कमा सकते हैं। बरंच आप अपनेपन से अनेकांश में रहित हो जाइएगा और हम सर्वथा शुद्ध बरंच शुद्धता के शिक्षक कहलावेंगे। फिर न जाने क्यों हमारे देश-भाई अपनी भाषा से मुँह फेरे बैठे हैं। हम अन्य भाषाओं के पढ़ने पढ़ाने का विरोध नहीं करते, पर इतना अवश्य कहेंगे कि आरंभ ही से लड़कों को ए बी सी डी अथवा अलिफ बे रटाना उनका जन्म नशाना है।

इस दशा में वे अपनी रीति नीति, धर्म कर्मादि से बंचित आत्मगौरव एवं अपने लोगों की मान मर्यादा से बिरक्त हो के, कठिन परिश्रम करके, निर्बल शरीर अथवा संकुचित बुद्धि बन के, केवल सेवा करके, पेट पालने के योग्य रह जाते हैं। पर इसके विरुद्ध यदि बाल्यावस्था में उन्हें हिंदी और उसके साथ संस्कृत भली भाँति सिखला दी जाय तो उनकी निजता दृढ़स्थायिनी हो जाय, कुल परंपरा के अनुकूल जीवन यात्रा का उपाय करते हुए लाज न लगे, जिस काम को उठावें बहुतेरों की अपेक्षा उत्तमता से कर सकें और ऐसी दशा में बाबू अथवा मुंशियों से सौ विश्वा अच्छे रहें।

यदि अँगरेजी फारसी का प्रेम फसफसाए तो केवल भाषा ही भाषा में परिश्रम करना पड़े, इससे हमारे धनी, निर्धनी, समर्थ, असमर्थ का मुख्य कर्तव्य ही है कि हिंदी पढ़ना पढ़ाना शपथपूर्वक अंगीकार कर ले। कोई न कोई हिंदी का पत्र अवश्य देखा करें। हिंदी में जितने ग्रंथ बनें उनकी एक 2 कापी

अवश्य खरीद लिया करें और यथासंभव संस्कृत अँगरेजी के विद्वानों से उत्तमोत्तम विद्याओं की पुस्तकें हिंदी में अवश्य अनुवाद कराया करैं। ऐसा होने से आज जिन विद्वानों, बुद्धिमानों, संपादकों, सुलेखकों और सत्यकवियों के अनेकानेक रत्न सदृश विचार अनुत्साह के कारण मन के मन ही में रह जाते हैं उनका हृदय प्रोत्साहित होगा और तद्वारा दो ही चार वर्ष में देखिएगा कि हम क्या से क्या हो गए और आगे के लिये हमें तथा हमारे आगे होने वालों के लिए क्या कुछ प्राप्त हो चला।

हमारे यहाँ विद्याओं और विद्वानों का अभाव नहीं है पर उनका प्रचार तथा प्रोत्साहन देने वाले केवल इतने ही हैं कि उँगलियों पर गिन लिए जायँ। उनमें भी सच्चे और सामर्थ्य वाले और भी थोड़े। इसी से कुछ भी करते धरते नहीं बनता। अस्मात् सर्वतः प्रथम हमें इसकी आवश्यकता है कि हमारे सुलेखक और सुवक्तागण सर्वसाधारण के जी में हिंदी का प्रेम उपजाना, नित नए ग्रंथों का प्रकाशित करना कराना और जहाँ तक हो सके उन्हें सस्ते दामों बिकवाना बरंच किसी व्यक्ति वा समूह की सहायता से गली 2 घर 2 में सेंत बँटवाना, पढ़ने योग्य स्त्री पुरुषों को पढ़ाना नहीं तो सुनाना, अपना परम धर्म समझें, शेष बातों को उसके अंग मात्र।

खं० 7, सं० 3 (15 अक्टूबर ह० सं० 6)

ग्रामों के साथ हमारा कर्तव्य

इधर पंद्रह बीस वर्ष से भारतवर्ष में देश की दशा के सुधार की धूम मच रही है। धर्म संबंधिनी, समाज संशोधिनी, राजनीतिक विषयिणी छोटी बड़ी एकजातीय तथा बहुजातीय सभाओं, उपवेशकों और समाचारपत्रों का प्रादुर्भाव इसी उद्देश्य से हुआ है और इन यत्नों से यद्यपि अभी बहुत ही थोड़ी सफलता प्राप्त हुई है अथच जैसी चाहिए वैसी सफलता के लक्षण अभी दूर दिखलाई पड़ते हैं, पर इसमें संदेह नहीं है कि एक न एक दिन कुछ न कुछ होगा। जब जहाँ के लोगों की चित्तवृत्ति पुराने ढर्रे से फिर से किस नवीन पथ की ओर झुकना आरंभ करती है तब कुछ दिन में वहाँ या तो पूर्ण उन्नति अथवा नितांत अवनति अवश्यमेव मुख दिखलाती है। इस न्याय को सामने रखकर बिचारने बैठिए तो आशा देवी यही कहती है कि जो देश के सैकड़ों वर्ष से अवनत हो रहा है वह उन्नत न होगा तो क्या होगा। यह प्राकृतिक नियम है कि एक दशा का अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाना ही दूसरी (उसके विरुद्ध) दशा के प्रारंभ का लक्षण है।

इसके अनुसार अब हमें उन्नति ही की आशा करनी चाहिए एवं बहु सम्मति के अनुसार सभा इत्यादि का संस्थापन भावी उन्नति ही के साधन हैं। पर इन साधनों का प्रभाव विचार कर देखिए तो अभी केवल बड़े 2 नगरों ही में सीसाबद्ध हो रहा है। ग्रामों में यदि कुछ पहुँचा भी है तो इतना जितने को न पहुँचना कहें तो अयुक्त न होगा। बंगाल, बंबई, मद्रासादि सुविज्ञ प्रांतों के ग्रामों की ठीक 2 दशा

हम नहीं जानते क्या है, कदाचित् उनमें नगरवासियों की भाँति ग्रामस्थ जन भी अपने स्वत्व और कर्तव्य को जानते हों। पर हमारा पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध, जो सभी बातों में सबसे नीचे पड़ा है, जहाँ नगरों में भी लाख हाय 2 करो पर कृतकार्यता के समय ढाख के तीन ही पात देख पड़ते हैं, वहाँ ग्रामों की दशा ऐसी शोचनीय हो रही हैं कि यदि हमारे देशभक्तगण शीघ्र उनकी ओर दृष्टिपात न करेंगे तो शहरों का सब करना धरना इसी कहावत का उदाहरण हो जायगा कि रात-भर पीसा और चलनी में उठाया। क्योंकि जिस देश को आप सुधारना चाहते हैं वह थोड़े से बड़े 2 नगरों ही में विभक्त नहीं हैं बरंच एक 2 नगर के आसपास अनेक छोटे बड़े गाँव ऐसे विद्यमान हैं जिनकी लोकसंख्या नगर के जन समुदाय से कहीं अधिक है।

किसी प्राचीन से प्राचीन नगर के लोगों का पता लगाइए तो ऐसे कुटुम्ब बहुत थोड़े पाइएगा जिनके पूर्व पुरुष सदा से वहीं के रहने वाले हों। बहुत से लोग वही हैं जिनके पिता अथवा पितामह वा उनसे दो ही एक पीढ़ी पहिले के लोग किसी गाँव में रहा करते थे और वर्तमान पीढ़ी का आज भी उस ग्राम अथवा उसके निकटस्थ किसी स्थान से संबंध बना हुआ है। जब बहुलोक पूर्ण नगरों का यह हाल है तो हमारे इस कहने में क्या संदेह कीजिएगा कि प्रत्येक बड़े से बड़े नगर की लोकसंख्या से उसके अंचलस्थ गाँवों की लोक संख्या अधिक है।

न मानिए आने वाली मरदुमशुमारी के द्वारा निश्चय कर लीजिएगा कि नगरों में बहुत लोगों की बस्ती है कि ग्रामों में। पर खेद है कि जहाँ थोड़े लोग बसते हैं, जहाँ सब प्रकार के समयोपयोगी साधनों के अवयव सुगमता से प्राप्त हो सकते हैं, जहाँ का जन समुदाय स्वयं अथच परंपरा द्वारा सब भाषाओं के सब भाव समझ सकता है वहाँ के सुख सुविधा साधन और भविष्यत के लिए सुमार्ग एवं सुदशा के संस्थापनार्थ तो सब प्रकार के उपाय किए जाते हैं पर जहाँ की जनसंख्या बहुत ही अधिक वरंच तीन चौथाई से भी बहुत है और जहाँ अभी नवीन परिष्कृत रीतियों का समाचार भी बहुत ही स्वल्प पहुँचा है वहाँ की ओर देशोद्धारकों का ध्यान ही नहीं है। वहाँ के लोगों को उपदेश करने कभी जाते भी हैं तो पादरी साहबों के परिषद, जिनका मुख्य उद्देश्य भारतीय धर्म एवं जातित्व को नष्ट कर देना है। क्या देश और जाति का मंगल चाहने वालों का इतना ही मात्र कर्तव्य है कि कपड़े बदल लिए और एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले अथवा रेल पर बैठ के एक नगर से दूसरे नगर में चले गए और अँगरेजी अथवा अरबी मिश्रित उरदू में लेकचर दे 2 कर ताली पिटवा आये और घर आ बैठे ?

इस रीति से यदि कुछ प्रभाव होता भी है तो केवल उसी स्वल्प समुदाय पर जो आपकी बतलाई हुई बातों से पहिले भी अविज्ञान न था। पर इस प्रभाव को हम क्या आप भी इस देश पर प्रभाव पड़ना नहीं कह सकते क्योंकि जितनों को आप सुधारने का यत्न करते हैं अथवा कुछ सुधार भी लिया है उतना तो देश का चतुर्थांश भी नहीं है, है भी तो पहिले ही से कुछ सुधर रहा था, फिर आप देश की सेवा करते हैं वा केवल अपने सदृश लोगों के द्वारा प्रशंसा संचय करते हैं ? शहर में आप सौ समाचारपत्र निकालिए, सहस्र समाजें स्थापित कीजिए, लाख पुस्तकें प्रचारित कीजिए, करोड़ लेकचर दीजिए पर देश भर का भला नहीं कर सकते, देश का सच्चा आशीर्वाद नहीं लाभ कर सकते, जब तक उनके उद्धार का प्रयत्न न कीजिए जो जानते भी नहीं हैं कि उद्धार किस चिड़िया का नाम है, देशभक्ति अथवा जाति हितैषिता किस खेत की मूली है, मानव जाति का कर्तव्य क्या है, देश की भूत दशा क्या थी, वर्तमान दशा कैसी है और भविष्यत् के लिये इसके निमित्त किस 2 रीति से क्या 2 करना चाहिए।

हम जिस प्रकार से आज जीवन व्यतीत कर रहे हैं वैसे ही हमारी संतान भी सदा दिन काटती रहेगी अथवा कुछ परिवर्तन भी होगा, इस प्रकार के ज्ञान का प्रचार जिनके लिए आवश्यक है वे यद्यपि अनेकांश में धनी, विद्वान्, विचारशील, प्रतिष्ठित एवं समर्थ नहीं हैं पर मनुष्य वह भी हैं और यदि कोई उनके समझने योग्य भाषा में समझा दे तो समझ सब कुछ सकते हैं। एवं यह कहना भी अत्युक्ति न समझिएगा कि उन्हीं के बनने बिगड़ने का नाम देश का बनना बिगड़ना है। पर क्या कीजिए, जो लोग देश के सुधार का बाना बाँधे हैं वे आज तक इनके सुधारने का नाम ही नहीं लेते। नहीं तो यह लोग वे हैं जो नगर निवासियों की अपेक्षा अधिक निष्कपट, अतिशय कृतज्ञ, बड़े सहिष्णु और महा दृढ़चित्त होते हैं। जिस बात को अच्छा समझ लेते हैं, जिस व्यक्ति वा समूह को अपना समझ लेते हैं, जिस कार्य को करणीय समझ लेते हैं उसके लिए जब तक धोखा न खावँ, तन मन धन से उपस्थित रहते हैं। बरंच अनेकशः प्राण तक दे देने को प्रस्तुत रहते हैं।

इसके अतिरिक्त यह तो एक साधारण बात है कि शीत, ऊष्ण, वर्षा सहने में, दिन भर में दस पंद्रह कोस पाँव 2 चले जाने में किसी की लज्जा, भय, संकोच से निश्िंचत रहने में, काम पड़ने पर कटु वाक्य एवं अयोग्य बर्ताव की उपेक्षा कर जाने में नगर वालों से कहीं उत्तम होते हैं और यही गुण हैं जिनसे प्रत्येक कार्य की सिद्धि संभावित होती है। पर कार्य क्या है यह इनकी समझ में क्या बड़े बड़ों की समझ में आपसे आप नहीं आ सकता। विशेषतः इन दिनों जब कि देश में चारों ओर दरिद्र के प्राबल्य से पेट की चिंता के मारे हमारी बिचार शक्ति उकसने ही नहीं पाती।

ऐसे अवसर में वे लोग आप से आप क्या समझ सकते हैं जिन्होंने स्कूल तथा कालेज का कभी मुँह नहीं देखा, सुवक्ताओं के वचन कभी स्वप्न में नहीं सुने, राजनीतिज्ञों, समाज संस्कारकों, समय की चाल के ज्ञाताओं के द्वार पर भी पहुँचने की क्षमता नहीं रखते। हाँ, यदि आप शहर की गलियों के परिभ्रमण का मोह चटकदार कपड़े वाले मित्रों के संलाप का सुख बाहर सुन के 'पुलक प्रफुल्लित पूरक गाता' हो जाने की लत, हिंदी शब्दों को मुख पर एवं कान तक आने देने से घृणा परित्याग करके कभी 2 अवकाश पाने पर उनकी ओर चला जाना और अपनी ओर से उनकी झिझक मिटाना तथा स्नेहपूर्ण सरल बातों में उन्हें अपना तत्व, उनका स्वत्व, माननीय कर्तव्य का महत्व समझना स्वीकार कीजिए तो थोड़े ही दिनों में देखिएगा कि आपके विचारों की पूर्ति का संतोषदायक सूत्रपात होता है कि नहीं।

धन और जन के द्वारा जितनी सहायता आपके सदनुष्ठानों में आज मिलती है उससे दूनी सहायता मिलने का हम बीमा लेते हैं। दिहात के पुराने गृहस्थ यद्यपि मोड़े और मैले वस्त्र पहिने रहते हैं पर उदारता और उत्साह में आपके कुरता, कोट, छकलियाधारी सहकारियों से चढ़े ही चढ़े निकलेंगे। इसके अतिरिक्त उनका साथ देने वाले भी आपके साथियों से अधिक संख्या और सच्चाई रखते हैं। कसर इतनी ही है कि वे नये जमाने के रंग ढंग से बहुधा अज्ञात हैं।

यदि आप उन्हें समझा देंगे कि थानेदार साहब लाट साहब नहीं हैं कि तनिक 2 सी बात पर तुम्हें धमका के मनमाना बर्ताव कर सकें, उनके ऊपर भी कोई हाकिम है जो विनय सुनने और प्रमाण पाने पर न्याय के द्वारा तुम्हारा काल्पनिक भय मिटा सकता है, हाकिम लोग हौआ नहीं हैं कि तुम उनसे अपना दुःख भी न सुना सको, जब तुम नहर के जल से खेत सींचने के लिए राजस्व दे चुके अथवा अदालत का उचित खर्चा अदा कर चुके तब फिर किसी को कुछ देना न्यायानुमोदित नहीं है, ऐसी दशा में

उच्चाधिकारियों से निवेदन कर देना कोई पाप नहीं है, तुम्हारे घर की स्त्रियाँ बकरी भेड़ नहीं हैं, उनका भी सब बातों में उतना ही अधिकार है जितना तुम्हारा है, अतः उनको अनाद्रित रखना लोक परलोक दोनों में विडंबना का कारण होगा, घर में कन्या का जन्म होना वस्तुतः अभाग्य का चिह्न नहीं है, बराबर के कुल में उसे ब्याह देना कोई पाप नहीं है, केवल भ्रम के कारण घबरा उठना व्यर्थ है, ऐसी 2 अनेक बातें हैं जिन्हें वे समझते भी हैं तो न समझने के बराबर । हाँ, कोई समझाते रहने का बीड़ा उठावे तो वे उसका अवश्य बड़ा उपकार मानेंगे और अपने निर्मूल दुःखों से बच के बड़े उत्साह के साथ प्रत्येक सदनुष्ठान में योग देंगे । जिन 2 ग्रामों में श्री स्वामी दयानंद जी की शिक्षा ने प्रवेश पाया है वहाँ के लोगों ने यह बात प्रत्यक्ष दिखला दी है कि वे उद्योग, उत्साह और दृढ़ता में किसी से कम नहीं हैं । फिर हम नहीं जानते कि हमारे सामाजिक और राजनीतिक उपदेशकर्ता क्यों उनकी ओर अपना प्रभाव नहीं फैलाते ?

क्या मैदानों की साफ ताजी हवा, शुद्ध घी दूध, प्रकृति के स्वाभाविक दृश्य, सीधे सादे देश भाइयों का समागम और उनके उद्धार का यत्न तथा उनके द्वारा अपने कामों में सहाय लाभ करना थोड़े विनोद का हेतु है ? ग्रामों से हमारा प्रयोजन उन जनस्थानों से हैं जो रेल, कचहरी और पक्की सड़क से दस-बारह कोस दूर हैं । वहाँ ईश्वर की ओर से सतयुग का एक चरण अब भी विद्यमान है । पर इधर उधर के मनुष्यों की ओर से कभी 2 नव्वाबी का आविर्भाव हो जाया करता है । यदि हमारे देशवत्सलगण वहाँ जा जाकर अपना कर्तव्य निर्वाह किया करें तो उनका तथा अपना भी बड़ा उपकार कर सकते हैं । क्या बड़ी 2 सभाओं के बड़े 2 व्याख्यानदाता इस बात का स्वयं भी विचार करेंगे ?

खं 7, सं० 6 (15 जनवरी ह० सं० 7)

भेड़ियाधसान

भेड़ियाधसान अथवा भेड़ चाल का अर्थ सभी जानते हैं कि जब भेड़ों का समूह चलता है तो एक के पीछे एक एक के पीछे एक पंक्तिबद्ध होकर चलता है और सबके आगे चलने वाली भेड़ों का अनुगमन इतनी निश्ंचितता के साथ आँखें मींचे शिर झुकाए हुए करता है कि यदि वे कुआँ में गिर पड़ें तो यह भी सब भरभरा के गिर पड़ें । पर यह बात कहने ही सुनने भर की है किसी ने कभी भेड़ों के किसी झुंड को कुएँ में गिरते देखा न होगा । क्योंकि प्रत्येक समूह के साथ एक वा कई गड़रिए अवश्य रहते हैं जो उन्हें नष्ट मार्ग से बचाए हुए सीधे निष्कंटक पथ से चलाते रहे हैं और समूह के चलने के लिए रास्ता भी ऐसा ही लंबा चौड़ा और बराबर होता है जिसमें कुआँ खाता आदि न हो ।

इस रीति से यदि गड़रिया कुछ काल के लिए किसी कार्यवश अलग भी हो जाय तो आगे वालियों का पतन संभव नहीं होता फिर उनके पीछे चलने वाली क्यों गिरने लगीं ? हाँ जो भेड़ें अपने निज

संचालक का बोल नहीं पहिचानतीं, जिसने टिटकारा भर दी उसी की इच्छानुसार चल पड़ती हैं उनका गिर पड़ना संभव है क्योंकि दूसरों को न उनकी ममता होती है न उनके नष्ट होने से कुछ हानि होती है चाहे जिधर हाँक दिया। अथवा जो कोई गई बही भेड़ अपने समुदाय को छोड़ भागती है वह नाश हो सकती है। सारांश यह कि भेड़ों के चलने की यह रीति यदि अनुचितता को न प्राप्त हो तो प्रायः नाश का हेतु नहीं होती वरंच प्रकृति के अनुकूल होने से बुद्धिमानों को उपदेशदायिनी कही जा सकती है।

ईश्वर ने प्रत्येक जीव निर्जीव में एक वा अनेक ऐसे गुण स्थापित कर दिए हैं जिनके द्वारा हमें कुछ न कुछ सुशिक्षा मिलै। महात्मा चाणक्य आदि के 'सिंहादेकं वकादेकं शिक्षिच्चत्वारि कुक्कुटात्' इत्यादि वाक्य इसी आशय पर बने हैं और इसी मूल पर हमें भेड़ों से यह बात सीखनी चाहिए कि अपने निज गणार्य अर्थात् समुदाय के श्रेष्ठ पुरुषों की आज्ञानुसार अपने सजातीय अग्रगंताओं का चुपचाप आँखें मूँदे अनुगमन करने में कोई भय नहीं है। नीति में 'मार्गस्थो नावसीदति' और 'महाजनो येन गतः स पंथा' इत्यादि आज्ञाएँ भी इसी प्रयोजन को दिखलाती हैं फिर हम नहीं जानते लोग भेड़िया-धसान वाली कहावत को बुरे बर्ताव में क्यों लाते हैं ?

आँखें फैला के देखिए तो कभी किसी देश वा जाति में सबके सभी लोग असाधारण बुद्धि बल संपन्न नहीं होते फिर साधारण जनसमूह भेड़ियाधसान के अतिरिक्त और क्या कर सकता है ? अथवा यों कहना उचित है कि भेड़ चाल ग्रहण किए बिना साधारण लोगों का निर्वाह कैसे हो सकता है ? फिर उसके पक्ष में इस शब्द को उपहास की भाँति व्यवहृत करना क्यों कर युक्तियुक्त हो सकता है ? नई रोशनी के आरंभ में यह धूम मची थी और आज तक शांत नहीं हुई कि हिंदुस्तान में भेड़ियाधसान है, यहाँ के लोग पुरानी लक़ीर पर फकीर हैं, कैसा ही कष्ट और हानि हो पर पुराने ढर्रे को छोड़ना नहीं चाहते ! देश का दुर्भाग्य है कि इस प्रकार के आक्षेपों ने बहुतेरों के चित्त पर प्रभाव कर लिया नहीं तो हमारा पुराना रास्ता ज़िस पर हमारे पिता पितामहादि चलते आए हैं किसी भाँति बुरा न था न है न हो सकता है, क्योंकि उसके बतलाने वाले हमारे महर्षिगण थे जिनकी विद्या बुद्धि लोकहितैषिता बहुदर्शिता सूक्ष्मदर्शिता दूरदर्शिता अद्यापि निष्पक्ष विचारशील मनुष्य मात्र की श्रद्धा का आधार है।

उन्होंने अपने समस्त जीवन के महत्परिश्रम जनित अनुभव के द्वारा हमारे लिए जो पंथ नियत किया है उसका यदि हम दृढ़तापूर्वक अवलंबन करें तो केवल हमारा ही लोक-परलोक न बने बरंच हमारा अनुकरण करने वालों का भी सचमुच भला हो। हाँ यदि देश काल की गति हमें पूर्णरूप से उनका आज्ञानुवर्ती होने में बाधा डाले तौ भी यथासामर्थ्य सरलभाव से उन्हीं के निर्दिष्ट मार्ग पर चलना उचित है और इसी में हमारा वास्तविक कल्याण है। भगवान कृष्णचंद्र की आज्ञा भी यही है कि 'स्वधर्में निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'। अतः हमें अपने पूर्वजों की चाल पर हठपूर्वक प्रण करके चलना चाहिए।

इसमें यदि कोई हँसी की रीति पर भेड़ समझे तो हमें चाहिए कि उसे सच्चे जी से गधा समझें। जब कि सभी देश के समझदार अपने पथप्रदर्शकों को अपना गणार्य मानते हैं, मसीही धर्म्मग्रंथ में कई ठौर महात्मा मसीह को गड़रिया Shepherd बरंच वात्सल्य भाव ईश्वर का वर्णन Lamb of God लिखा है। शेखसादी ने बोस्ताँ में महात्मा मुहम्मद की इसी पदवी से स्तुति की है।[1] तो फिर यदि

1. "दरीं बह्‌र जुज मर्दे दाईन रफ्ता गुम आशुद किं दुम्बा ले रईन रफ्ता।"—अर्थात् इस (धर्म व लोक के) समुद्र में अधिकारी के अतिरिक्त और किसी को गमन करने की शक्ति नहीं है तथा जो चरवाह (मुहम्मद साहब) का अनुगमन नहीं करता वह नष्ट हो जाता है।

हम अपने मार्ग दर्शकों को अपना अजाबि पालक और अपने सीधे-सादे निष्कपट पूर्व पुरुषों को अग्रगामी समझ के अपनी छोटी और मोटी समझ का घमंड छोड़ के केवल उन्हीं के पीछे भोली भाली भेड़ों के समान चले जायँ तो क्या बुराई करते हैं ? दूसरों को हँसने में कुछ लगता नहीं है ।

न्याय दृष्टि से देखिए तो भेड़ चाल से बचा कोई भी नहीं है । हम अपने अवतारों और देवता पितरों की मूर्तियों तथा चिह्नों का आदर करते हैं तो दूसरे लोग भी अपने प्रिय और प्रतिष्ठित पुरुषों के चित्र तथा प्रतिमाओं को लातों नहीं मारते । हम अपने बालक बालिकाओं के विवाहादि में हर्षोन्मत्त हो जाते हैं तो दूसरे लोग भी ऐसे आनंद के अवसर पर सिर पीटकर रोते नहीं हैं ।

हम नामवरी तथा धर्म की उमंग में अपने सजातियों और स्वदेशियों पर अपना रुपया लुटा देते हैं तो दूसरे लोग भी ऐसी तरंग में अपने भाइयों के कपड़े लत्ते छीन नहीं लेते । हम रोजगार व्यवहार में अधिक प्राप्ति के लिए झूठ और छल करते हैं तो दूसरे लोग भी मुँह में तुलसी और सोना डाल के कलों और कारखानों का काम नहीं करते । हम अपने से नीच जाति व प्रतिष्ठा वालों के साथ रोटी बेटी का व्यवहार नहीं रखते तो दूसरे लोग भी जिन्हें अपने से तुच्छ समझते हैं उनके साथ खाना पीना तथा ब्याह शादी करना गौरव के विरुद्ध ही समझते हैं । फिर क्यों हममें भेड़ियाधसान है और दूसरों में सिंह गमन है ? और हो भी तो अपनी चाल छोड़ देना कोई बुद्धमानी तथा प्रतिष्ठा नहीं है ।

जो लोग विदेशीय रीति-नीति के पक्षी और भक्ष्याभक्ष्यभक्षी बन बैठे हैं उन्हीं ने कौन सी करतूत कर दिखाई है ? क्या सनातन धर्म छोड़ देने से ईश्वर ने उन्हें गोद में उठा लिया है ? या कोट पतलून पहिनने से अंग्रेजों ने उन्हें अपने बराबर बना लिया है ? फिर किस बात में वह शेर हो गए और हम भेड़ हैं ? और हो भी जायँ तो क्या है हमारी भेड़ चाल से यदि और कुछ न हो तो भी टूटा फूटा बना बिगड़ा हिंदुस्तानीपना बना हुआ है यही क्या थोड़ा है । उनकी बनगैली चुस्त मनमौजी चाल, निरंकुश चाल, बिना नकेल की ऊँट की चाल परमेश्वर न करे यदि पूरी रीति से चल जाय तो हिंदी हिंदू और हिंद का नाम निशान भी न रहे और जिन बातों में वे सुधार होना समझते हैं उनमें जातित्व एवं देशित्व का खोना वरंच अपनेपन के लिए शिर पर हाथ धर के रोना दृष्टि पड़े । अस्मात् हमें चाहिए कि यदि कोई हमारी निज की प्राचीन चाल को भेड़ चाल कहे तो हम उसकी विदेश विधर्म और विजाति वालों से उड़ाई चुराई और नकली चाल को भाँड़ चाल कहें !

हाँ यदि कोई इस बात का पुष्ट और प्रत्यक्ष प्रमाण दे सके कि अपनी चाल छोड़ देने से काल कर्म भाग्य और भगवान की गति सदा के लिए तुम्हारी बशवर्तिनी हो जायगी अथवा बुद्धि विद्या बल और योग्यता के बिना सदा सब ठौर के सब लोग सम्मान करने लगेंगे तो एक बात भी है । नोचेत् किसी मूर्ख की देखा देखी वा किसी चालबाज के कहने-सुनने से अपनी चाल को भेड़ चाल समझना निरी नासमझी है । जो लोग डाक्टरी दवा नहीं खाते वे बुखार आते ही मर नहीं जाते बरंच थोड़े दामों में चिरस्थायी नैरुज्य लाभ कर सकते हैं । जो लोग होटल यात्रा नहीं करते वे भूखों नहीं मरते बरंच खीर पूरी मोहनभोग का भोग लगा सकते हैं और यों ही जीभ गिरी पड़ती हो तो उत्तम से उत्तम मांस तथा केसर कस्तूरी की मदिरा बनवा सकते हैं । जो काँच के गिलास में पानी नहीं पीते वे क्या नहीं जीते ? नहीं मट्टी के कुल्हड़ का सोंधा और ठंढा बरंच फूल पीतल तथा चाँदी सोने के पात्रों का जलपान कर सकते हैं जो लोग गंधैले मट्टी के तेल का लैम्प जला के आँखों की ज्योंति और मस्तिष्क शक्ति की द्योति को मट्टी में नहीं मिलाते वे अँधेरे में नहीं रहते बरंच दीपक और हाँडी 2 मिरदंगी आदि में सरसौं तथा

अरंड का नेत्र प्रभाप्रसारक तैल अथवा अगर की बत्ती प्रज्वलित करके सुहावना प्रकाश लाभ कर सकते हैं ।

जो लोग मारकीन व गिरंट नहीं पहनते वे शीतोष्ण वायु का वेग सहन करके ठिठुर अथवा झौंस नहीं जाते बरंच गाढ़ा और मुरशिदाबादी गर्द तथा कमख्वाब से शरीर की रक्षा एवं शोभा संपादन कर सकते हैं । जो लोग अँगरेजी नहीं पढ़ते वे जीविका से वंचित नहीं रहते बरंच नागरी और संस्कृत का अध्ययन करके लड़के पढ़ाने वा कथा बाँचने के द्वारा भली भाँति पुजा सकते हैं । जो लोग नौकरी के लिए मेरी तेरी सिफारिश उठवाते और बँगलों 2 की ठोकरें खाते फिरना नहीं चाहते वे हाथ की कारीगरी वा छोटा मोटा धंधा करके निर्वाह भर को कमा सकते हैं । बरंच बाबू लोग जहाँ सुन पाते हैं कि जगह खाली है वहाँ महँगी के से मजदूर एक के ठौर पर अनेक दौड़ पड़ते हैं किंतु मजदूर बहुधा ढूँढ़े नहीं मिलते ।

कहाँ तक कहिए यदि अपनी चाल ढाल के काल बुद्धि के कंगाल सब के सब बिलायत जा 2 के बैरिस्टर हो अपना और पूर्णतया अपने रंग ढंग आ फैलावें तो उनके लिए मुअक्किल न जानैं कहाँ से आवैं क्योंकि सारा देश उनकी समझ के अनुसार सुधर जाय और निस्संदेह उनका भित्तल्ला उधड़ जाय । योंही सब के सब सी०एस०आई० राजा नौवाब बन जायँ तौ भी उन्हें नौकर मिलना मुश्किल हो जाय क्योंकि उन्नति का लक्षण ही यह है कि नाई की बरात में सब ठाकुर ही ठाकुर ! किंतु परमेश्वर करे पुरानी चाल भले प्रकार से सबको प्यारी लगने लगे और ब्राह्मण मात्र वेद शास्त्र पुराण इतिहास नीति के पठन पाठन में प्रीति करैं । क्षत्रिय मात्र विद्या और वीरता के नाम पर मरैं । वैश्य देश देशांतर में गमनागमन करके कृषि वाणिज्यादि का प्रण धरैं । शूद्र लोग बाबू बनने का चाव छोड़ सरल भाव से वर्णत्रयी की सेवा और अपनी 2 जाति परंपरा के अनुसार नाना प्रकार का शिल्प संभार करके देश भाइयों के प्रयोजनीय पदार्थों का अभाव हरैं तो देख लीजिए कैसा सुख सौभाग्य सौंदर्य बरसता है । फिर कोई किस मुँह से हमारे भेड़ियाधसान की निंदा कर सकता है ।

भेड़ियाधसान तो जब यहाँ पूर्णरूप से फैला हुआ था तब किसी को कोई दुख दरिद्र था ही नहीं । जब साधारण जन समूह मात्र अपने पुरुषों की चाल पर पूरी रीति से चलता था तब यहाँ सुख संपदा का इतना अजीर्ण था कि लोग राज पाट छोड़ 2 कर वनों में जा बैठते थे और ऊपरी सुखों को तुच्छ समझ के ब्रह्मानंद परमानंद प्रेमानंद लाभ करने में यत्नवान होते थे । यहाँ के एक 2 ब्राह्मण से सारा संसार शिक्षा पाने को तरसता था । एक 2 क्षत्रिय से ब्रह्मांड थर 2 काँपता था । विदेशी सम्राट कन्या दान करने में अपनी बड़ाई और बल की अधिकाई समझते थे । एक 2 वैश्य धन पर आज भी बड़े 2 परदेशी जार लार टपकाते हैं । फिर हमारी भेड़ चाल को कोई किस बुद्धि से बुरा कह सकता है । हमारी वर्तमान दुर्गति का कारण भेड़ चाल की पूर्ण श्रद्धा का ह्रास ही है नहीं तो वास्तविक अभाव किसी सद्गुण का नहीं है ।

आज भी हम उसी को ग्रहण करके सर्वथा सुधर सकते हैं । इसमें जिसको संदेह हो वह स्वयं परीक्षा कर देखे । पढ़ा हो तो किसी ग्रंथ का, न पढ़ा हो तो किसी पुराने कैंड़े वाले वृद्ध का वचन प्रमाण माप के उसी के अनुसार यथासाध्य सब काम करने का वृती हो जाय । फिर देख लेगा कि भेड़ चाल में कैसा सुख है, कैसा सुभीता है, कैसी बड़ाई है । और यों तो जिनकी मति बुरी है, प्रकृति बुरी है, संगति बुरी है उनके लिए सभी कुछ बुरी है, निजत्व बुरा है, निज धर्म बुरा है, निज देश, निज जाति, निज पूर्वज

समूह बुरा है । उनके आगे भेड़ चाल है ही क्या ।

यद्यपि चलते वह भी भेड़ों ही की भाँति हैं पर उन भेड़ों के पीछे जो पथ दर्शक की परवा नहीं रखतीं केवल अपनी ही इच्छा से चल देती हैं । वे यदि दूसरों की चाल को भेड़ चाल बतावें तो खैर जीभ के आगे खाई खन्दक तौ हई नहीं कि गिर पड़ेंगी, जैसा चाहें वैसा चला दें । पर वास्तव में भेड़ चाल बुरी नहीं है, विशेषतः आर्य जाति के लिए, पर यदि चलते बने, क्योंकि हमारे मार्ग नियंता सचमुच हमारे हैं और हमें सतचित से प्यार करते हैं और बस ।

खं० 8, सं० 7 (फरवरी, ह० सं० 8)

बाल्यविवाह

वस्तुतः बुरा नहीं है । जो लोग कहते हैं कि बर कन्या की इच्छा से होना चाहिए उन्हें यह भी समझना उचित है कि पच्चीस वर्ष का पुरुष और सोलह वर्ष की स्त्री विद्या तथा बुद्धि चाहे जितनी रखती हो पर सांसारिक अनुभव में पूर्ण दक्षता नहीं प्राप्त कर सकती । वुह जगत की गति देखते ही देखते आती है और उन दोनों के माता पिता कैसे ही क्यों न हों पर अनुभवशीलता में उनसे अधिक ही होते हैं क्योंकि उन्होंने दुनिया देखी है तथा अपने संतान का सच्चे जी से कल्याण चाहना प्राणीमात्र का स्वभाव है एवं वैवाहिक बंधन ऐसा है कि जन्मपर्यन्त उसका दृढ़ रहना ही श्रेयस्कर है । इन नियमों को दृष्टि में रख के विचार कीजिए तो जान जाइएगा अपनी संतति के भविष्यत हिताहित का ज्ञान जितना वृद्ध पिता माता को हो सकता है उतना उनके युवा लड़का लड़की को होना कठिन है । अतः बर कन्या की इच्छा की अपेक्षा उनके जनक जननी की इच्छा अधिक श्रेष्ठ है ।

हाँ, उनके अभाव में दम्पति की इच्छा का अनुसरण ठीक हो सकता है । सिद्धांत यह कि माँ बाप की इच्छा से विवाह होना दूषित नहीं है बरंच बर कन्या की इच्छा से कुछ अधिक ही गौरवमान है । जो लोग ब्याह काज की धूम धाम को बुरा समझते हैं उन्हें भी समझना चाहिए कि पुत्र जन्म और विवाह के समय मनुष्य मात्र का चित्त उमगता है, उसे रोकने की शक्ति मौखिक उपदेशों को तो है नहीं । हाँ धीरे 2 स्वभाव बदलते 2 जाति स्वभाव न जाय तो बात न्यारी है । सो इसकी भी संभावना असाध्य नहीं तो कष्टसाध्य तो है ही । फिर इस विषय में कोलाहल से क्या होना है ?

इसके अतिरिक्त ऐसे अवसर पर जो व्यय होता है वह अपने ही जामातृ, अपनी ही पुत्रबधू, अपने ही समधी तथा अपने ही वा उनके ही, जो वस्तुतः अपने हैं, भैयाचारों, नातेदारों वा कुल पुरोहितों को दिया जाता है । अथच ऐसों को देना ऐसा नहीं है कि किसी न किसी समय लौट के न आ सके । जिन्हें हम देते हैं उन्हें अपना विश्वासपात्र व्यवहारी बना लेते हैं । आज जिसे हमने दश रुपए दिए वह कल परसों हमारी दुकान पर आवैगा और किसी सौदा कमिश कुछ न कुछ मुनाफा दे जावैगा । इस रीति

से जो कुछ हमने दिया है उससे अधिक फेर पावैंगे । अथवा यह नहीं तौ भी जिन्हें हम समय 2 पर देते रहते हैं वह गाढ़े समय में कहाँ तक हमारे काम न आवैंगे ।

अपने देश जात्यादि वालों के सच्चे हितैषी जैसे बहुत थोड़े होते हैं वैसे ही ऐसे तुच्छ प्रकृति वाले भी बहुत थोड़े होते हैं जिन्हें अपने सजातीय सदेशीय सहवर्ती की पीर कसक तनिक भी नहीं । फिर बतलाइए तो ब्याह शादी में जी खोलकर खर्च करना क्या बुरा है ? रुपया कहीं विदेश तो जाता ही नहीं कि फिर कभी पलट के न आवै । हाँ, सामर्थ्य से बहुत ही बाहर घर फूँक तमाशा देखना अच्छा नहीं है । सो ऐसा कोई समझदार करता भी नहीं है ।

जिसे सुभीता न होगा अथवा आज एक राह से लुटा के कल दूसरी राह से कमा लेने की आशा न होगी वह उठावैहीगा क्या ? इससे वित्त भर खर्च करना भी कोई पाप नहीं है । अब जिन लोगों के मत में लड़कपन का विवाह बलवीर्य का नाशक है और इसी तरंग में वे शीघ्र बोधकारक श्री काशीनाथ भट्टाचार्य को बुरा भला बका करते हैं उन्हें देखना चाहिए कि उक्त ग्रंथ उक्त विद्वान की निज कृति नहीं है, उन्होंने संग्रह मात्र किया है और पहिले ही कह दिया है कि 'क्रियते काशिनाथेनशीघ्रबोधाय संग्रहः' अथच 'अष्टवर्षा भवेद्गौरी' इत्यादि बाल्यविवाह विषयक कतिपय श्लोक कई एक स्मृतियों के हैं फिर उनके लिए काशिनाथ को कुछ कहना "मारूँ घुटना फूटै आँख" का उदाहरण बनना है । यदि दोष हो तो स्मृतिकारकों का है । सो भी नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने जहाँ कन्या की विवाह योग्य अवस्था आठ, नौ वा दश वर्ष की ठहराई है वहीं "कन्याया द्विगुणोवरः" भी लिख रक्खा है और बधू का पति के घर जाना भी सात-पाँच अथवा तीन वर्ष के उपरांत नियत किया है ।

इस लेख से शास्त्र के अनुसार जिस कन्या का ब्याह आठवीं वर्ष होगा उसका गौना सात वर्ष में होना चाहिए । तब तक वह आठ और सात पंद्रह वर्ष की हो जायगी और उसका पति जो ब्याह के समय सोलह वर्ष का था इस समय सोलह सात तेईस वर्ष का हो जायगा । यों ही नौ वर्ष वाली कन्या पाँच सात वर्ष के उपरांत चौदह सोलह वर्ष की होगी तथा उसका स्वामी तेईस पचीस वर्ष का एवं दश वर्ष वाली तेरह पंद्रह वा सत्रह वर्ष की अथच उसका भर्तार, तेईस, पच्चीस, सत्ताईस वर्ष का हो रहेगा ।

यदि किसी के माता पिता मोहवशतः गौने का ठीक समय न सह सकें तो वह बहुत ही शीघ्रता के मारे आठ वर्ष की कन्या सोलह वर्ष के वर को दान करेंगे और उसे पति के यहाँ तीसरे वर्ष भेजेंगे तब लड़की की बयस 8 + 3 = 11 वर्ष की और उसके पति की 16 + 3 = 19 वर्ष की होगी । उसके लिए रैने के बिधि है जो गौने के एक वर्ष पीछे होता है । तब भी बारह वर्ष की कन्या और बीस वर्ष का बर हो जायगा तथा यह बारह और बीस एवं उपर्युक्त अवस्थाएँ सहवास के लिए न वैद्यक के मत से दूषणीय हैं न डाक्टरी सिद्धांत से निंदनीय हैं न सर्कार की आज्ञा से दंडनीय हैं । और इस मूल पर यह तो बाल्य विवाह के द्वेषी महाशय भी मानेंहीगे कि यदि शारीरिक, मानसिक व सामाजिक बाधा उत्पन्न होती हैं तो छोटी आयु के समागम से होतीं हैं न कि विवाह मात्र से ।

सो उस (स्वल्पायु सहवास) की शास्त्र में कहीं आज्ञा ही नहीं है, केवल कन्यादान के लिए अनुशासन है । उससे और सहबास से वर्षों का अंतर पड़ जाता है । फिर बतलाइए शास्त्रानुमोदित बाल्य विवाह दूषित है अथवा हमारी वैवाहिक रीति से निंदकों की बुद्धि कलुषित है और उन मूर्खों की समझ धिक्कार के योग्य है जो आर्यसंतान कहलाकर शास्त्र के आज्ञापालक बनकर करते अपने मन का हैं किंतु नाम शास्त्र का बदनाम करते हैं । उसकी आज्ञा जो अपने अनुकूल ही मानते हैं और दूसरी आज्ञाएँ जो

धर्म्मशास्त्र और चिकित्सा शास्त्र के अनुकूल किंतु उनकी दुर्मति के प्रतिकूल हों उन्हें उल्लंघन करते हैं।

हमारी समझ में, बरंच प्रत्येक समझ वाले की समझ में, तो न शास्त्र में दोष लगाना चाहिए न काशिनाथ महोदय को अवान्य शब्द कहना चाहिए। केवल उन्हीं के ऊपर थूकना चाहिए जो शास्त्र का नाम ले के अपने पागलपन से काम लेते हैं और तद्वारा अपनी संतति का जन्म नशाते हैं तथा देश परदेश में अपने साथ 2 अपने शास्त्रकारों की भी हँसी कराते हैं। सिद्धांत यह कि यदि शास्त्र की तद्विषकीय आज्ञा का ठीक 2 अनुगमन किया जाय तो बाल्यविवाह में किसी प्रकार का दोष नहीं।

खं० 8, सं० 8 (मार्च, ह० सं० 8)

प्रतिष्ठा केवल प्रेमदेव की है

नहीं तो जो दो हाथ दो पाँव एक मुँह एक नाक इत्यादि आपके हैं वही हमारे भी हैं। जैसे हाड़ मांस लोहू चमड़े आदि का बना हुआ आपका शरीर है वैसे ही हमारा भी है। खाने पीने सोने जागने हँसने रोने जीने मरने आदि में भी आप और हम बराबर ही हैं। फिर आपके कौन सा सुर्खाब का पर लगा हुआ है कि हम आपको मन से प्रसन्न रखना चाहते हैं, तन से सेव्य बनाने पर उद्यत रहते हैं तथा वचन से स्वामी जी गुरू जी महात्मा जी राजा साहब बाबू साहब मुंशी साहब हुजूर खुदाबंद बंदापरवर प्यारे प्राणाधार, जीवितेश्वर इत्यादि कहा करते हैं ? इसके उत्तर में यदि आप कहिए कि हमारे पास बहुत सा धन है, बहुत सी विद्या है, बड़ी भारी बुद्धि है, बड़ा भारी बल है, हम बड़े लिक्खवाड़ हैं, बड़े बोलनेवाले हैं, बड़े न्यायी हैं, बड़े प्रबंध कर्ता हैं, बड़े दाता हैं, बड़े सुंदर हैं, बड़े मनोहर हैं फिर क्यों न हमारी खुशामद करोगे ?

इसका जवाब हमारे पास भी मौजूद है कि आप जो कुछ हैं अपने लिए हैं हमें क्या ? आपकी विद्या से हम विद्वान न हो जायँगे, आपके धन बलादि से धनी बली इत्यादि न बन जायँगे फिर हम क्यों चुटकी बजाते हैं ? यह तो कभी संभव ही नहीं है कि आप ही ईश्वर के यहाँ से सब बातों का ठेका ले आए हों अब कोई किसी अंश में आपकी समता न कर सकता हो। संसार में एक से एक इक्कीस वर्तमान हैं।

हमारे देखे सुने हुए कई ऐसे हैं जो आपसे कहीं चढ़े बढ़े प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं पर हम उनका नाम भी आपके सामने नहीं लेते बरंच आपका उनका सामना पड़ जाय तो आपकी तरफ हो के उनकी लेव देव कर डालने में कोई कसर उठा रखने को पाप समझें, चाहे वह हमसे कैसी ही जाहिरदारी का बर्ताव क्यों न करें और आप चाहे हमें सीधी आँखों देखना भी अपनी शान बईद समझते हों पर हम आपका मनसा वाचा कर्मणा आदर ही करते हैं और ईश्वर कोई विघ्न न डाले तो इरादा यही रखते हैं कि 'मरते रहेंगे तुम ही पे जीते हैं जब तलक'। यह क्यों ? केवल इसी कारण कि हम आपके रूप गुण स्वभाव आदि में से किसी वा सभी बात से प्रेम रखते हैं। अथवा आप हमारे प्रेम का गुण न जानने के हेतु से हमारे आचरणादि का उचित सम्मान न कीजिए तो भी आपके चार काम कर देने से हमें थोड़ा

बहुत रुपया मिल रहता है । आपके साथ रहने से हमारे सताने वाले दबे रहते हैं । आपकी बात सुनने से हमें बहुत सी मतलब की बातें मालूम होती हैं । आपकी छाया से हमें सुभीता मिलता है, आपके दर्शन से हमारी आँखें ठंडी होती हैं इसी से हम 'बिन आदर पाये हू बैठि ढिगै अपनी रुख दै रुख लीजत हैं ।' यह भी आपके साथ संबंध रखने वाला प्रेम न सही तथापि हमारा आत्मसंबंधी प्रेम है ! इन दोनों बातों पर सूक्ष्म विचार कर सकने पर क्या आप न कह देंगे कि प्रतिष्ठा केवल प्रेमदेव की है ।

यही नहीं कि हमीं आप आत्मगत अथवा भवदीय प्रेम के कारण एक दूसरे की प्रतिष्ठा करते हों । संसार में विचार कर देखिए तो सभी सब छोटे बड़े बराबर वालों का प्यार सत्कार केवल प्रेम के कारण करते हैं । हम अपने पुत्र कलत्र शिष्य सेवक वरंच कुत्ते और जूते तक को बिगाड़ना नहीं चाहते । तन मन धन से इन्हें सुधारने में लगे रहते हैं । यह बिगड़ें तो हमारी इज्जत बिगाड़ दें । माता पितादि पूज्य व्यक्ति कुंठित हों तो लोक-परलोक के काम का न रक्खें । भाई भगिनी इष्ट मित्रादि प्रतिकूल हो जायें तो हमें जीवनयात्रा में कंटक ही कंटक दृष्टि पड़ने लगें । इसी से हमें सबका आदर मान करना पड़ता है पर यह सब वास्तव में किसका है ?

इसके उत्तर में विचारशक्ति कहती है 'प्रेम देवस्य केवलम्' । जिनसे हमें प्रेम है उन्हीं को हम डरते हैं उन्हीं की प्रतिष्ठा करते हैं और इसी से हमारा तथा उनका निर्वाह होता है नहीं तो किसी के बिना किसी का कोई काम अटक नहीं रहता फिर क्यों कोई किसी को कुछ पूछे ? सबके सभी 'ना हम काहू के कोऊ न हमारा' वाला सिद्धांत ले बैठें और दुनिया के सारे खेल बिगड़ विगुड के बराबर हो जायँ ! पर वे प्रेमदेव ही हैं जो सबके मध्य अपना प्रकाश करके सभी का काम चलाए जाते हैं और इसी में सबकी प्रतिष्ठा भी है । अस्मात् हमें यह कहने से कौन रोक सकता है कि प्रतिष्ठा केवल प्रेमदेव की है !

एक बार दो भाइयों में झगड़ा हुआ तो एक ने कहा 'हमें अलग कर दो हमारा तुम्हारे साथ रहने में निवाह नहीं है ।' इस पर दूसरे बुद्धिमान् बंधु ने उत्तर दिया कि 'अलग होने में लगता ही क्या है ? न तुम्हारे कपड़े मेरे अंग में ठीक होते हैं न मेरे तुम्हारे देह को उपयुक्त होते हैं । न मेरे खाने पीने से तुम्हारी भूख प्यास बुझती है न तुम्हारे भोजन करने से मेरा पेट भर जाता है । तुम्हारी स्त्री तुम्हारा पुत्र तुम्हारे कार्योपयोगी पदार्थ मेरे नहीं कहलाते, मेरे हैं वह तुम्हारे काम नहीं आते । केवल आपस का स्नेहभाव था जिसके कारण मैं तुम्हारे दुख सुख को अपना दुख सुख समझकर अपने कामों का हर्ज करके तुम्हारी सहायता करता था और एक घर में दो गृहस्थियों के झंझट झेलता था । वह भाईपन अब नहीं रहा तो फिर अलग तो परमेश्वर ही ने किया है ।

'जैसे सब वस्तु अलग हैं वैसे ही दो तीन पैसे का तवा ले आवो रोटी भी अलग पका करे बनाने वाले की आधी मिहनत बचेगी । एक को दूसरे के दुःख में हाय 2 करके दौड़ना न पड़ेगा बस छुट्टी हुई । रही दूसरों की दृष्टि में हमारी तुम्हारी भलमनसी, वह नित्य की दाँताकिलकिल के मारे जैसे अब नहीं है वैसे ही तब न रहेगी फिर उसका झींखना ही क्या ?' पाठक महाशय ! यह कथा हमारी गढ़ी हुई नहीं है आँखों देखी हुई है और आशा है कि आपने भी ऐसे अवसर देखे न होंगे तो सुने होंगे, सुने भी न हों तो समझ सकते हैं कि ऐसा होना प्रेम के अभाव में असंभव नहीं होता । फिर क्या ऐसी 2 बातें देख सुन सोच समझकर भी कोई समझदार न कह देगा कि प्रतिष्ठा केवल प्रेमदेव की है ।

यदि सांसारिक उदाहरणों से जी न भरता हो तो कृपा करके बतलाइए तो आपके परमार्थ का मूल धर्मग्रंथ कागज स्याही और समझ में आ जाने वाली बातों के सिवा क्या है जो एक दियासलाई से जल

के राख और चुल्लू भर पानी से गल के आटे की सी लोई हो सकते हैं। देव मंदिर देव प्रतिमा क्या हैं? केवल मट्टी पत्थर चूना आदि का विकार, जो हमारे बचाए बिना बच नहीं सकते और अपने गाल पर बैठी हुई मक्खी उड़ाने की शक्ति नहीं रखते।

ऋषि मुनि पीर पैगंबर इत्यादि क्या हैं? सहस्रों वर्ष के मरे हुए मुरदे, जिनकी अब ढूँढ़ने से हड्डियाँ भी नहीं मिल सकतीं। इन प्रश्नों से आप हमें दयानंदी समझते हों तो हम पूछेंगे कि परब्रह्म परमेश्वर ही क्या है, केवल एक शब्द मात्र ही, जिसके लक्षण ही में अपनी 2 डफली अपने 2 राग का लेखा है, अस्तित्व का तो सपने में भी सिद्ध होना लोहे के चने हैं। फिर हम इन सबको क्यों अपने लोक परलोक का आधार समझते हैं? क्यों हम इनके निंदकों को नास्तिक समझकर शास्त्रार्थ बरंच शस्त्रास्त्र तक से मर्दन करने पर उतारू होते हैं? क्या इसका उत्तर एकमात्र यहीं नहीं है कि हमें अपने धर्म कर्म देव पित्रादि से प्रेम है इसी से प्रत्यक्ष प्रमाण न पाने पर भी तन पर कष्ट धन की हानि उठाने पर भी सच्चे मन से इनकी ऐज्जत करते हैं फिर हमारे इस कथन का आप क्योंकर विरोध कर सकेंगे कि प्रतिष्ठा केवल प्रेमदेव की है।

आप नास्तिक हों तो हमें आपसे शास्त्रार्थ करने का रोग नहीं है पर केवल इतना पूछेंगे कि दुनिया में किसी को कुछ मानते हो या नहीं? यदि कहिएगा—हाँ तो फिर हमारा प्रश्न यही होगा कि—हाँ, तो क्यों?—अथवा हठ के मारे कह दीजिए—नहीं—तो हम कहेंगे यह हो नहीं सकता कि आप अपने जीवन को भी न मानते हों, उसको सुखित सुरक्षित बनाए रखना अच्छा न जानते हों।

इन सब बकवादों के पीछे अंत में हार मान के यही मानना पड़ेगा कि जिससे हम प्रेम रखते हैं उसकी प्रतिष्ठा करते हैं। अतः अखंडनीय सिद्धांत यही है, परमोत्कृष्ट श्रेणी वाली बुद्धि का निचोड़ यही है, पाताल से ले के सातवें आकाश तक कोई दौड़ जाय तो जड़चेतनमयी सृष्टि वरंच स्वयं सृष्टिकर्ता को अपनी 2 बोली में यही मंत्र पढ़ते हुए सुनेगा कि प्रतिष्ठा केवल प्रेमदेव की है। इससे जिसे जितनी अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त करके अपना अपने लोगों का जीवन सफल करना हो उसे चाहिए कि उतनी ही अधिक प्रेमदेव की आराधना करे क्योंकि चींटी से लेकर ब्रह्म तक उन्हीं के बनाए प्रतिष्ठित बनते हैं नहीं तो किसी में कुछ भी तत्व नहीं है किसी का कुछ भी सत्व नहीं है। तंत की बात यही है कि प्रतिष्ठा केवल प्रेमदेव की है।

खं० 9, सं० 4 (नवंबर ह० सं० 8)

होली है

तुम्हारा सिर है! यहाँ दरिद्र की आग के मारे होला (अथवा होरा—भुना हुवा हरा चना) हो रहे हैं, इन्हें होली है, हें!

अरे कैसे मनहूस हो ? बरस 2 का तिवहार है, उसमें भी वही रोनी सूरत ! एक बार तो प्रसन्न होकर बोलो, होरी है !

अरे भाई हम पुराने समय के बंगाली भी तो नहीं हैं कि तुम ऐसे मित्रों की जबरदस्ती से होरी (हरि) बोल के शांत हो जाते । हम तो बीसवीं शताब्दी के अभागे हिंदुस्तानी हैं जिन्हें कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवादि किसी में भी कुछ तंत नहीं है । खेतों की उपज अतिवृष्टि, अनावृष्टि, जंगलों का कट जाना, रेलों और नहरों की वृद्धि इत्यादि ने मट्टी कर दी है । जो कुछ उपजता भी है वह कट के खलिहान में नहीं आने पाता, ऊपर ही ऊपर लद जाता है । रुजगार ब्यौहार में कहीं कुछ देखी नहीं पड़ता । जिन बाजारों में अभी दस बरस्र भी नहीं हुए कंचन बरसता था, वहाँ अब दूकानें भाँय 2 होती हैं । देशी कारीगरों को देश ही वाले नहीं पूछते । विशेषतः जो छाती ठोंक 2 ताली बजवा 2 कागजों के तखते रंग 2 कर देशहित के गीत गाते फिरते हैं वह और भी देशी वस्तु का व्यवहार करना अपनी शान से बईद समझते हैं । नौकरी बी०ए०, एम०ए० पास करने वालों को भी उचित रूप में मुश्किल से मिलती है । ऐसी दशा में हमें होली सूझती है कि दिवाली !

यह ठीक है । पर यह भी तो सोचो कि हम तुम वंशज किनके हैं ? उन्हीं के न जो किसी समय बसंतपंचमी ही से—

'आई माघ की पाँचैं बूढ़ी डोकरियाँ नाचैं' का उदाहरण बन जाते थे, पर जब इतनी सामर्थ्य न रही तब शिवरात्रि से होलिकोत्सव का आरंभ करने लगे । जब इसका भी निर्वाह कठिन हुआ तब फागुन सुदी अष्टमी से—

होरी मध्ये आठ दिन, ब्याह माह दिन चार ।
शठ पंडित, वेश्या वधू सबै भए इकसार ॥

का नमूना दिखलाने लगे । उन्हीं आनंदमय पुरुषों के बंश में होकर तुम ऐसे मुहर्रमी बन जाते हो कि आज तेवहार के दिन भी आनंद बदन से होली का शब्द तक उच्चारण नहीं करते । सच कहो, कहीं होली बाइबिल की हवा लगने से हिंदूपन को सलीब पर तो नहीं चढ़ा दिया ?

तुम्हें आज क्या सूझी है जो अपने पराए सभी पर मुँह चला रहे हो ? होली बाइबिल अन्य धर्म का ग्रंथ है । उसके मानने वाले विचारे पहिले ही से तुम्हारे साथ का भीतरी बाहिरी संबंध छोड़ देते हैं । पहिली उमंग में कुछ दिन तुम्हारे मत पर कुछ चोट चला भी दिया करते थे, पर अब बरसों से वह चर्चा भी न होने के बराबर हो गई है । फिर उन छुटे हुए भाइयों पर क्यों बौछार करते हो ? ऐसी ही लड़ास लगी हो तो उनसे जा भिड़ो जो अभी तुम्हारे ही दो चार मान्य ग्रंथों के मानने वाले बनते हैं, पर तुम्हारे ही देवता पितर इत्यादि की निंदा कर 2 के तुम्हें चिढ़ाने ही में अपना धर्म और अपने देश की उन्नति समझते हैं ।

अरे राम राम ! पर्व के दिन कौन चरचा चलाते हो ! हम तो जानते थे तुम्हीं मनहूस हो, पर तुम्हारे पास बैठे सों भी नसूढ़िया हो जाय । अरे बाबा दुनिया भर का बोझा परमेश्वर ने तुम्हीं को नहीं लदा दिया । यह कारखाने हैं, भले बुरे लोग और दुःख सुख की दशा होती ही हुवाती रहती है । पर मनुष्य को चाहिए कि जब जैसे पुरुष और समय का सामना आ पड़े तब तैसा बन जाय । मन को किसी झगड़े में फँसने न दे ।

आज तुम सचमुच कहीं से भाँग खा के आए हो । इसी से ऐसी बेसिर पैर की हाँक रहे हो । अभी

कल तक प्रेम सिद्धांत के अनुसार यह सिद्ध करते थे कि मन का किसी ओर लगा रहना ही कल्याण का कारण है और इस समय कह रहे हो कि 'मन को किसी झगड़े में फँसने न दे' । वाह, भला तुम्हारी किस बात को मानें ?

हमारी बात मानने का मन करो तो कुछ हो ही न जाओ । यहीं तो तुमसे नहीं होता । तुम तो जानते हो कि हम चोरी चहारी सिखावेंगे ।

नहीं यह तो नहीं जानते । और जानते भी हों तो बुरा न मानते क्योंकि जिस काल में देश का अधिकांश निर्धन, निर्बल, निरुपाय हो रहा है, उसमें यदि कुछ लोग 'बुभुक्षितः किं न करोति पापं' का उदाहरण बन जायँ तो कोई आश्चर्य नहीं है । पर हाँ यह तो कहेंगे कि तुम्हारी बातें कभी 2 समझ में नहीं आतीं । इससे मानने को जी नहीं चाहता ।

यह ठीक है, पर याद रक्खो कि हमारी बातें मानने का मानस करोगे तो समझ में भी आने लगेंगी, और प्रत्यक्ष फल भी देंगी ।

अच्छा साहब मानते हैं, पर यह तो बतलाइए, जब हम मानने के योग्य ही नहीं हैं तो कैसे मान सकते हैं ?

छिः क्या समझ है ! और बाबा ! हमारी बातें मानने में योग्य होना और सकना आवश्यक नहीं है ! जो बातें हमारे मुँह से निकलती हैं वह वास्तव में हमारी नहीं हैं, और उनके मानने की योग्यता और शक्ति हमको तुमको क्या किसी को भी तीन लोक और तीन काल में नहीं है । पर इस में भी संदेह न करना कि जो कोई चुपचाप आँखें मींच के मान लेता है वह परमानंद भागी हो जाता है ।

हिं हि ! ऐसी बातें मानने तो कौन आता है, पर सुनकर परमानंद तो नहीं, हाँ मसखरेपन का कुछ मज़ा जरूर पा जाता है ।

भला हमारी बातों में तुम्हारे मुँह से हि हि तो निकली ! इस तोबड़ा से लटके हुए मुँह के टाँकों के समान दो तीन दाँत तो निकले । और नहीं तो मसखरेपन ही का सही, मजा तो आया । देखो, आँखें मट्टी के तेल की रोशनी और कुल्हिया के ऐनक की चमक से चौंधिया न गई हों तो देखो । छत्तिसौ जात वरंच अजात के जूठे गिलास की मदिरा तथा भच्छ अभच्छ की गंध से अक्किल भाग न गई हो तो समझो । हमारी बातें सुनने में इतना फल पाया है तो मानने में न जाने क्या प्राप्त हो जायगा । इसी से कहते हैं, भैया मान ज़ाव, राजा मान जाव, मुन्ना मान जावो । आज मन मार के बैठे रहने का दिन नहीं है । पुरखों के प्राचीन सुख संपत्ति को स्मरण करने का दिन है । इससे हँसो, बोलो, गाओ, बजाओ, त्यौहार मनाओ और सबसे कहते फिरो—होली है !

हो तो ली ही है ! नहीं तो अब रही क्या गया है ।

खैर, जो कुछ रह गया है, उसी के रखने का यत्न करो, पर अपने ढंग से, न कि विदेशी ढंग से । स्मरण रक्खो कि जब तक उत्साह के साथ अपनी ही रीति नीति का अनुसरण न करोगे तब तक कुछ न होगा । अपनी बातों को बुरी दृष्टि से देखना पागलपन है । रोना निस्साहसों का काम है । अपनी भलाई अपने हाथ से हो सकती है । माँगने पर कोई नित्य डबल रोटी का टुकड़ा भी न देगा । इससे अपनपना मत छोड़ो । कहना मान जाव । आज होली है ।

हाँ हमारा हृदय तो दुर्दैव के बाणों से पूर्णतया होली (होल—अँगरेजी में छेद को कहते हैं, उससे युक्त) है ! हमें तुम्हारी सी जिंदादिली (सहृदयता) कहाँ से सूझे ?

तो सहृदयता के बिना कुछ आप कर भी नहीं सकते, यदि कुछ रोए पीटे दैवयोग से हो भी जायगा तो 'नकटा जिया बुरे हवाल' का लेखा होगा। इससे हृदय में होल (छेद) हैं तो उन पर साहस की पट्टी चढ़ाओ। मृतक की भाँति पड़े 2 काँखने से कुछ न होगा। आज उछलने ही कूदने का दिन है। सामर्थ्य न हो तो चलो किसी हौली (मद्यालय) से थोड़ी सी पिला लावें जिसमें कुछ देर के लिए होली के काम के हो जाओ, यह नेस्ती काम की नहीं।

वाह तो क्या मदिरा पिलाया चाहते हो ?

यह कलजुग है। बड़े 2 वाजपेयी पीते हैं। पीछे से बल बुद्धि, धर्म धन, मान प्रान सब स्वाहा हो जाय तो बला से ! पर थोड़ी देर उसकी तरंग में "हाथी मच्छर, सूरज जुगनू" दिखाई देता है। इससे और मनोविनोद के अभाव में उसके सेवकों के लिए कभी 2 उसका सेवन कर लेना इतना बुरा नहीं है जितना मृतचित्त पर बैठना। सुनिए ! संगीत, साहित्य, सुरा और सौंदर्य के साथ यदि नियमविरुद्ध बर्ताव न किया जाय तो मन की प्रसन्नता और एकाग्रता कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता है, और सहृदयता की प्राप्ति के लिए इन दो गुणों की आवश्यकता है, जिनके बिना जीवन की सार्थकता दुःसाध्य है।

बलिहारी है महाराज इस क्षणिक बुद्धि की। अभी तो कहते थे कि मन को किसी झगड़े में फँसने न देना चाहिए, और अभी कहने लगे कि मन की एकाग्रता के बिना सहृदयता तथा सहृदयता के बिना जीवन की सार्थकता दुःसाध्य है। धन्य हैं यह सरगापत्ताली बातें ! भला हम आपको अनुरागी समझें या विरागी ?

अरे हम तो जो हैं वही हैं, तुम्हें जो समझना हो समझ लो। हमारी कुछ हानि नहीं है। पर यह सुन रक्खो, सीख रक्खो, समझ रक्खो कि अनुराग और विराग वास्तव में एक ही हैं। जब तक एक ओर अचल अनुराग न होगा तब तक जगत के खटराग में विराग नहीं हो सकता, और जब तक सब ओर से आंतरिक विराग न हो जाय तब तक अनुराग का निर्वाह सहज नहीं है। इसी से कहते हैं कि हमारी बातें चुपचाप मान ही लिया करो, बहुत अक्किल को दौड़ा 2 के थकाया न करो। इसी में आनंद भी आता है, और हृदय का कपाट भी खुल जाता है। साधारण बुद्धि वाले लोग भगवान भूतनाथ श्मसानबिहारी, मुंडमालाधारी को वैराग्य का अधिष्ठाता समझते हैं, पर वह आठों पहर अपनी प्यारी पर्वतराजनंदिनी को वामांग ही में धारण किए रहते हैं, और प्रेमशास्त्र के आचार्य हैं।

इसी प्रकार भगवान कृष्णचंद्र को लोग श्रृंगार रस का देवता समझते हैं पर उनकी निर्लिप्तता गीता में देखनी चाहिए जिसे सुना के उन्होंने अर्जुन का मोहजाल छुड़ा के वर्तमान कर्तव्य के लिए ऐसा दृढ़ कर दिया था कि उन्होंने सबकी दयामया, मोहममता को तिलांजलि दे के मारकाट आरंभ कर दी थी। इन बातों से तत्वग्राहिणी समझ भली भाँति समझ सकती है कि भगवान प्रेमदेव की अनंत महिमा है ! वहाँ अनुरागविराग, सुखदुःख, मुक्तिसाधन सब एक ही हैं। इसी से सच्चे समझदार संसार में रहकर सब कुछ देखते सुनते, करते धरते हुए भी संसारी नहीं होते। केवल अपनी मर्यादा में बने रहते हैं। और अपनी मर्यादा वही है जिसे सनातन से समस्त पूर्वपुरुष रक्षित रखते आए हैं, और उनके सुपुत्र सदा मानते रहेंगे। काल, कर्म, ईश्वर, अनुकूल हो या प्रतिकूल, सारा संसार स्तुति करे वा निंदा, बाह्य दृष्टि से लाभ देख पड़े वा हानि, पर वीर पुरुष वही है जो कभी कहीं किसी दशा में अपनेपन से स्वप्न में भी विमुख न हो। इस मूल मंत्र को भूल के भी न भूले कि जो हमारा है वही हमारा है। उसी से

हमारी शोभा है, और उसी में हमारा वास्तविक कल्याण है ।

एतदनुसार आज हमारी होली है । चित्त शुद्ध करके वर्ष भर की कही सुनी क्षमा करके, हाथ जोड़ के, पाँव पड़ के, मित्रों को मना के, बाँहें पसार के उनसे मिलने और यथासामर्थ्य जौ खोल के परस्पर की प्रसन्नता संपादन करने का दिन है । जो लोग प्रेम का तत्व तनिक भी नहीं समझते, केवल स्वार्थसाधन ही को इतिकर्तव्य समझते हैं, पर हैं अपने ही देश जाति के, उनसे घृणा न करके, ऊपरी आमोद प्रमोद में मिला के समयान्तर में मित्रता का अधिकारी बनने की चेष्टा करने का त्यौहार है । जो निष्प्रयोजन हमारी बात 2 पर मुकरते ही हों उन्हें उनके भाग्य के अधीन छोड़ के, अपनी मौज में मस्त रहने का समय है । इसी से कहते हैं, नई बहू की नाईं घर में न घुसे रहो । पर्व के दिन मन मार के न बैठो । घर बाहर, हेती ब्यौहारी से मानसिक आनंद के साथ कटते फिरो—हो ओ ओ ली ई ई ई है ।[1]

खं० 9, सं० 8 (मार्च ह० सं० 9)

अवकाश के कर्तव्य

अवकाश उस समय को कहते हैं जिसमें किसी ऐसे काम करने की आवश्यकता न रहती हो जिसके किए बिना किसी हानि की संभावना हो । जो लोग अपने कर्तव्यों को नियत समय पर मन लगा के कर लिया करते हैं, उन्हें थोड़ा बहुत अवकाश अवश्य मिल रहता है । नित्यकर्मों के अतिरिक्त बालकों के लिये पढ़ना लिखना, युवकों के हेतु कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवादि द्वारा धनोपार्जन और वृद्धों के निमित्त भगवत् भजन, धर्मचिंतन तथा गृहप्रबंधादि मुख्य कर्तव्य हैं । और इनमें जितना अधिक 2 काल व्यतीत किया जाव उतना ही उत्तम है । पर यह कदापि संभव नहीं है कि इनके कारण अवकाश न प्राप्त हो सके । जो लोग कहा करते हैं कि हमें अमुक कार्य के मारे छुट्टी नहीं मिलती उन्हें उचित है कि उस काम की थोड़ी सी हानि सह कर भी छुट्टी मिलने का यत्न करें, नहीं तो स्वास्थ्य में बाधा पड़ेगी और कार्यसिद्धि का फल अप्राप्य वा दुष्प्राप्य हो जायगा ।

दिन भर में यदि अनुमान तीन घंटे स्वच्छंदता के साथ यथेच्छित कृत्य करने को न मिले तो हम बड़े भारी विद्वान्, धनवान और प्रतिष्ठावान होने पर भी सचमुच के सुखी नहीं हो सकते । और यदि सुख की कल्पना कर भी लें तथापि हमारे जीवन से किसी ऐसे कार्य की आशा होनी कठिन है जो सहृदय समूह की दृष्टि में वस्तुतः प्रशंसा के योग्य हो । इसलिए किसी ऐसे काम को भय, संकोच अथवा लालच के कारण उठा लेना, जिसमें अवकाश मिलना सचमुच कठिन हो, अपने साथ बैर बाँधना है । सब आवश्यक कार्यों का उचित रीति से निर्वाह करते हुए भी जैसे बने वैसे अवकाश का समय अवश्य निकाल लेना चाहिए । और उसे ऐसे कामों में बिताना चाहिए जिनके द्वारा शारीरिक, मानसिक वा

1. 'निबंध-नवनीत' से उद्धृत ।

आत्मिक उन्नति में सहारा मिले। बहुतेरे लोग जिस किसी काम को कुछ दिन करते रहते हैं उसमें ऐसे लिप्त हो जाते हैं कि यदि किसी पर्व आदि के संयोगवश उससे कुछ काल के लिये छुट्टी पाते हैं तो विकल से बन जाते हैं। ऐसों के मुख से बहुधा सुनने में आता है कि क्या करें, कोई काम है न धंधा, दिन कटे तो कैसे कटे ? उनका यह कहना अनुचित नहीं है।

जो पुरुष किसी काम धंधे के बिना दिन काटता है, वह अपने जीवन को व्यर्थ करता है। परंतु इसमें भी संदेह नहीं है कि करने वाने के लिये कामों की कमी नहीं है, अतएव एक काम के अभाव में उकता उठना अनुचित है। यह समय दूसरे कामों में व्यतीत करना चाहिए। किंतु समय बिताने की यह युक्ति भी अच्छी नहीं है कि कोई मादक वस्तु सेवन करके आपे से बाहर वा जागते हुए सोते के समान बन बैठना अथवा हठपूर्वक नींद बुलाने के लिये पड़ रहना वा द्यूतादि निन्दित कर्मों में संलग्न होना इत्यादि। बहुत लोग ऐसे भी हैं जो इस प्रकार के कामों को जी से अच्छा नहीं समझते। केवल अवकाश का काल काटने वा कोई काम काज न होने की दशा में मन बहलाने मात्र को इनका अवलंबन करते हैं। पर उन्हें समझना चाहिए कि संसार में जब कि मनबहलाव के सैकड़ों हितकर उपाय विद्यमान हैं, तब ऐसे कामों में समय बिताना वृथा है जिन्हें न कोई बुद्धिमान अच्छा समझता है न अपनी ही बुद्धि रुचिकारक मानती है। ऐसा करना तो अवकाश के समय को इतना तुच्छ समझना है कि हठ से भाड़ में झोंके बिना मन की तृप्ति ही संभव नहीं। अथवा मन को इतना अकर्मण्य मान लेना है कि जिन थोड़े से कामों का उसे अभ्यास पड़ रहा है उनके बिना उसे कहीं आश्रय ही नहीं है। इसी से उसको विवशतः कुआँ खाता ढूँढ़ना पड़ता है। पर विचार कर देखिए तो ऐसी समझ निरी नासमझी है।

वास्तव में अवकाश का समय हमारे उचित मनोविनोद का एकमात्र हेतु एवं भविष्यत उन्नति के लिये अद्वितीय मार्ग है, अथच मन हमारा परम सहायक है और इस सहायक का स्वभाव यह है कि जिधर लगा दें उधर ही लग जाने में प्रसन्न रहता है। फिर भी यदि हम अवकाश और मन से उत्तम रीति की सहायता न प्राप्त करें, तो हमारी बड़ी भूल है। इसलिए हमें उचित है कि जब काम काज से छुट्टी पाया करें तब पहिले तो निर्वाह करने के लिए कर्तव्य कर्मों के जिस अंश में कोई त्रुटि हो उसे दूर करने प्रयत्न किया करें। पठन-पाठन की पुस्तकों में से जिस पुस्तक के जिस भाग को पूर्ण रूप से न समझ व समझा सकते हों, धनोपार्जन में जिस किसी बात की पूर्ण विज्ञता न रखते हों, अथवा गृह प्रबंधादि के जिस विषय में न्यूनता देख पड़ती हो उसे पूरा करने में तन मन से उद्योग करें। इसमें चित्त को एक प्रकार की उलझन जान पड़ेगी पर आगे के लिए बड़ी सुविधा हो जाएगी।

कोई सभी बातों में कच्चा नहीं हुआ करता। इससे जहाँ और सब काम किए जाते हैं वहाँ इतने छोटे से विषय को भी अरुचिकर समझ के छोड़ देना चाहिए। ऐसा करने से जिस कार्य के जिस अंश में आज अड़चन सी देख पड़ती है उसमें थोड़े ही दिनों के पीछे थोड़े ही परिश्रम से प्रखरता प्राप्त हो जाएगी और आवश्यक कर्तव्य का बंधन एक प्रकार का मन बहलाव जान पड़ेगा। इसके अनंतर यदि घर भरापूरा हो अथवा सामर्थ्यवानों के साथ संबंध हो तो अश्वारोहण, शस्त्रसंचालन तथा आखेट इत्यादि भी अवकाश के कर्तव्य हैं। इनके द्वारा शरीर और मन दोनों दृढ़ होते हैं पर यह सबको प्राप्य नहीं है, अतः जिन्हें इनकी प्राप्ति कठिन हो उन्हें उदास न होना चाहिए। यह नियम केवल इसी बात के लिए नहीं है।

जिसे जो वस्तु प्राप्त हो उसी को उचित है कि दूसरों की दशा पर संताप न करके केवल प्राप्ति

का उपाय करे। इसके अतिरिक्त मृगया रसिकों को यह भी उचित है कि पक्षियों और शशकादि छोटे जीवों के प्राण न लेकर सिंह, व्याघ्र, शूकर एवं हरिणादि हानिकारक ही जंतुओं का दमन किया करें, क्योंकि वीरता और लोकहितैषिता इसी में है। इसके उपरान्त गाना और तैरना भी छुट्टी के समय सीखना चाहिए। यह भी निर्दोष मनोविनोद हैं, एवं चिंता तथा विपत्ति में कभी 2 उपकारक होते हैं। सामर्थ्य हो तो नगर नगरान्तर वा देश देशान्तर का पर्यटन भी करणीय हैं। और सब प्रकार के लोगों का रंग ढंग, रीति व्यवहार, जहाँ तक हो सके ज्ञातव्य है। इससे अनुभवशीलता की वृद्धि होती है। विद्या संबंधिनी सभाओं में जाना भी आवश्यक है एवं पुस्तक कैसी ही हाथ पड़ जाय एक बार आद्योपांत उसे देख लेना उचित है। फिर विचारशक्ति के अनुसार उसके आशय का त्याग या अंगीकार अपने अधीन है, पर पढ़ लेना कुछ न कुछ लाभ ही करता है। विशेषतः इतने प्रकार की पोथियाँ तो अवश्य ही देखनी चाहिए, यथा—नीति के ग्रंथ, क्योंकि देश काल पात्र के अनुसार निर्वाह करने का मार्ग इन्हीं के द्वारा जाना जाता है। इतिहास ग्रंथ—क्योंकि संसार की गुप्त एवं प्रगट लीला यही दिखलाते हैं। प्रसिद्ध लोगों के जीवन-चरित्र—क्योंकि जीवन को असाधारण बनाने की रीति इन्हीं से जान पड़ती है। सामयिक राजनियम—क्यों इसके जाने बिना छोटे 2 गृहकार्यों तक में भय बना रहता है। वैद्यक —क्योंकि इसके बिना अपना शरीर ही अपने हाथ नहीं रहता।

प्रसिद्ध सत्कवियों के लिखे हुए ग्रंथ—क्योंकि सहृदयता इनके बिना आ ही नहीं सकती है जो सब सद्गुणों का आधार है। यों विद्या का अंत नहीं है। और जिस प्रकार की विद्या जितनी अधिक आ सके उतना ही उत्तम है। किंतु उपर्युक्त विद्याओं के बिना जीवन का प्रशस्त होना दुर्घट है। इससे इनका अभ्यास यत्नपूर्वक कर्तव्य है। और साथ ही यथासाध्य दूसरे लोगों में इनका प्रचार भी करते रहना चाहिए। साधारण लोगों को समयोपयोगी बात बतलाते रहना, हितकारक ग्रंथों का सबके समझने योग्य भाषा में अनुवाद करते रहना भी योग्य हैं। इसके अतिरिक्त कोई न कोई हस्तकौशल भी अभ्यस्त करते रहना उचित है। क्योंकि कभी 2 यह विद्या से भी अधिक उपकारक होते हैं। यह सच है कि सब लोग सब बातें नहीं जानते, परंतु जो अवकाश के समय को अच्छे प्रकार काम में लाया करते हैं वे बहुत कुछ जान जाते हैं। इससे हमारे पाठकों को यह ध्यान सदा बनाए रखना चाहिए कि समय मिलने पर सभी कुछ संग्राह्य है। कौन जानता है किस समय किस बात का प्रयोजन आ पड़ेगा। बस, यह धारणा बनी रहने से हमें वह ढर्रा प्राप्त हो जायगा जिसमें पदार्पण करने में जीवन सफल होता है।

लोकलज्जा

यद्यपि यह बात ठीक है कि संसार में सबके पक्ष में तीन प्रकार के लोग होते हैं, एक मित्र, दूसरे शत्रु, तीसरे सम अर्थात् न मित्र न शत्रु। उनमें जो मित्र हैं वे हमारे अवगुणों को दूसरों से छिपावैंगे और उचित रीति से हम भी उनसे दूर रहने का यत्न करेंगे, तथा शत्रुजन गुण में भी दोष ही निकालेंगे। रहे सम,

उनसे हमें प्रयोजन ही क्या है ? अतः जो कुछ करना हो उसमें किसी की लज्जा न करनी चाहिए। किंतु यह सिद्धांत केवल विशेष अवसर की उपस्थिति में ग्रहणीय है। जब अपने और आत्मीयवर्ग के धन, धर्म्म और प्रतिष्ठादि पर कड़ी आँच आती देख पड़े, उस समय किसी का भय अथवा संकोच न करके केवल अपने बल और बुद्धि से स्वत्व रक्षा कर्तव्य है। पर ऐसी आवश्यकता नित्य नहीं पड़ा करती, इसलिए सर्वकाल में ऐसे विचार का अनुसरण भी उचित नहीं हैं। क्योंकि जो लोग सभी बातों में केवल अपनी इच्छा का अवलंबन करते हैं, उनका साधारण समुदाय के हृदय से ममत्व जाता रहता है, इनसे उनके सुख दुःख लाभ हानि में सहानुभूति रखने वाले बहुत थोड़े हैं और उद्योग सफल होने में बड़ी 2 बाधाएँ पड़ती रहती हैं।

प्राचीनकाल के बुद्धिमानों ने जो स्वतंत्रता (आजादी) की प्रशंसा की है और उसकी प्राप्ति के अर्थ सयत्न रहने की शिक्षा दी है, उसका अभिप्राय यह है कि हमें ऐसा उपाय करना योग्य है जिसके द्वारा अपने निर्वाह के निमित्त दूसरों का मुखावलोकन न करना पड़े, और दुःस्वभाव लोग हमें सताने का साहस न कर सकें। किंतु बहुत लोग इसका ठीक आशय न समझकर स्वतंत्रता का अर्थ निरंकुशता समझ बैठे हैं, अर्थात् किसी बात में किसी का भी संकोच न करना। वास्तव में यह सृष्टिक्रम के विरुद्ध का महा कुलक्षण है। विचार कर देखने से विदित होता है कि संसार में पूर्ण रूप से स्वतंत्र कोई नहीं है। किसी 2 का दबाव सभी को खाना पड़ता है। यदि साधारण श्रेणी के लोग विशेष विद्या बुद्धि विशिष्ट पुरुषों की उपेक्षा करें विशेष पदाधिकारी जन अपने राजा की नीति को शिरोधार्य न समझें, राजा अपने से अधिक सामर्थ्य वाले महाराजों की ओर से निश्चिंत हो बैठे, तो जगत् का काम न चले, सभी को दिन बिताना कठिन पड़ जाय, यहाँ तक कि यदि बड़े लोग छोटे लोगों की प्रसन्नता अप्रसन्नता का ध्यान न रक्खें, तो उनका बड़प्पन ही न स्थिर रहे। प्रजा न हो तो राजा किसका प्रभु कहलावैगा ? सेवक न हो तो स्वामी किस पर स्वामित्व करेगा ? ऐसे 2 उदाहरणों से सिद्ध हैं कि निरी स्वेच्छाचारिता किसी के पक्ष में ठीक नहीं।

सभी सबका संकोच छोड़कर अपने 2 मन के राजा बन बैठें तो आवश्यकता पड़ने पर किसी को भी किसी से सहायता न मिले। अतः सभी को चाहिए कि प्रत्येक बात में पंच और परमेश्वर की ओर ध्यान रक्खें, विशेषतः जिन्हें अपना जीवन दूसरों के लिए उदाहरण स्वरूप बनाना हैं, इन्हें तो यही उचित है कि प्रत्येक बात और सभी कामों में सर्वसाधारण की रुचि पर ध्यान रक्खें, बरंच थोड़ी बहुत हानि तथा कष्ट भी सहना पड़े, तथापि जनरंजन से विमुख न हों, तिस में भी स्वजातीय एवं स्वदेशीय लोगों की दृष्टि में अरुचि उपजाने वाली चेष्टा वाणी और वेषादि को तो यथासंभव परित्याज समझें। जो लोग इस विचार को न रखकर विद्या और धर्म का प्रचार तथा देशोपकार कां कोई कार्य करने में कटिबद्ध होते हैं, वे यदि हृदय से निष्कपट भी हों तौ भी जैसी चाहिए वैसी कृतकार्यता नहीं लाभ कर सकते, क्योंकि नीतिशास्त्र का बड़ा भारी सिद्धांत यह है कि जो लोग जिस समाज की रीति नीति चाल ढाल इत्यादि का पूर्ण ज्ञान और उस पर सच्चे जी से श्रद्धा रखते हैं, वे ही उसके अधिकांश पर सहज रीति से भली भाँति अपना प्रभाव स्थापित कर सकते हैं और इसके विपरीत आचरण रखने वालों का प्रथम तो परिश्रम ही व्यर्थ जाता है, और यदि उसकी सिद्धि हुई भी तो बड़ी कठिनता से बहुत ही थोड़ी होती है, अतः बुद्धिमानों का धर्म है कि अपने देशभाइयों की रुचि रखने का अभ्यास अवश्य करते रहें।

इससे निश्चय बहुत से लोग प्रसन्नतापूर्वक साथ देने और प्रत्येक संकल्प की पूर्ति में हाथ बँटाने

को तत्पर रहा करेंगे, तथा बड़े 2 अनुष्ठानों में बहुत से लोगों की सहायता के द्वारा सुगमता प्राप्त होना असंभव न होगा एवं अपनी आत्मा भी एक अपूर्व संतोष लाभ करती रहेगी अथच यदि किसी वृहत् कार्य का अवसर न भी मिलै तथापि धन बलादि जीवनोपयोगी पदार्थ और गुणों का व्यर्थ नाश न होगा, क्योंकि संसार में ऐसे लोग बहुत हुआ करते हैं जो अपनी बड़ी सजनता अथवा अतीव दुर्जनता के कारण बड़े 2 गुण वा दुर्गुणों को आश्रय प्रदान करके अपने और पराए बड़े भारी लाभ और हानि का हेतु होते हों। साधारण जनसमूह प्रायः उसी ढर्रे पर चलना रुचिकर समझता है जिसके द्वारा यदि विशेष लाभ न हो तो बड़ी क्षति की संभावना भी न हो, और संख्या इसी प्रकार के लोगों की बहुत होती है। इसलिए बहुत से लोगों को अपना साथी बनाए रखना वृहजीवन की इच्छा रखने वालों का परम कर्तव्य है, जिसका सेवन करने से यदि दैवात् कोई घोर विपत्ति भी आ पड़े, तो इस विचार से अधीरता नहीं सताती कि हमारे बहुत से सहायक हैं ! और ऐसा विचारना प्रायः निष्फल भी नहीं जाता, क्योंकि जिसे बहुत जने सब बातों में अपना समझते हैं, काम पड़ने पर उसके कुछ न कुछ काम भी आया ही करते हैं, और जीवनयात्रा में प्रत्येक रीति की सुविधा के लिये इसकी परमावश्यकता है। यह माना कि जगत् में सच्चे मित्र का मिलना बड़ी ही भाग्यमानी के आधीन है, पर इसमें संदेह भी नहीं है कि साधारण रीति से हित चाहने वालों का समुदाय लोकलज्जा का ध्यान रखने से प्राप्त हो सकता है।

अतः इस पुस्तक के पढ़ने वालों को योग्य है कि छोटा वा बड़ा जो काम करें उसके पहिले यह अवश्य सोच लिया करें कि हमारे ऐसा करने से चार जने हमें क्या कहेंगे ? बस, इस प्रकार के विचार का यह फल प्रत्यक्ष देखने में आवेगा कि जिन अवसरों पर दूसरे लोग घबरा उठते हैं, उनमें भी चित्त को कैसा कुछ धैर्य बना रहता है कि अनुभवी ही जानते हैं। जैसा कि एक बुद्धिमान का वाक्य है कि "पंचो शामिल मर गया जैसा गया बरात।"

संगति का विचार

अकेले रहने से मनुष्य का निर्वाह कठिन होता है, अतः उसे संगी बनाने की आवश्यकता पड़ती है और यह भी ठीक है कि चित्त को वायु की भाँति निर्लिप्त बनाए हुए अनुभव प्राप्ति के हेतु सभी प्रकार के लोगों से मिलते रहना पूर्ण दक्षता का हेतु होता है। जैसे पवन सुगंध दुर्गंधमय सभी स्थानों में संचार करता है किंतु उन स्थानों के गुण दोष से लिप्त नहीं होता, ऐसे ही बुद्धिमानों को चाहिए कि भले बुरे सभी लोगों के रंग ढंग देखें, किंतु उनके संसर्ग से दूषित न हों। पर यह बात केवल उन्हीं से हो सकती है जो निर्लिप्तता का चिरकालिक अभ्यास रखते हैं, प्रत्येक व्यक्ति से ऐसा होना सहज नहीं है। बहुधा देखा गया है कि संगति के प्रभाव से बड़े बड़ों की गति मति कुछ की कुछ हो गई है। यदि सौभाग्यवशतः ऐसा न भी हो तौ भी लोक समुदाय में चर्चा तो प्रायः फैल ही जाती है और इसका भी भला वा बुरा प्रभाव हुए बिना नहीं रहता। इसलिए आत्मश्रेयोभिलाषियों को उचित है कि संगी बनाने में बहुत सोच

विचार से काम लिया करें । यहाँ पर यह भी स्मरण रखना योग्य है कि घृणा की दृष्टि से तो किसी को न देखना चाहिए, क्योंकि साधु व्यवहार और मिष्ट भाषण के द्वारा मानव मात्र सुमार्गी बनाए जा सकते हैं, तथा ऐसा बर्ताव भी किसी के साथ करना उचित नहीं है जिसमें वह रुष्ट हो, क्योंकि इससे अपनी हानि की संभावना रहती है । किंतु जो लोग चोरी जारी द्यूत मद्य छल प्रपंच ऐत्यादि के लिए प्रसिद्ध हों, उनसे अधिक हेल मेल रखना अयोग्य है, क्योंकि ऐसों के पास बैठने से दुर्व्यसन और दुर्नाम का शिर चढ़ाना दूर नहीं है, जिसके द्वारा जन्म नष्ट होना बनी बनाई बात है ।

जिस जाति के लोगों को अपनी जाति वाले छूने तथा उनके छूए हुए पानी पान इत्यादि ग्रहण करने में छूत समझते हों, उनके पास बैठना भी अनुचित है । यदि उनमें से किसी के पास कोई ऐसा ही ग्रहणीय गुण हो जो दूसरे ठौर न मिल सके तो उसके सीखने को भी प्रकाश्य रूप से जाना चाहिए और प्रकाश्य ही रीति से स्पर्श दूर करने वाली प्रचलित पद्धति का अवलंबन कर लेना चाहिए । जो लोग किसी मत के खंडन मंडन का व्यसन रखते हों, वे कैसी ही शिष्टता व साधुता दिखावें तथापि संगति के योग्य नहीं हैं, क्योंकि ऐसों के द्वारा दूसरों के धर्म, विश्वास तथा जातित्व में विक्षेप पड़ने की संभावना रहती है । इस से सब से अधिक इनसे बचना चाहिए, क्योंकि कुछ न होगा तो भी ऐसों के पास बैठने से चित्त ही क्लेशित और विरोध से दूषित होगा । सारांश यह कि जिनके संसर्ग से मन को खेद, स्वभाव को दुराचरण का भय और लोक में कुचर्चा की संभावना हो, उनसे दूर ही का शिष्टाचार रखना उचित है और जिन्हें बहुत लोग विद्वान्, बुद्धिमान, सदाचारी, परोपकारी, भगवद्भक्त, व्यवहार-कुशल, गुणी इत्यादि समझकर प्रतिष्ठा करते हों, उनसे यत्नपूर्वक मेल बढ़ाना चाहिए । ये यदि जाति और धनादि में अपने से न्यून हों, तौ भी आदरणीय हैं, क्योंकि इनके द्वारा सुमति सुगति सत्कीर्ति इत्यादि जीवनोपयोगी सामग्री प्राप्त होने की बड़ी सुविधा रहती है । जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी का वचन है कि "मति कीरति गति भूति भलाई । जब जिहिं जतन जहाँ जिहिं पाई ।। सो जानेहु सतसंग प्रभाऊ । लोकहु वेद न आन उपाऊ ।।"

सत्संग का अर्थ है अच्छे लोगों का संग और अच्छे भाव के साथ संग, जिसके द्वारा यदि दैवात् सद्विद्यादि लाभ करने का अवसर न मिल सके, तथापि चार जने यह समझकर तो अवश्य ही श्रद्धा करेंगे कि अमुक व्यक्ति ऐसे ऐसों का साथी है, इसलिए "चाहिए अच्छों को जितना चाहिए । ये अगर चाहें तो फिर क्या चाहिए" । ऐसे लोगों को स्वयं अपने गुणों के स्थिर रखने के निमित्त सरल प्रकृति के श्रद्धालु जिज्ञासुओं की चाह रहती है । यदि जान पहिचान न हो तथापि दो चार बार के प्रणाम और स्नेह संभाषण में कुछ ही काल के अनंतर मित्रता हो सकती है । फिर बस, विपत्ति में धैर्य और प्रत्येक कर्तव्य में सुविधा लाभ करना कठिन नहीं रहता । अपनी विद्या, अनुभवशीलता तथा कार्यदक्षतादि यदि अपूर्ण भी हों तो पूर्ण हो जाना संभव है और न हों तो प्राप्त हो जाना दूर नहीं है ।

कहाँ तक कहिए, सत्संग की महिमा सभी सद्ग्रंथों में पाई जाती है और उसके द्वारा सभी के सर्वाधिक कल्याण की संभावना रहती है, अतः समस्त कर्तव्यों के मध्य उसे भी अत्यावश्यक कृत्य समझना योग्य है । इसमें कोई व्यय परिश्रम वा प्रयत्न नहीं करना पड़ता, केवल अवकाश के समय सज्जनों के पास जा बैठना । और ये यदि किसी कार्य में संलग्न वा चिंता में मग्न हों तो सरलता और नम्रता के साथ कथोपकथन करना तथा यथासाध्य उनके सुख दुःख में साथ देना एवं परिश्रम में हाथ बटाना अथच अपने आमोद में उन्हें सम्मिलित कर लेना मात्र पुष्कल है । और इसका फल प्रत्यक्ष अनुभूत

हो जायगा तथा हृदय आप ही साक्ष्य देगा कि महात्मा गोस्वामी जी का यह वाक्य अत्युक्ति नहीं है कि—"तात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग । तुलै न ताही सकल मिलि, जो सुख लव सतसंग ।"

संलग्नता

विद्या और सत्संग के द्वारा बुद्धि प्रकाशित होने पर बहुत से कर्तव्याकर्तव्य आप से आप सूझने लगते हैं जिनमें से यदि दो एक का भी भली भाँति संग्रह त्याग निर्वाहित हो जाय तो जीवन के साफल्य में बड़ी भारी सुविधा होती है, किंतु यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ऐसे वृहत्कार्य सहज में नहीं होते । भले कामों के पूर्ण होने में अनेक अड़चनें तथा बुरे कर्मों की विपक्षता में भी बहुत से प्रलोभन बाधा डालते हैं । दुष्प्रकृति के लोग बहुधा निष्कारण भी केवल अपने मनोविनोद के उद्देश्य से विरोध कर उठते हैं, आलस्य अथवा आत्मपक्ष के अनुरोध से बहुतेरे चिरपरिचित मित्र भी विरोधी बन जाते हैं और ऐसी दशा में एक वा अनेक बार उद्योग की पूर्ण सफलता में अवरोध की संभावना हुआ करती है । इसी से प्राचीन काल के नीतिवेत्ता कह गए हैं कि "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" । परंतु बुद्धिमान को उचित है कि विघ्नों का भय न करके अपने सदनुष्ठान में लगा ही रहे । यह समझ ले कि मरना तो एक दिन हई है, यदि अपना काम पूरा करके मरेंगे तो क्या ही कहना है और जो अधूरा छोड़ के मर गए तौ भी दूसरे पूर्तिकारकों को भी सहारा मिलेगा, फिर संकल्प से विमुख हो के लोक निंदा का पात्र बनने में क्या रक्खा है ? बस, प्रत्येक निराशता के समय इस प्रकार के विचार से चित्त को स्थिर रखकर दृढ़तापूर्वक अपने उद्योग की पूर्ति में लगा रहने से प्रायः सभी कार्य पूर्ण हो सकते हैं । वरंच कुछ काल के अनन्तर निन्दक लोग प्रशंसक और विघ्नकर लोग सहचर बन जाते हैं, तथा इस रीति से कठिनता मात्र के सरलता में परिवर्तित हो जाने की बड़ी भारी संभावना होती है ।

यदि दो एक बार के उद्योग से ऐसा न हो तथापि इतना हुए बिना तो कदापि नहीं रहता कि पहिली बार जिन बातों से और जिन लोगों के द्वारा धोखा खाने में आता है, दूसरी बात उनसे बचे रहने की अथवा उन्हें अपने अनुकूल बनाने की यथाशक्ति पूरी चेष्टा बनी रहती है, जिससे विघ्नों के एक 2 वृहदंश का उत्तरोत्तर नाश होता रहता है और अंत में मनोरथ की सफलता में कोई भी संदेह नहीं रहता । इससे जिस काम को उठाना चाहिए उसके पहिले यह सोच लेना चाहिए कि विघ्नों की उत्पत्ति बहुधा संसार के क्षुद्र अवयवों अथवा लघुचेता लोगों से हुआ करती है और हमारा अनुष्ठान हमारी अंतरात्मा एवं सर्वशक्तिमान परमात्मा की प्रेरणा से उत्थित हुआ है फिर यह क्यों कर संभव है कि कोटि विघ्न भी एकत्रित होकर हमारी वास्तविक हानि कर सकें ? हाँ, कुछ दिन वे अपना प्राबल्य दिखलावैंगे तो दिखला लें, यह कोई नई बात नहीं है, सभी वृहत्कार्यों के कर्ताओं को हुआ करती है, पर कोई खटमलों के डर से खाट नहीं छोड़ देता । फिर हमीं क्यों अपने पूर्व पुरुषों के इस वाक्य का उचित आदर न

करें कि 'प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः । विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमाना प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ।।" इस रीति का दृढ़ संकल्प रखने वालों के द्वारा ऐसा कोई भी कर्तव्य नहीं है जो न हो सके ।

जो बातें प्रायः असंभव सी बोध होती हैं वे भी श्रम एवं साहसपूर्वक संलग्न रहने से पूर्ण हुए बिना नहीं रहतीं । बहुधा लोग कहा करते हैं कि पत्थर पर खेती नहीं होती पर कोई संलग्नता का दृढ़व्रती नित्य किसी पर्वत पर अनाज और जल छोड़ता रहे तो कुछ दिनों में प्रत्यक्ष देख लेगा कि अन्न सड़ 2 कर वायु द्वारा उड़ी हुई धूलि से सम्मिलित होते 2 स्वयं उपजाऊ भूमि का रूप धारण कर लेता है और उस पर लहलहाता हुआ हरा भरा शस्यक्षेत्र दृष्टिगोचर होने लगता है । ऐसे 2 अनेक उदाहरणों से स्वयं सिद्ध है कि मनुष्य के पक्ष में असाध्य कुछ भी नहीं है, क्योंकि ईश्वर से उतरकर संसार में उसी की सामर्थ्य है । इसलिए उसे संकल्प की सिद्धि में विक्षेप की आशंका करनी योग्य नहीं है । जो लोग काल कर्म और ईश्वरादि का नाम लेके अथवा "ह्वैहै सोई जो राम रचि राखा । को करि तर्क बढ़ावै साखा ।।" इत्यादि बचनों पर निर्भर करके कर्तव्य से विमुख रहते हैं वा आरंभशूरता को आश्रय देते हैं, वे निश्चय भूल करते हैं, क्योंकि काल और कर्म जड़ हैं, उनका बनना बिगड़ना हमारे आधीन है । हम यदि अपने समय को उचित रीति से बिताने में कटिबद्ध रहें तथा अपने कर्मों को नियमविरुद्ध न होने दें, तो काल एवं कर्म स्वयं कुछ प्रभाव नहीं दिखला सकते, अथच ईश्वर भी सच्चे उद्योगियों को निराश नहीं करता, अतः हमें उसके भरोसे पर अपने काम में लगा रहना ही योग्य है । और उपर्युक्त चौपाई का अर्थ यों समझना उचित है कि राम ने मानव जाति को सभी कुछ कर सकने के योग्य रचा है और संसार में सभी पुरुषों और पदार्थों के मध्य कुछ न कुछ विलक्षणता स्थापित कर दी है, उसका ज्ञान प्राप्त किए बिना उससे उपकार न लेना अथवा किसी कष्ट वा हानि के भय से अपना ठहराया हुआ काम न करना वा कुछ करके छोड़ देना हमारा अपराध है । नहीं तो जितने बड़े 2 प्रशंसनीय कार्य हैं सब मनुष्य ही के द्वारा संपादित होते हैं । यदि हम मनुष्यत्व का सच्चा अभिमान रखते हैं तो हमें उचित है कि कभी किसी शंका संकोचादि को मुँह न लगाकर अपने कर्तव्य में प्राण पण के साथ लगे रहें, शीघ्रता और अधीरता का नाम न लें, फिर प्रत्यक्ष देख लेंगे कि कठिन कार्यों के सहज होने में चारों ओर से प्रगट एवं प्रच्छन्न रूप से कैसा कुछ साहाय्य प्राप्त होता है अथच कैसे संतोष के साथ जीवन की सार्थकता हस्तगत होती है ।

आत्मनिर्भर

यह सच है कि सद्व्यवहार और मिष्टभाषण के द्वारा मनुष्य को बहुत से शुभचिंतक मिल जाते हैं तथा विद्या एवं सत्संग से निर्बाह के अनेक मार्ग खुले हुए दिखाई देते हैं, किंतु इसमें कोई संदेह नहीं है कि संसार की सभी बातें अस्थिर हैं । कभी 2 बड़े 2 विश्वासपात्रों की ओर से भी यथेच्छ रूप से आशा

की पूर्ति नहीं होती अथच चिरभ्यस्त विषयों के द्वारा भी मनोरथ सिद्धि में त्रुटि की आशंका हो जाया करती है, और ऐसे अवसर पर चित्त को क्लेश हुए बिना नहीं रहता, अतः बुद्धिमान को उचित है कि बहुत से सहायक रखता हुआ और बहुत सी बातें जानता हुआ भी किसी के भरोसे न रह के केवल अपना भरोसा रक्खे। यह विचार मन से कभी दूर न होने दे कि यद्यपि सभी सब कुछ नहीं कर सकते, सभी को सभी प्रकार के पुरुषों और पदार्थों की सहायता का प्रयोजन पड़ता रहता है, एक मनुष्य यदि अपने सब काम अपने ही हाथ से करना चाहे तो बड़ी कठिनता उठानी पड़े, किंतु उद्योगी व्यक्ति की शोभा इसी में है कि किसी बात में दूसरों का आसरा न रख के काम पड़ने पर कुआँ खोद के पानी पीने का साहस रक्खे। जीवन को क्षणभंगुर केवल धर्माचरण में शीघ्रता करने के निमित्त मानना चाहिए न कि लोक व्यवहार के साधन में !

जो लोग बात 2 में कहा करते हैं कि अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता, उन्हें समझना चाहिए कि चना एक छोटा सा निर्जीव दाना है, किंतु हम साढ़े तीन हाथ के विद्याबुद्धिविशिष्ट हट्टे-कट्टे जीवधारी हैं, हमें उसके दृष्टांत को ले बैठना उचित नहीं है, वरंच उच्च भाव के साथ यह विचारना योग्य है कि सूर्य अकेला ही सारी सृष्टि में प्रकाश करता है, सिंह अकेला ही समस्त बन भूमि पर स्वामित्व करता है, यों ही उद्योगी पुरुष अकेला ही सब कुछ कर सकता है, फिर क्या हम पुरुष नहीं हैं अथवा उद्योग की योग्यता नहीं रखते ? आरंभ में सभी असाधारण कामों के करने वाले एकाकी ही कटिबद्ध होते हैं फिर हमी दूसरों का मुखावलोकन करके अकर्मण्य क्यों बनें ? अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता तथापि उछल कूद कर अपना बचाव कर लेता है, हम क्या उससे भी तुच्छ हैं कि अपने निर्वाह के लिए औरों का मुँह देखें ? हमारा जन्म अकेले ही हुआ है, मृत्यु भी अकेले ही होगी, रोग वियोगादि का दुःख भी अकेले ही सहना पड़ता है, आहार निद्रादि के सुख का अनुभव भी अकेले ही करते हैं, फिर अपने कर्तव्य ही में अन्य जनों की मुख प्रतीक्षा क्यों करें ?

यदि कोई स्वयं साहाय करना स्वीकार करे तो उसकी कृपा है अथवा परमावश्यकता के समय हमारी प्रार्थना पर ध्यान दे तो उसकी बड़ाई है, किंतु ईश्वर ने हमें भी तो शरीर और प्राण व्यर्थ नहीं दिए, फिर इन्हें तुच्छ क्यों बनावैं ? इनके द्वारा क्या नहीं हो सकता जो दूसरों की सहायता के बिना हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें। प्राचीन लोगों का सिद्धांत है कि अपना काम अपने ही हाथ से होता है, दूसरों को न उसकी उतनी ममता होती है न उसके द्वारा उतनी आशा होती है। इसी से लोग प्रायः उसके लिए उतने यत्नवान भी नहीं होते। इसीलिए अपने मनोरथ की सिद्धि के उपाय में दूसरों की सहायता पर निर्भर करना बुद्धिमत्ता से दूर है। बस इस रीति के विचार को हृदय में दृढ़ता के साथ स्थापित रखने से हमारे पाठकगण आत्मनिर्भरता के अधिकारी हो सकते हैं। और ऐसी दशा में देख लेंगे कि जगत् और जगदीश्वर की सहायता भी ऐसे ही साहसी पुरुषों को प्राप्त होती है जो अपनी सहायता आप करते हैं। नहीं तो आश्रितों की सहायता करने वाले सतुरुष तो सैकड़ों में एक ही आध हुआ करते हैं और किसी बड़े ही भाग्यशाली को मिलते हैं।

साधारण समुदाय की रीति यही है कि लोग जिसे अनुद्योगी और पराश्रयाकांक्षी समझ लेते हैं उसका ममत्व परित्याग करके उसे तुच्छ दृष्टि से देखने लगते हैं और ऐसा होने से धन बल विद्यादि की विडंबना ही होती है। अतः श्लाघ्य जीवन के अभिलाषियों का मुख्य धर्म यही है कि मेल-मिलाप सबसे रक्खें पर आश्रय केवल जगदाश्रय का और अपने हस्तपदादि का रक्खा करें। इसका आरंभ यों

करणीय है कि नित्य कर्मों में अपने पक्ष के कार्य्य मात्र अपने ही हाथ से करें और नैमित्तिक कामों में यह प्रतिज्ञा रक्खें कि जो कुछ अपने किए हो सकता है उसके लिए मित्रों और सहायकारियों को कष्ट देना अनुचित है। इसके अतिरिक्त किसी ऐसे हस्तकौशल का अभ्यास रखना भी अत्युचित है, जिसकी बहुत लोगों को बहुधा आवश्यकता पड़ती रहती हो, अथवा जो बहुतों के निर्दोष मनोविनोद का हेतु हो। इन कर्तव्यों में परिश्रम को न डरे और किसी की लज्जा न करे तो प्रत्यक्ष अनुभव हो जायगा कि उद्योगी के लिए कोई कार्य कठिन नहीं है और केवल अपना सहारा रखने वालों को चारों ओर से सहारा मिलता रहता है।

अर्थ शुद्धि

मनुष्य कैसा ही कुलीन प्रवीण सदाचारी लोकोपकारी इत्यादि क्यों न हो किंतु इस गुण के बिना संसार में न प्रतिष्ठा पाता है, न अपने उद्योगों की पूर्ति में साहाय्य लाभ कर सकता है। क्योंकि धन वह पदार्थ है जिस पर सब लोगों के प्रायः सभी काम निर्भर करते हैं। इसी से जगत् में इसकी इतनी महिमा है कि लक्ष्मी (द्रव्य) को विष्णु (जगत्पालक सर्वव्यापी ईश्वर) की स्त्री मानते हैं। अर्थात् घर में पुरुषों की अपेक्षा जितना अधिकार और सामर्थ्य स्त्रियों का होता है उतना ही सृष्टि के मध्य ईश्वर के उपरांत रुपए पैसे का है। अतः जो कोई इसके संबंध में सावधान नहीं रहता उसके द्वारा उसके संबंधियों के निर्वाह में कठिनता पड़ती है और इसी कारण से जिसे लोग दो एक बार जान लेते हैं कि धन के विषय में स्वच्छ नहीं है, उसके साथ सहानुभूति रखते हुए हिचकते हैं। और ऐसी दशा में प्रायः आवश्यकता के अवसर पर शुकलोचनत्व कर जाते हैं अथवा नियत काल के उपरांत सब शील संकोच छोड़कर अपने द्रव्य की पुनः प्राप्ति के उपाय में कटिबद्ध होते हैं। विचार कर देखो तो ऐसा करने में उनका दोष नहीं है। यदि न करें तो अर्थ संकोच के द्वारा कष्ट एवं हानि सहनी पड़े अथच करने में ग्रहीता को क्लेश होता है। यद्यपि वह क्लेश न्यायविरुद्ध नहीं है पर है तो दुःख ही, जिससे बचने में सचेष्ट रहना बुद्धिमानों का मुख्य कर्तव्य है।

इसलिए जिन्हें यह सच्ची इच्छा हो कि हमारे द्वारा दूसरों को और दूसरों के द्वारा हमको आंतरिक वा शारीरिक पीड़ा न हो, उन्हें उचित है कि एतद्विषयिणी असावधानता से सदा सर्वभावेन दूर रहा करें। इस योग्यता के प्राप्त करने की आरंभिक रीति यह है कि किसी दशा में व्यय को आय से अधिक न होने दें, भोजन वस्त्र और गृह सामग्री आदि में किसी की रीस न करें, निर्वाहोपयोगी वस्तुओं को व्यय करते समय उनकी चमक दमक पर न रीझ कर स्वल्प मूल्य और पुष्टता पर अधिक ध्यान रक्खें, किसी मिथ्या प्रशंसक की बातों में आकर अथवा धनवानों की बराबरी वा बराबर वालों के साथ अहमहमिका करके कभी अपने वित्त से बाहर धन न उठावें, किसी की सहायता करने को जी चाहे, वा कोई आत्मीय व्यक्ति अनुरोध करे तौ भी सामर्थ्य से अधिक व्यय न होने दें। ऐसी 2 युक्तियों का

अभ्यास बनाए रखने से साधारण आवश्यकताओं के लिये धन की न्यूनता कदापि न सतावैगी, क्योंकि यह बुद्धिमानों का अचल सिद्धांत है कि जो किसी पदार्थ को व्यर्थ नहीं खोता वह समय पड़ने पर उसके लिये दुःखित भी नहीं होता । हाँ, यदि ऐसी ही आवश्यकता आ पड़े कि किसी से मँगनी माँगे बिना संभ्रम की रक्षा कठिन जँचती हो, तो जिससे धन वा कोई पदार्थ लें, उसे ठीक समय पर लौटा देने का पूरा विचार रक्खें, वरंच माँगने के समय फेर देने का काल ऐसा ही नियत करें कि कुछ पूर्व ही वचन की सत्यता दृढ़ संभव हो । यदि किसी बड़े ही भारी विशेष कारण से मध्य में तनिक भी बिलंब देख पड़े तो स्पष्ट रूप से दाता को विनयपूर्वक समाचार दे दें ।

इस रीति से मर्यादा बनी रहती है, नहीं तो यदि विवादजनित विषाद न भी झेलने पड़ें तो भी "व्यौहरे की राम 2 जम का संदेशा" इस कहावत का उदाहरण तो अवश्य ही बनना पड़ता है, अथवा जीवन का कुछ वा बहुत भाग निन्दनीय एवं निर्लज्ज दशा में बिताना पड़ता है, जो सज्जनों के पक्ष में महा दूषित है । इसी प्रकार अपना कोई पदार्थ वा धन का कुछ भाग उधार की भाँति केवल उन्हीं लोगों को दे, जिनसे ठीक समय पर फेर पाने का दृढ़ निश्चय हो अथवा लेते हुए संकोच वा दया बाधा न करे । यदि किसी ममतापात्र को कुछ देने की आवश्यकता जान पड़े, तौ केवल इतना ही दे, जितने को समझ ले कि फिर के न मिलैगा तौ भी कोई विशेष हानि नहीं है । जैसे अपने नीचे उठ जाता वैसे इनके नीचे उठ गया सही । पर ये बातें भी अत्यंत आवश्यकता के समय की हैं, नहीं तो आपस में जहाँ तक हो सके लेने देने का नाम न लेना चाहिए और जिनके साथ कोई पूर्व संबंध न हो उनसे काम पड़ने पर शील संकोच से काम न लेकर लेन-देन स्वच्छ रखना चाहिए ।

इसमें यद्यपि पहिले कुछ रुक्षता अवलम्बन करनी पड़ती है और इसी कारण कोई 2 लोग कभी 2 नाक भौंह भी चढ़ा लेते हैं, किंतु कुछ ही काल के लिए । परिणाम में दाता और ग्रहीता दोनों का मंगल ही होता है, वरंच आपस का मुख प्यार सदा एकरस बना रहता है । और यदि दोनों बुद्धिमान् हों तो नित्य 2 बढ़ता रहता है । इसलिए हमारे वाचकवृंद को यह वचन सर्वकाल अनुसरणीय है कि "आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जा सुखी भवेत्" । और सब विषयों में सुशीलता बहुत अच्छा गुण है, किंतु यतः रुपया कठोर पदार्थ होता है; इससे उसके संबंध में उक्त गुण के द्वारा अनुकूलता न होने के कारण दोष उत्पन्न होने का भय रहता है, अतएव इसके व्यवहार में सदा सावधान ही रहना उचित है । नियम विरुद्ध इसका छोटे से छोटा भाग भी अपने पास से चला जाय अथवा दूसरे के यहाँ से आ जाय तो यत्न पूर्वक फेर लेना और फेर देना ही श्रेयस्कर है । नहीं तो सब सद्गुण लुप्तप्राय हो जाते हैं और उनके स्थान पर दोष ही दोष जुट जाते हैं । इससे अपना भला चाहने वालों को अन्य सब बातों से अधिक धन एवं तद्द्वारा प्राप्य वस्तुमात्र के व्यवहार की स्वच्छता पर ध्यान रखना चाहिए ।

राष्ट्रीयता संबंधी निबंध

वाह रे कलियुग, हमारी समझ में इन सिखलाने वालों को पहिले आप ही सीखना उचित है कि किसको किस रीति से क्या सिखलाना फलीभूत हो सकता है । पहिले जो बातें हम दूसरों को सिखलाते हैं वह हमें स्वयं सीखनी चाहिए नहीं तो केवल जीभ की लपालप से अपना मुँह तथा दूसरों के कान दुखाने और दोनों का समय नष्ट करने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता ।

बेगार

जब हम अपने कर्तव्य पर दृष्टि करते हैं तो एक पहाड़ सा दिखाई पड़ता है, जिसका उल्लंघन करना अपनी शक्ति से दूर जान पड़ता है । सहस्रों विषय विचारणीय हैं, किस 2 पर लिखैं और यदि लिखैं भी तो यह आशा बहुत कम है कि कोई हमारी सुनैगा । परंतु करैं क्या ? काम तो यह उठाया है, यदि अपने ग्राहकों को यह समाचार दें कि अब गरमी बहुत पड़ने लगी, या फलाने लाला साहब की बारात बहुत धूम से उठी, या हमारे जिले के साहब मैजिस्ट्रेट, तहसीलदार साहब और कोतवाल साहब इत्यादि धर्म और न्याय के रूप ही हैं, तो हमारा पत्र तो भर जायगा पर किसी जीव का कुछ लाभ न होगा । और यदि सच 2 वह असह्य दुःख जो हम प्रजागण को हैं, वह लिखैं तो उससे लाभ होना तो बहुत दूर दिखाई देता है, पर जिनके हाथों वह असह दुःख हमको प्राप्त होते हैं वह हम पर क्रुद्ध होंगे ।

यही डर लगता है कि कहीं 'नमाज के बदले रोजा न गले पड़े' । परंतु हम भिखमंगे नहीं कि केवल ग्राहकों की खुशामद का खयाल रक्खैं, हम भाट नहीं कि बड़े आदमियों और राजपुरुषों की निरी झूठी स्तुति गाया करैं । जो हो सो हो, हम ब्राह्मण हैं, इसमें हमारा धर्म नष्ट होता है और हम पतित हुए जाते हैं जो अत्यंत दीन और असमर्थ देश भाइयों पर अत्याचार होते सैकड़ों मनुष्यों से सुनैं और फिर उसे सर्वसाधारण और सर्कार पर विदित न करैं । यही तो हमारा कर्तव्य है ।

गत अंक में हमनें 'बेगारी बिलाप' लिखा था । उसका यह फल देखने में आया कि तारीख 27 एप्रिल को लाला दुर्गाप्रसाद बजाज का चुन्नी नामक कहार किसी कार्य को बाजार जाता था, राह में उसको दो तीन सिपाही, जो आदमियों के भूखे थे, मिल गए और पकड़ लिया । उन्होंने इस निरपराधी दीन पराये नौकर को बेगार की अबाध्य अथारिटी पर पकड़ा था, उन्हें क्या डर था ? उस बिचारे बँधुए ने बहुत हाथ पाँव जोड़े और गिड़गिड़ा के अपना सच्चा हाल कहा और छोड़ देने के लिये बिनती की । हे पाठकगण ! जब एक तुच्छ कहार उनसे उज्र करे तो उनकी क्रोधाग्नि के भड़कने का क्या ठिकाना था ! बस किसी ने खींचा, चोटैया पकड़ी, किसी ने हाथ पाँव पकड़े और घसीटते हुए चौक की तरफ ले चले, फिर नहीं मालूम कि वह क्यों कर छूटा ।

शोक का विषय है कि इन गरीबों को क्यों बिना अपराध ऐसी दुर्दशा के साथ पकड़ते हैं और उनकी इच्छा के विरुद्ध उनसे काम लेते हैं । गुलाम बनाने और इसमें क्या भेद है ? गुलाम अपनी इच्छा के बिना निरपराध बरसों परबश रहकर सेवा और टहल किया करते हैं और बेगारी लोग ठीक उन्हीं के सदृश घंटों और दिनों, बरंच कभी 2 महीनों पराए बंधन में रहते हैं ।

इस बेगार का भयंकर दुःख अढ़तियों, व्यापारियों, गाड़ी वालों, दर्जियों, राजों, कहारों आदि से पूछा चाहिए कि वे इनके नाम से कैसा थर 2 काँपते हैं ? हाल में जो काबुल की मुहीम हुई थी उसके लिए सब जिलों के कमसरियट अफिसरों ने हाकिमाने सिविल से कहार इत्यादि सप्लाई करने की

दर्खास्त की थी, पर लखनऊ और बरेली के सिविल हाकिमों ने, जो इस बेगार की भयंकर बुराइयों के जानकार थे, साफ जवाब लिख दिया था । सच है, जो उचित मजदूरी देना और किसी की इच्छा के विरुद्ध काम न लेना हो तो हर प्रकार के काम करनेवाले आप से आप कमसरियट के ठीकेदारों की भाँति सर्कार में एक पर एक जाके गिरैं ।

हिंदुस्तान कंगाल देश हो रहा है, यहाँ मजदूरों को काम कराने वाला मिलता कहाँ है ? इंट्रैंस पास किए हुए बाबू लोग पंखाकुली की नौकरी करते हैं, महाजनों के अंग्रेजी पढ़े हुए लड़के तीन आने रोज की कांस्टीबली करते हैं, फिर क्या मजदूर और कहार, यदि उनसे पशु का सा वर्ताव न किया जाय तो, काम काज प्रसन्न मन से न करेंगे ?

खं० 1, सं० 3 (15 मई, सन् 1883 ई०)

रिशवत

क्या कोई ऐसा भी विचारशील पुरुष होगा जो रिशवत को बुरा न समझे ? एक ने तो सैकड़ों कष्ट उठा के, मर खप के धन उपार्जन किया है दूसरा उसे सहज में लिए लेता है, यह महा अनर्थ नहीं तो और क्या है ? हमारी समझ में तो जैसे चोरी करना, डाका डालना और जुवा खेलना है वैसा ही एक यह भी है । कदाचित् कोई कहे कि चोर डाकू और जुवारी जिसका स्वत्वहरण करते हैं उसका कोई काम नहीं करते, तो हम पूछते हैं कि क्या घूस खाने वाला अपने कर्तव्य से कुछ अधिक भी करता है ? यदि करता है तो अन्याय करता है, और कुछ न सही तो अपने निज स्वामी को धोखा देता है और भोले भाले अर्थियों (गरजमंदों) को वृथा धमकाता है और उन्हें किसी प्रकार की हानि का डर दिखलाता है । यह क्या कम अंधेर है ? बरंच चोर इत्यादि से इतनी दुष्टता और निर्लज्जता अधिक होती है कि वे डरते 2 पराया घर घालते हैं और यह "उलटा चोर कुतवाले डाँटै" का लेखा करता है ।

यद्यपि रिशवत देना भी अच्छा नहीं, क्योंकि अनर्थकारी को किसी प्रकार की सहायता देना, जिससे कि वह अपने दुष्टाचरण के लिए पुनर्बार और अधिकतर उत्साहित हो, यह भी एक अनर्थ ही है । परंतु यह (रिशवत देने वाला) लेने वाले के समान वाले दोषी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह मानहानि, धनहानि आदिक के भय बिना ऐसा नहीं करता और यह सभी जानते हैं कि "आरत काह न करै कुकर्मू ।"

बहुधा रिशवत वही लोग लेते हैं जिनको अपने धनोपार्जित धन पर संतोष नहीं होता, और लोभ की अधिकता के कारण जिन्हें न्याय अन्याय का विचार नहीं रहता । और देते भी वही हैं जो या तो अपना दुष्टकृत्य छिपाया चाहते हैं या किसी को झूठा दोष लगा के पीड़ित किया चाहते हैं । अथवा यों कहो कि जिन्हें इतना साहस नहीं होता कि किसी नीतिमान सामर्थी के आगे अपना वा औरों का दुःख

और दुर्गुण ठीक 2 प्रकट कर सकें । सारांश यह कि नीति, बुद्धि और धर्म के यह काम निस्संदेह विरुद्ध है ।

पर हा ! बड़े खेद का स्थान है कि कुछ दिनों से हमारे देश में इसका ऐसा प्रचार हो गया है कि मूर्खों की कौन कहै पढ़े लिखे लोग भी इस प्रकार प्रत्यक्ष पाप से किंचिन्मात्र लज्जा और घृणा नहीं करते । कितने ही सेवावृत्तौ (नौकरीपेशा) लोगों के तो यह हराम की हड्डी ऐसी दाँत लग गई है कि वे एक अधिक वेतन की जगह छोड़ के, मेरी तेरी खुशामद करके, बरंच कुछ अपनी गाँठ से पूज के इसी "बालाई आमदनी" के लिए थोड़े से मासिक पर नियत हो जाने ही को बड़ी चतुरता समझते हैं । हम बहुतों को प्रतिदिन ऐसी बातें करते सुनते हैं कि "कहो उस्ताद, पोस्ट तो बहुत अच्छी हाथ लगी, भला कुछ ऊपरी तरावट भी है ?"

"हाँ, नसीबे का है वह मिली रहता है । भला यारों की अंटी पर चढ़ा वह बिना कुछ पूजे कहाँ जाता है !"

जिस महकमे में देखो, जिस दफ्तर में देखो, ऐसे सत्पुरुष बिरले ही मिलें जिनको इसका चसका न पड़ा हो । विशेषतः रेल पर तो रिशवत बीबी ने नौवाबी ही मचा रखी है । बिना कुछ चढ़ाए पिण्ड ही छूटना कठिन है । बिचारे महाजन लोग, जिनको न सर्कार से अपना दुःख कहने का साहस न आपस में एका, न कानून समझने की बुद्धि, न तो जायँ कहाँ ? माल रोज ही रेल पर लदा चाहै, बाहर से रोज ही कुछ आया चाहै, फिर जल में रह के मगर से बैर करने में गुजारा है ? क्या करें ? जहाँ राजदंड है, धर्मदंड है वहाँ यह समझ लिया कि एक रेलदंड भी सही । हमारी इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि प्रायः सभी महाजनों की बहियों में "रेल खर्च खाते नाम" लिखा मिलेगा, जो नियत महसूल से कहीं अधिक होगा ।

हम वहाँ के बड़े हाकिमों से विनय करते हैं कि जैसे रेल के द्वारा सर्वसाधारण को और सब प्रकार का आराम दिया जाता है वैसे ही इस दुःख के निवारण का भी कुछ प्रबंध होना चाहिए जो कर्मचारियों के अत्याचार से इस महकमे का एक महा कलंक हो रहा है । प्रायः देखा गया है कि रेल के बड़े हाकिम अपने महकमे की बदइंतजामी के दूर करने में और हाकिमों से अधिक तत्पर रहते हैं, इसी से यह कष्ट दिया जाता है । आशा है कि हमारे निवेदन पर बहुत शीघ्र ध्यान देंगे ।

बाबू साहबो ! हम आपसे आशा करते हैं कि आप लोग हमारे इस लेख से अप्रसन्न न होंगे, क्योंकि हमारा प्रयोजन किसी के चिढ़ाने से नहीं है और न रेल से हमारी कोई निज की हानि है, पर हाँ, अपने देश भाइयों का दुःख सुख ज्यों का त्यों प्रकाश करना हमारा कर्तव्य है । आप लोग भी तो आखिर पढ़े लिखे समझदार हैं । क्या अपने भाइयों की सहानुभूति (हमदर्दी) को आपका अंतःकरण अच्छा न समझता होगा ? आश्चर्य है जो न समझे । हमारा काम केवल कहने मात्र का है । करना न करना आपके आधीन है । परंतु शास्त्र के इस वचन पर ध्यान दीजिए कि "अवश्यमेवभोक्तव्यं कृतंकर्मशुभाशुभम् ।"

खं० 1, सं० 3 (15 मई, सन् 1883 ई०)

दयापात्र जीव

आज हमें उस अतीव श्रेष्ठ जीव का वर्णन करना है जिसके उत्तम गुणों को सब देश के, सब श्रेणी के, सब वय के, सब मत के, सभी मनुष्य भली भाँति जानते हैं । यह वह पशु हैं जो अपने ज्ञान, स्वामिभक्ति, धैर्य, साहस, सहनशीलता, वीरता आदि अनेक सद्गुणों में अद्वितीय है । इस जंतु का नाम मातृभाषा में कुत्ता है । अंग्रेजों में इसकी इतनी प्रतिष्ठा है कि हमारे भाई बड़े 2 पंडित, हमारे यजमान बड़े 2 जमींदार, सेठ, साहूकार, महाजन, लाला लोग, बड़े 2 मौलाना, बड़े 2 अखबारनवीस, बड़े 2 अंग्रेजीबाज, किरानी और बड़े 2 बाबू लोग बड़ी 2 खुशामद दरामद, भेंट पूजा करने पर भी जिन राजपुरुषों के पास तक बड़ी कठिनाई से पहुँचते हैं यह उत्तम जीव उन्हीं के बराबर बग्घी पर बैठ के हवा खाने निकलता है और प्रिय पुत्रों के समान स्त्री पुरुषों की गोद में खेलता है ।

हमारे प्रिय पाठक यह न समझें कि हम केवल अंग्रेजों के आदर करने से इसे आदरणीय कहते हैं । नहीं, वरंच हमारे मनु भगवान, जिनके नाते हम मनुष्य कहलाते हैं, वेद में जिनके बचनों को औषधियों का औषध लिखा है—'यत्किंचिन्मनुरवदत्तद्भैषजं भेषजस्य' ऐसा कहा है, उन महर्षि की यह आज्ञा है कि गृहस्थ नित्यमेव भोजन के समय के पहिले कुत्तों का भाग निकाले । मनुस्मृति में जहाँ बलिवैश्वदेव का वर्णन है, 'शुनाञ्च'—यह शब्द सबसे पहिले आया है । श्री गरुणादि पुराणों के अनुसार भी पितृश्राद्ध में श्वानबलि (कुत्ते का भाग निकालना उचित है । हमारे आर्य भाइयों के पूज्य देवता साक्षात भगवान शिवजी के अंशावतार श्रीभैरव जी महाराज ने इसी श्रेष्ठ पशु को इस योग्य समझा है कि अष्टप्रहर अपने साथ रखते हैं । इसी जाति का एक जीव मुसल्मानों के मान्य पुरुष असहावे कहफ को ऐसा प्यारा था कि वे कयामत के दिन उसे अपने साथ बिहिश्त ले जाएँगे । जिन पुस्तकों और किताबों में बलि प्रदान और कुर्बानी चढ़ाना लिखा है, यहाँ तक कि नरबलि और आदमी की कुर्बानी लिखी गई, पर यह श्रेष्ठ जीव ऐसा उपयोगी समझा गया कि सब धर्मग्रंथों में इसे अबध्य ठहराया है ।

यदि कोई पुरुष किसी मत की धर्म पुस्तक का कायल न हो वह इसके सहस्रों गुण अपनी आँखों देख ले । इस वफादार का एक साधारण सा गुण यह है कि भयानक अंधकारमय रात्रियों में, असंख्य प्राणनाशक पशुपूर्ण बनों में, और महा अगम्य पर्वतों और नदियों में भूख, प्यास, चोट आदि नाना प्रकार के कष्टों को सहकर बरंच कभी 2 अपने प्राणों को भी खोकर यह अपने स्वामी का साथ देता है और उसकी रक्षा करता है । हम निर्भय हो कर यह कह सकते हैं कि मनुष्य मात्र के लिए एक सच्चा सहायक है तो यह है । हमारे यहाँ के सज्जन महात्मा न्याय दृष्टि से विचार के गऊ के उत्तम गुणों के कारण उसे गऊमाता कहते हैं, हमारी समझ में लाभकारी गुणों के हेतु यदि इसका नाम कुत्ताभाई रक्खा जाय तो अत्यंत सत्य है ।

आदमी, जो धींगाधींगी अपने को 'अशरफुलमखलूकात' कहते हैं, उनमें कोई बिरला ही सच्चा निष्कपट धर्मिष्ठ महात्मा होगा जो इस नाम के योग्य हो, पर यह पशु अपने जातिस्वभाव ही से 'अशरफुलमखलूकात' की पदवी को ग्रहण कर सकता है । इस जीव से हमारे अनेक उपकार होते हैं । उनके बदले हम जो कुछ उसका पालन पोषण और रक्षण करें सो थोड़ा है ।

परंतु बड़े खेद का विषय है कि ऐसा उपकारी जन्तु बिना अपराध अत्यंत निर्दयता और पशुत्व के

साथ मेहतरों के हाथ से हमारी आँखों के सामने मारा जाय और हम आर्य लोग और हमारे जैनी भाई खड़े 2 देखा करें कि उसका लहू दुकान 2 के आगे सड़कों पर फरियाद करता हुआ गिरे ! आह ! कैसी निर्लज्जता की बात है ! भाइयों ! क्या 'अहिंसा परमोधर्मः' केवल कहने ही मात्र को है ? जिधर देखो उधर बड़े 2 नाम की सभाएँ स्थापित होती हैं, गज 2 भर के लंबे चौड़े ल्यकचर दिये जाते हैं, हजारों रुपये के चंदे पर दस्तखत हो जाते हैं, पर इस शुभ कार्य में, जिससे लोक परलोक दोनों बनें, कोई देशहितैषी कान तक नहीं फटफटाता !

कदाचित कोई कहे कि सर्कार से हमारा क्या वश है ? तो क्या हमारे मुँह में जीभ नहीं है जो सर्कार से इतना निवेदन करें कि सरे बाजार कुत्ते न मारे जाएँ । जब सर्कार ने मुँड़चिरों को इसी विचार से दण्डनीय ठहराया है कि वे रुधिर बहा के सर्वसाधारण के जी में घृणा उत्पन्न करते हैं तो क्या इस विषय में ध्यान न देगी ? फिर धार्मिक लोग तो लाखों रुपये लगा के छोटे बड़े जीवों के रक्षार्थ अस्पताल और बाड़े बनवाते हैं । क्या तुमसे इतना भी नहीं हो सकता कि दो चार कुत्ते, जो मुहल्ले में बिना धनी धीरो के फिरते हों, उन्हें एक ठौर बँधवा ही दो । निर्वाह उनका मुहल्ले वालों के एक 2 टुकड़े से हो सकता है । हमें आशा है कि हमारे प्रिय पाठकगण इस लेख पर अवश्य ध्यान देंगे ।

हे ईश्वर दयानिधे ! (मे—मेरे) "यजमानस्यपशून्पाहि"—यजमानों के पशुओं की रक्षा कर । (यजुर्वेद का पहिला मंत्र) ।

हमारे इस कहने को कोई अत्युक्ति न समझे, शास्त्र चिल्लाता है—श्वानौ द्वौ श्यामशबलौ वैवस्वतकुलोद्भवौ ।

खं 1, सं० 3 (15 मई, सन् 1883 ई०)

जरा अब तो आँखैं खोलिये

जातीय भंडार

प्यारे पाठक ! क्या इसमें भी कुछ संदेह है कि रुपये बिना संसार का कोई काम नहीं चलता ? तभी तो लोग इसके लिये महा 2 परिश्रम करते हैं, भाँति 2 के असह्य कष्ट उठाते हैं, ठौर कुठौर दीनता दिखलाते हैं, नाना प्रकार के छल कपट करते हैं, अपनी प्रतिष्ठा, लज्जा, धर्म कर्म, सभी खो बैठते हैं । कहाँ तक कहें कि प्राण तक झोंक देते हैं । क्यों न हो, यह चीज ही ऐसी है । हमारे पूर्वजों ने मनुष्य जन्म रूपी वृक्ष के चार फल ठहराये हैं—अर्थ (धन), धर्म, काम (स्त्री संबंधी सुख) और मोक्ष । देखो इसमें सबसे पहिले अर्थ ही का नाम रक्खा है । 'सर्वेगुणा कांचनमाश्रयंति', 'द्रव्येषु सर्ववशः' इत्यादि अनेक महात्माओं के बचन प्रायः छोटे बड़े सभी के मुख से प्रतिदिन सुनने में आते हैं । बाह 'क्या रुतबे हैं तलाये अल उस्लाम के' । जिसे देखो इन्हीं की गीत गाता है ।

सच पूछो तो संसार में ऐसी बहुत कम आपत्ति होंगी जो रुपये से दूर न हो सकें। ऐसी बहुत थोड़ी क्या वरंच गिनती की होंगी जिनमें इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती। मैं इसके गुण अधिक लिख के कागज नहीं भरना चाहता। सभी जानते हैं, रुपये का काम रुपये ही से चलता है। और यह भी प्रायः सभी को भली भाँति विश्वास है कि 'दिन दमाके एक से नहीं रहते'। संसार में जो आया है, एक न एक दिन उस पर विपत्ति पड़ती है। और यह तो सच ही है कि "आपद काल में कोई किसी का साथी नहीं होता"। विशेष कर इस आर्यावर्त में, जहाँ का मेवा फूट और बेर है, बे प्रयोजन एक दूसरे की जड़ खोदने को तय्यार रहता है। यह तो कहाँ संभव है कि कोई किसी के काम आवै। हाँ, बाजे सर्व हितेच्छुक महाशयों पर कुदिन आता है तो असंख्य लोगों को दुःख होता है। प्रायः सभी चाहते हैं कि इनका दुःख दूर हो तो अच्छा है, पर निरे चाहने मात्र से तो कुछ होता नहीं।

लाखों दुःख ऐसे हैं जो रुपये बिना जा ही नहीं सकते। रुपया आवे तो कहाँ से आवे। आजकल हमारा देश आगे का सा समुन्नत तो हई नहीं, दिन 2 घर के धान पयार में मिलते हैं। दूसरे देशों से यहाँ रुपया आना तो बात ही क्या है, घर की पूँजी विलायत जाया न करे यही गनीमत है। फिर भला रुपए की मदद कौन किसकी कर सकता है ? यदि कहीं सैकड़ों में से किसी एक उदार पुरुष ने कुछ करना बिचारा भी तो क्या करेगा ? हमारे राजा अथच धनाढ्यों से कुछ आसरा ही न ठहरा। फिर भला जो किसी पर कोई दैवी आपदा आ पड़े तो सिवा रोने के क्या बश ! इसीलिये बंगाल के कई एक विद्वानों ने यह युक्ति निकाली है कि अपनी 2 सामर्थ्य भर लोग कुछ रुपया इकट्ठा करके जातीय धन भंडार स्थापित करें, जो समय पड़ने पर काम आवे। संप्रति उनका संकल्प पाँच लाख रुपया एकत्र करके अपनी ओर से विलायत में एक प्रतिनिधि रखने का है।

हमारी समझ में उन महाशयों का यह उद्योग अत्यंत प्रशंसनीय है। पर यदि केवल पाँच ही लाख की कैद न होती, यह होता कि जहाँ तक हो सकता है; प्रतिवर्ष वा प्रतिमास रुपया इकट्ठा होता और भंडार में रखने के बदले किसी व्यापार में लगा के उसके वृद्धि का प्रयत्न होता रहता और देश में जब कभी किसी पर कोई आफत आती तो उचित रीति पर उसका सहाय किया जाता तो परमोत्तम था।

हमारे पश्चिमोत्तरवासी भ्रातृगण किस नींद सो रहे हैं ? क्या इनको नहीं मालूम कि रुपया ही सब बलायें रद्द करता है ? अथवा इन्हें यह निश्चय है कि "हमसे खिलाफ होकर करेगा जमाना क्या ?" भला हो बंगाली भाइयों का जो अधिक नहीं तो जबानी ही हौरा मचाते हैं। यहाँ तो एक का घर जले दूसरा तमाशा देखे। बड़ा भलामानुष हो तो वह राह कतरा के निकल जाय।

फिर क्यों नहीं जातीय भंडार का उद्योग नहीं करते ? भाइयो ! "अग्र सोची सदा सुखी"। जब सिर पर आ पड़ती है तब कुछ करते धरते नहीं बनता। इससे शीघ्र उठो और अपने हित का साधन करो। उपाय न जानते हो तो हमसे सुनो। प्रत्येक स्थान पर सर्वसाधारण सभा स्थापन हो जाना चाहिए। उसके मुखियाओं का मुख्य कर्त्तव्य यह है कि मत मतान्तर का झगड़ा, जो वखेड़े की जड़ है, उसका तो नाम न ले। मनुष्य मात्र को अपनी सभा का मेंबर समझे। दस वर्ष के बच्चे से लेकर सौ वर्ष के बुड्ढे तक और ब्राह्मण से लेकर चर्मकार तक को सभा में सहाय करने का अधिकार दे। हँसी की परवाह न करके, मुँह पर ताने की बातें, उनके हाथ जोड़ के, एहसान ले के, समझा बुझा के, येन केन प्रकारेण धन संचय करें, और दूसरों को भी ऐसा ही परामर्श दें।

इधर के लोगों का एक यह भी स्वभाव है कि किसी अपने बराबर वाले को जो कुछ करता देखेंगे,

शेखी के मारे उसमें योग देने में अपनी मानहानि समझ के, अंट संट दस्तखत कर देंगे। पर देती समय मुँह चुरावेंगे। इसका यह उपाय है कि इस बारे में चिट्ठा उट्ठा न बनाया जाय। एक सन्दूक रखी रहे, उसमें चाहे तो कोई महाराजाधिराज एक पैसा छोड़ दें, चाहे कोई भिक्षुक लाख रुपए की कोई चीज डाल दे। पर नियत साप्ताहिक, मासिक, वार्षिक, जैसा समझौता हो, अवलम्ब करना चाहिए। फिर नियत समय पर दस जानकार लोगों की सन्मति से वह आमदनी किसी रोजगार में लगती रहना चाहिए। उसका अधिकार किसी एक को न सौंप देना चाहिए, बल्कि कुछ विश्वस्त लोगों की राय में उसमें से देशी भाइयों की सहायता होती रहे।

अब इस विषय को अधिक नहीं बढ़ाना चाहते। बुद्धिमान पाठकगण आप विचार सकते हैं कि यह उपाय कैसा है। इसकी कैसी आवश्यकता है और कैसे लाभ का संभव है। परंतु प्रिया महाशय! केवल सुनने सुनाने से इस कथा में कुछ भी फल नहीं होगा, "कल्ह करन्ते आज कर आज करन्ते अब्ब"। इस काम को एक जरा छेंड़िये, फिर देखिये क्या होता है। बङ्गालियों के कुछ चार हाथ पैर नहीं हैं। तुम भी समझते होगे कि 'हिम्मते मरदाँ मददे खुदा'। इस प्रदेश में भी एक से एक विद्वान धनवान हैं। देखें तो कौन वीर पहले कदम बढ़ाता है।

खं० 1 सं० 8 (15 अक्टूबर सन् 1883 ई०)

फूटी सहैं आँजी न सहैं

श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कंध का वाक्य है 'किरात हूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आमीरकङ्कायवनाः खसादयः। येऽन्ये च पापाः यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥' समझने की बात है; जब असली यवनादिक शुद्ध हो सकते हैं तो नकलियों का तो कहना ही क्या है? इसके अतिरिक्त परमेश्वर का नाम पतितपावन है। सो एक लड़का भी जानता है। पर कोई हिए कपारे का अंधा, इन्द्रियों का बंदा, मौलवी तथा पादरियों के मायाजाल में फँस के उनसे चोटी कटा ले, फिर वह चाहै जैसा अपने किए पर रोवै, उसका हिंदू होना असम्भव! 'क्यों भाई शास्त्र की रीति से प्रायश्चित करा मिला न लेव।' 'वाह जी! हमारा धर्म जाता रहेगा।' 'हूँ हूँ, झूठ बोलने में धर्म नहीं जाता, यवनी-गमन में धर्म नहीं जाता, गोरक्त मिश्रित बिलायती शक्कंर खाने में धर्म नहीं जाता, एक स्वदेशी भाई को कुमार्ग से स्वधर्म में लाने से धर्म भाग जायगा? 'प्रेमएवपरोधर्म्मः' तो उसी दिन रफ्फूचक्कर हो गया था जिस दिन जयचन्द पृथ्वीराज में विरोध हुआ था। कहने सुनने को जाति बच रही है। सो भी जानते ही हो कि धर्म्म ग्रंथों की तकिया बनाय के देश निद्रा में कुम्भकरण की भाँति खरेहटे भर रहा है और उधर वाले कमर बाँधे अपनी गाथा बढ़ा रहे हैं। एक दिन होगा कि हिंदू गूलर के फूल हो जायँगे तब बड़ा धर्म्म रह जायगा। यदि प्रायश्चित की प्रथा निकल जाती तो विधर्मियों के कुछ दाँत खट्टे हो जाते। पर कौन

किससे कहे, यहाँ तो 'फूटी सहैं आँजी न सहैं ।'

लाला खूसटदास ने जो कुछ गरीबों की नरी काट 2 के लैया पुँजिया जोरी थी, लड़के के ब्याह में डाढ़ीवाले आतिशबाजों और रंडिका देवियों के चरणारविंदों में समर्पण कर दिया । 'भई वाह, क्या बरात निकली ! क्यों जी ऐसे रुपये वाले तो न जान पड़ते थे ?' 'अरे यार इन हौसलों को तो देखो कि अगले ने घर फूँक तमाशा देखा है । घर सब गिरौ रख दिया, और ऊपर से कर्ज काढा है । फिर जानते ही हो 'नामी मरे नाम को' । 'छिः ! ऐसी फजूलखर्ची क्या बुद्धिमानी का काम है ?' 'वाह, ऐसा न करें तो चार भाइयों में क्या मुँह दिखावें । बुजुरगों की नाक न कटै जाय !'

हाँ हाँ, तीन दिन धूम के लिये लाख का घर लीख न करेंगे तो पुरखों की नाक कट जाएगी, पर जब लहनदार दुवारे पर पिटवावैंगे, खलक खुदा का मुलक बास्सा का ¨तब पुरखों की नाक ऐसी बढ़ैगी कि सरग छू लेगी ! जो एक सभा करके शक्त्यानुसार खर्च करने की रीति निकल जाय तो काम का काम निभ जाय और पीछे की खटपट न रहे । पर हाँ 'फूटी सहैं आँजी न सहैं' की कहावत कैसे ठीक उतरै ? दो हमने बताये अब कुछ तुम भी ढूँढ़ लाओ ।

खं० 1, सं० 12 (15 फरवरी सन् 1984 ई०)

भारत का सर्वोत्तम गुण

आजकल हम जिधर देखते हैं उधर देशोन्नति करो 2 यही कहते लोग दिखाई पड़ते हैं । पर यह हमारी समझ में नहीं आता कि जो इस देश का सर्वोत्तम गुण है, जो यहाँ का स्वाभाविक गुण है, उसकी ठीक उन्नति हुए बिना और सब बातों की उन्नति क्यों कर हो सकती है ! आज दिन हम सभी बातों में सब देशों से हीन हैं । हाँ कुछ एक संस्कार शेष हैं तो उसी हमारे सर्वोत्तम गुण का और विद्या नहीं है तो भी गान विद्या में ग्वालियर वाले संसार भर से श्रेष्ठ नहीं तो किसी विदेशी गन्धर्व से न्यून भी नहीं हैं।

कविता के भी यदि लिखने वाले हों तो भलीभाँति समझने वाले प्रायः सभी स्थानों में दस पाँच विद्यमान हैं । धन नहीं है तो भी उत्साह ऐसा है कि एक 2 साधारण गृहस्थ ब्याह और पितृकार्य्य में जी खोल कर घर फूँक तमाशा देखता है । धर्म्म पर श्रद्धा भी इतनी स्थित ही है कि माघ की रातों को केवल एक साधारण सा कपड़ा ओढ़े नंगे पैरों कोस 2 भर गंगा स्नान करने जायँगे पर बिधर्मियों के आरामतलब मजहब और मरणानन्तर बिहिश्ती नियामतों और अनन्त जीवन इत्यादि के माया जाल में फँसना तो दूर रहा उनकी चिकनी चुपड़ी बातें सुनना भी न पसन्द करेंगे ।

एक दिन एक काली मेम साहबा हमारे कानपुर में जनाने घाट पर उपदेश देने गई थीं । एक स्त्री की ओर हाथ का इशारा करके कहने लगीं, बहेन हम तुम लोगों को मुक्ति का सच्चा रास्ता दिखाने को आए हैं । उस आर्य रमणी ने उत्तर दिया कि 'तुम बहिनी राह दिखावै नहीं साच्छात मुकुति देने

आई हो पै हमका छुयो न । हम नहाय चुकी हन । हमका तुम्हारि मुकुति न चाही' ।

ऐसे 2 सैकड़ों उदाहरण हमारे पाठकों को दृष्टिगोचर हुवा करते होंगे जिनसे तनक ही बिचारने पर ज्ञात हो जायगा कि कुछ हो हमारे यहाँ की सहृदयता (जिंदादिली) का लेश आज भी बना है । धर्म्म रुचि, धर्म्माभिमान, जाति गौरव इत्यादि गुण, जो आत्मा से संबंध रखते हैं, अद्यापि निःशेष नहीं हुए और सबसे पहिले इन्हीं बातों पर अधिक जोर देने से कुछ हो सकता है, क्योंकि जहाँ अपने चित्त की प्रसन्नता, अपनी नामवरी, अपना धर्म्म इत्यादि 2 की ममता है वहाँ अपने देश का ममत्व दृढ़तम हो जाना कोई बहुत कठिन बात नहीं है ।

अपना चाहे जैसा हो फिर भी अपना ही है । अपन अपनै आय, ऐसी 2 कहावतें यहाँ वाले असंख्य लोग जानते हैं । यदि इन्हीं का अतीव विस्तृत अर्थ बहुत दूर तक समझाया जाने का प्रयत्न किया जाय तो क्या देशोन्नति की बड़ी दृढ़ नींव पड़ जाना कठिन है ? हमारे पूर्वज बड़े दूरदर्शी थे जो कहि गए हैं 'दुर्लभम् भारते जन्मः' । जिसका उपदेश है 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' । यदि ऐसे 2 बचन खूब जोर देकर समझाए जायँ तो कौन मनुष्य होगा जिसे धरती माता की सच्ची भक्ति न उत्पन्न हो ।

जो देशोन्नति की मूल है, जिस बात का कुछ अंकुर है, वही बात सहज में फलित भी हो सकती है । पर जिस बात का चिह्न भी अवशिष्ट न रहा उसकी नए सिरे से जड़ जमाना कैसे दाँतों पसीना आने का विषय है ? अतएव हमारी समझ में जो 2 सज्जन देशोन्नति के इच्छुक हैं उन्हें सबके पहिले और सब झगड़ों को छोड़ के केवल इस बात पर कटिबद्ध होना चाहिए कि आपस में सच्चा प्रेम, दृढ़तम प्रेम बढ़े । तदनंतर जिस विषय की उन्नति चाहो सहज में हो सकता है, क्योंकि यही यहाँ का सर्वोत्तम गुण है और यही अद्यापि सर्वथा निर्मूल नहीं हुआ ।

खं० 3, सं० 2 (14 अप्रैल, ह० सं० 1)

बस बस होश में आइए

उचितवक्ता भाई ! वाह ! भारत जीवन साहब, धन्य ! 'सबको ज्ञान दें आप कुत्तों से चिथवावें'—तुम्हें क्या हुआ है ? जो बातें आपुस में निबट लेने की हैं उनको गोहराते फिरना । छिः ! छिः ! बच्चे हो ? लावनी वालों की सी फटकेबाजी से फायदा !¨पूज्यवाद भारतेंदु जी के आगे हाथ जोड़ना कोई ऐब है ? रामकृष्णादिक प्रातःस्मरणीय भी तो जन्म से ब्राह्मण न थे । फिर क्यों उनके नाम पर शिर झुकाते हैं ? ब्राह्मण ही यदि बपतिसमा ले ले तो उसे प्रणाम करोगे ? नैः । 'ब्रह्मजानाति ब्राह्मणः' । फिर यहाँ 'येषाम् सदा सर्वगतौ मुकुंदस्तेमानवाः किन्न मुकुंद तुल्याः' पर हरताल लगावोगे ?

और सुनो बाबू जी नहीं हैं तो क्या हुआ बाबू गोकुलचंद जी जिसे अधिकार दें वही हरिश्चंद्र

सर्वस्व छाप सकता है वा नहीं ? लड़ा चाहो तो सौ बहाने हैं नहीं तो लिखने की सौ बातें हैं । यदि गाली गलौज ही करना हो तो हमैं जो चाहो दोनों महोदय कह लो । एक बके तो दूसरा भी नंग नाच पर कमर बाँधे यह कौन सभ्यता है ? अरे बाबा ! तुम सर्व साधारण के अग्रगामी हो ! तुम्हारा नमूना देख के औरों को कम उपदेश होगा ? सोचो तो ! खैर बहुत हो चुका, कब तक कर्कसा सराध रहेगी ? इसी से कहते है होश में आवो ।

होनी थी सो हो ली आगे से हमें विश्वास है हमारे प्यारे दोनों सहवर्ती आप समझ लेंगे । पर तुम्हारी इस बेफसली फाग की बेसुरी तान प्रेमियों के कान की झिल्ली उड़ाये देती है । न जाने सारसुधानिधि ने 30 मार्च को तुम्हारे व्यर्थ प्रलाप को क्यों स्थान दिया है ।

खैर हमने समझ लिया कि निधि ही में सुधा और विष दोनों का निर्वाह है । पर तुमने कौन सी सुरापान करके कहा है कि 'भारतेंदु का मरना क्या होली है' । अरे राम राम ! इसी दुःखदायक समाचार में तुम्हें हँसी सूझनी थी ? छिः तुम्हारी आधी बात का उत्तर तो हम पहिले ही दे चुके हैं पर इतना और समझ लीजिए कि यदि व्यवहार की रीति से हाथ जोड़ना दूषित समझो तो अँगरेजों के सामने (जो किसी वर्णाश्रम में नहीं) शायद एक तुम्हीं होगे जो हाथ न जोड़ते हो ! नहीं बरसों से तो यवनों की लातें खाते आये हो, अभी कौन सी स्वतंत्रता मिल गई जो हाथ जोड़ना आक्षेपनीय समझने लगे ?

और यदि प्रेम दृष्टि से देख सको तो प्रातःस्मरणीय हरिश्चंद्र हाथ जोड़ने योग्य थे । हमने माना कि वैश्य वंशावतंस ब्राह्मणों से हाथ जुड़वाने में प्रसन्न न होते थे पर जिनको उनसे अभिन्न मैत्री थी, जो उनका तत्व जानते थे, वे कोरे शिष्टाचार का कहाँ तक निरबाह कर सकते ? हाथ जोड़ना भी, जुड़वाना भी, सभी चित्त की उमंग पर होता है । पर निरे आग्रही क्या जान सकते हैं । फिर जरा होश की दवा कीजिए । आपका यह कथन कि 'कोई 2 प्रेमांध होकर आज तक रोना कल्पना की कविताई झाड़ रहा है', क्या यह गये फाग ढढ़नच नहीं है ?

'सहृदय' प्रेमी तो सदा से अपने पिय वियोग में ऐसा ही करते आये हैं । यदि गोस्वामी तुलसीदास जी की रामायण भी आप समझ सकते होते तो महाराज दशरथ जी का प्राण परित्याग एवम् भगवान् रामचंद्र जी का विलाप इत्यादि हम आपको दिखा देते । पर हृदयांध बिचारे प्रेमांध महानुभावों की रीति नीति क्या जानें ! अरे बाबा ऐसी ही समझ है तो 'दोनों' का प्रेमा बनके क्यों इस परम पवित्र को कलंकित करने की इच्छा करते हो !

रही कविता, सो कविता समर्थ लोग योग्य पुरुषों के नाम पर करते ही हैं और करते ही रहेंगे, तुम्हारे रोके कौन रुकैगा ? तुम्हारे लिये तो यही श्रेयष्कर है कि इस विषय में कान ही न हिलावो । ऐसा न हो कि कोई जला भुना कह बैठे कि ऐसे स्थान के रहने वाले पाषाणहृदय चित्तद्राविणी कविता का स्वादु क्या जानें जहाँ केवल मृतकों के नाम पर लोगों की रोटी चलती है ।

भैया ! राजा मुंना ! संवत् देशहितैषी प्रतापी पुरुषों का चलता है, किसी जाति का नियम नहीं है, नहीं तो ईसा और मुहम्मदादिकों का संवत् आर्य देश में न प्रचलित होता । और सुनिये । क्षत्री उसको कहते हैं जो क्षति से रक्षा करै 'क्षतात् त्रायते' । सो गुण तो हमारे बीर वैष्णव बाबू जी में था ही । यदि आप केवल जाति से क्षत्री लेते हो तो बताइए किस गंडिकादास वा कलहप्रिय क्षत्री का संवत् चला है ! हमारे बाल्मीकि प्रभृति विरक्त थे और उनके समय में तद्‌गुण विशिष्ट राजा मौजूद । इनके उनके संवत् की कोई आवश्यकता न थी ।

भारतेंदु को आप निरा कवि ही समझते हैं ? बलिहारी ! एक 2 ग्रंथकार को सैकड़ों रु० उठा देने वाला, विद्या और देश हित के हेतु घर फूँक तमाशा देखने वाला, केवल कवि कहने योग्य है ? धिक ! यह संवत् उनका नाम चलाने को नहीं है । यह संपादक समूह की कृतज्ञता का परिचय है अथच हमारे प्रेम का उद्गार है । रहा तसबीर का विषय सो अपनी 2 सामर्थ्य है । यदि आप सब खरीद के सेंत मेंत बाट दीजिए तो आपका आक्षेप सार्थक हो ।

बेचने वालों के प्रेय की परीक्षा हम आपको दिला देंगे कि केवल अपनी मेहनत का थोड़ा सा रुपया लेके बाम दिला दिया जायगा । ऐसा भी तो कोई हो जिसकी तस्वीरों से आपके कथनानुसार लोगों का रोजगार चला । आप तो अपनी तस्वीरें छपवा के केवल अपना ही व्यवहार सिद्ध कर लीजिए, देखिये तो कै जने लेते हैं ? इसी से कहते हैं होश में आओ !

खं० 3 सं० 2 (15 अप्रैल ह० सं० 1)

रूस और मूस

पहिले साहब सैकड़ों कोस की दूरी से आने की धमकी मात्र दिखला रहे हैं पर दूसरे हजरत 'घर का भेदिया लंकादाह' के उदाहरण वन रहे हैं । वह आर्य्यों की दृष्टि में म्लेक्ष, मुसलमानों की समझ में काफिर और अँगरेजों की जान में जालिम विख्यात हो रहे हैं इससे उनका विश्वास अभी से नहीं किया जाता । पर यह हमारे गणेशजी के वाहन और मुसलमानों तथा अँगरेजों के पैगम्बर के हमनाम (नामरासी) हैं । अतएव इनसे बचना मुश्किल है । क्योंकि 'मारत हू पाँय परिय तुम्हारे ।' उनका रूप चित्र में देख के डर लगता है । 'फौज रूसियों की भुच्च जिनकी हाथ 2 भर की मुच्छ' । कौन उन्हें पतियायगा ! पर इनके गोरे 2 नन्हें 2 कोमल 2 हाथ पाँव देख के ऐसा प्यार लगता है कि पिंजड़े में पाल कर खील और दूध खिलाने को जी चाहता है ! पीछे से चाहे जैसे निकलें ।

वह बिचारे जब कभी आवैंगे तक अँगरेजों से बचा खुचा धन ले जावैंगे वा कुछ लोगों को मार गिरावैंगे और क्या बनावैंगे ? पर यह अभी से अन्न वस्त्र तक मूसे लिये जाते हैं । वह सामने होके लड़ैंगे तो कदाचित् हम भी मारेंगें और मरेंगे । यह तो कहने को होगा—'यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः' । पर इनसे क्या किया जाय जो हानि तो करें हजार हाथ, पर खटका पाया और दुम दबा के बिल की राह ली । सर्कार की बदौलत उनका आना मुश्किल जान पड़ता है पर इनका जाना कुछ हो हमारी सामर्थ्य से तो बाहर है । उनके चरित्र अखबारों द्वारा सुनने में आते हैं तो एक कहानी का सा मजा आता है और मालूम होता है कि अपने अधिछत लोगों के प्रसन्न रखने की चेष्टा करते हैं । पर इनके सुलच्छन देख 2 के नींद भूख उड़ जाती है, कि रहें हमारे घर में, खायँ हमारे यहाँ और हमारा ही सर्वस्व तहस नहस करने को मुस्तैद ।

सौ बात की एक बात यह है कि उनसे तौ सरकार और देशी राजा और वालंटियर बाबू हमको बचा लेंगे पर इनसे परमेश्वर के सिवा कोई बचाने वाला नहीं । त्राहि ! त्राहि ! 'शूलेन पाहि नो देवि पाहि खड्गेन चाम्बिके' । ऊ हू ! 'किंकरोमि क्वगच्छामि' । एक दिन जी ने कहा एक बिल्ली पाल लें तो सब दुख दूर हो जाय, परंतु बुद्धि ने कहा 'मैवंवाच्यं'—बिल्ली भी मेंव 2 करती है । तुम भी आठ सौ बरस से मेंव 2 करने के लतिहल हो रहे हो । फिर भला जबान से मेल कैसे हो सकता है ? ऐसा तो वर्तमान हिंदू नीति के विरुद्ध है । दूसरे तुम म्लेच्छ नहीं हो कि किसी हानिकारक के प्राण लेना बिचारौ । अपनी तो शोभा यही है कि सबकी सहना पर निरे आकर्मण्य बने रहना । हमने भी समझ लिया कि ठीक है, अपना बचाव करने वाले हम कौन ? अब पाठक बतावैं कि रूस बड़ा है वा मूस ।

खं० 3, सं० 3 (15 मई-जून, ह० सं० 1)

देशी कपड़ा

मानव जाति का, खाने के उपरांत, कपड़े के बिना भी निर्वाह होना कठिन है । विशेषतः सभ्य देश के भोजनाच्छादन, रोटी कपड़ा, नानो नकफ इत्यादि शब्दों से ही सिद्ध है कि इन दोनों बातों में यद्यपि खाने बिना जीवन-रक्षा ही असंभव है, पर कपड़े के बिना भी केवल प्रतिष्ठा ही नहीं, वरंच आरोग्य, एवं असंभव नहीं है कि प्राण पर भी बाधा आवै । पर खेद का विषय है कि हम अपने मुख्य निर्वाह की वस्तु के लिए भी परदेशियों का मुँह देखा करें । हमारे देश की कारीगरी लुप्त हुई जाती है, हमारा धन समुद्र पार खिंचा जाता है इत्यादि विषय बहुत सूक्ष्म हैं, उस पर जोर देने से लोग कहेंगे कि एडीटरी की सनक है, कविता की अत्युक्ति है, 'जिमि टिट्टिभ खग सुतै उताना' की नकल है; पर हमारे पाठक इतना देख लें कि जब हमको एक वस्तु उत्तम चिरस्थायिनी और अल्प मूल्य पर मिलती है तो बाहर से हम वह वस्तु क्यों लें ।

गृहस्थ का यह धर्म नहीं है कि जब एक रुपया से काम निकलता है तब व्यर्थ डेढ़ उठावै । बिलायती साधारण कपड़ा नैनसुख मलमल इत्यादि तीन आने से पाँच आने गज मिलता है, उसके दो अंगरखे साल भर बड़ी मुश्किल से चलते हैं, पर उसके मुकाबिले देशी कपड़ा (मुरादाबादी चारखाना, कासगंजी गाढ़ा इत्यादि) तीन आने गज का । कपड़ा यद्यपि, अरज कम होने के कारण, कुछ अधिक लगता है, पर उसके दो अंगरखे तीन वर्ष हिलाये नहीं हिलते । बाबू लोग यह न समझें कि अंग्रेजी फैशन का कपड़ा नहीं मिलता, नहीं, बहुत से अच्छे अँगरेज भी अब यही पहिनते हैं । शौकीन लोग यह भी खयाल न करें कि देशी कपड़े में नफ़ासत नहीं होती, नहीं, ढाके की मलमल, भागलपुरी टसर और मुर्शिदाबाद की गर्द अब अँगरेजी कपड़े को अपने आगे तुच्छ समझती हैं । अब ऐसा कोई तरह का कपड़ा नहीं है जो न बनता हो, और कुछ ही दिन लोग उत्साह दिखलावें तो न बन सके । प्रयागराज

में केवल इसी की एक कोठी मौजूद है। हमारे कानपुर के सौभाग्य से श्रीयुक्त लाला छोटेलाल गयाप्रसाद महोदय ने भी देशी तिजारत कंपनी खोली है। यदि अब भी इस नगर और जिले के लोग देशी कपड़े को स्वयं पहिनने और दूसरों को सलाह देने में कसर करें तो देश का अभाग्य समझना चाहिए।

हम और हमारे सहयोगीगण लिखते 2 हार गए कि देशोन्नति करो, पर यहाँ वालों का सिद्धांत है कि 'अपना भला हो देश चाहे चूल्हे में जाय', यद्यपि जब देश चूल्हे में जायगा तो हम बच न रहेंगे। पर समझना तो मुश्किल काम है ना। सो भाइयो, यह तो तुम्हारे ही मतलब की बात है। आखिर कपड़ा पहिनोहीगे, एक बेर हमारे कहने से एक 2 जोड़ा देशी कपड़ा बनवा डालो। यदि कुछ सुभीता देख पड़े तो मानना, दाम कुछ दूने न लगेंगे, चलेगा तिगुने से अधिक समय। देशी लक्ष्मी और देशी शिल्प के उद्धार का फल सेंतमेंत। यदि अब भी न चेतो तो तुमसे ज्यादा भकुआ कौन ? नहीं 2 हम सबसे अधिक, जो ऐसों को हितोपदेश करने में व्यर्थ जीवन खोते हैं ![1]

खं० 3, सं० 12 (15 फरवरी ह० सं० 2)

न्याय

सवार साहब तो घोड़े की पीठ पर चढ़ें, उसे कोड़ा मारें, पाँव से एँड़ मारें, मुँह में लगाम लगावें, जब चाहें तब बाँधें, जब चाहें तब दौड़ावें, पर यह कोई न कहेगा कि सवार कठोर हृदय है, अन्यायी है। हाँ, यदि घोड़ा कहीं लात फटकार दे या काट खाय या सवार को पटक दे तो सबके मुँह से सुन लीजिए, घोड़ा बदलगाम है, कटहा है, लतहा है। वाह रे न्याय ! सिंह व्याघ्र इत्यादि बलवान जीव होते हैं। वे जैसे हरिणादि को मार गिराते हैं वैसे ही कभी 2 मनुष्य पर भी चोट कर देते हैं, इसलिए वे दुष्ट जन्तु हैं। उनको मार डालना पाप नहीं है, बहादुरी है। पर मनुष्य महाशय बकरा मार खायँ, मछली हजम कर जायँ, चिड़ियों को भोग लगा जायँ, यह कहने वाला कोई न हो कि निर्दयी हैं।

वाह रे इंसाफ ! यदि नौकर बिचारा कोई वस्तु उठाना भूल जाय और मालिक साहब ठोकर खा के गिर पड़े तौ तो फरमावेंगे, 'अंधा है, नालायक है, चीज को ठीक ठौर पर नहीं रखता, पैर तोड़ डाला'। पर जो कहीं मालिक साहब की वैसी ही असावधानता से नौकर ठोकर खा जाय तो भी आप यह न कहेंगे कि 'भाई हमें क्षमा करो, हमारी गफलत से तुम्हें चोट लग गई। बरंच झुँझला के कहेंगे, 'अंधा है, देख के नहीं चलता।' कहाँ तक कहिए, यदि हम कभी दुःख पा के, झिझला के ईश्वर को कोई बात भी कह बैठे तो मूरख, नास्तिक, पापी इत्यादि की पदवी पावें और आप हमारे बाप, भाई, बंधु, बांधव, इष्ट मित्रादि का वियोग करा दें। धन, मान, आरोग्य अथवा प्राण तक हर लें तो भी हमारे ही कर्मों का फल है।

1. 'निबंध-नवनीत' से उद्धृत।

बुह तो जो करेंगे हमारे भले ही को करेंगे । ऐसे 2 लाखों उदाहरण सब काल, सब ठौर में मिला करते हैं जिससे हम ऐसे मुँहफट्टों का सिद्धांत हो गया है कि न्याय या इन्साफ या जसटिस एक शब्द मात्र है, जो खुशामदी लोग समर्थ व्यक्तियों के लिए कहा करते हैं । वास्तव में क्या न्याय, क्या दया, क्या वात्सल्य, सब प्रेमस्वरूप परमात्मा के गुण हैं, मनुष्य बिचारा उनका हठ कहाँ तक करेगा ? महाराज भरत (जिन्होंने प्रजा को सताने के अपराध में अपने नौ लड़कों का शिर काट लिया था), बादशाह नौशेरवाँ (जिन्होंने एक बुढ़िया की फरियाद पर अपने पुत्र को बध की आज्ञा दी थी) इत्यादि नाम केवल उपमा के लिए हैं । यदि लोग कभी हुए भी हों तो उन्हें हम संसारियों में नहीं गिन सकते ।

जगत की रीति यही है कि यदि आप असमर्थ हैं तो दूसरों को न्यायी धर्मात्मा गरीबपरवर बना के अपना मतलब गाँठते रहिए । यदि कभी परमेश्वर की दया, नसीबे के जोर या हिम्मत की चाल इत्यादि से आप भी कुछ हो जाइएगा तो हम लोग इन्हीं विशेषणों के साथ आपका नाम लिखा और कहा करेंगे । यकीन है यह शब्द धरती की पीठ पर इसी भाँति धारा प्रवाह रीति से बना रहा है वैसे ही बना रहेगा । यदि सचमुच न्याय कोई वस्तु है और उसको साक्षी देके हमसे पूछिए तो उत्तर यही पाइएगा कि सबके इतिहास देख डाले, सिद्धांत केवल यह निकला कि दुनिया अपने मतलब की है । उस मतलब के लिए जहाँ और बहुत बातें हैं, एक यह भी सही । मतलब निकलने में कोई अड़चन न पड़े तब तक आप मुझको कहते रहिए, मैं आपसे कहता रहूँगा कि न्याय के विरुद्ध चलना ठीक नहीं है ।

इन्साफ को छोड़ना दुरुस्त नहीं है । पर जो कोई पुरुषरत्न अपने हानि लाभ, मानापमान, जीवन मरण, सुख दुःख इत्यादि की पर्वा न करके, कठिन परीक्षा के समय, न्याय का साथ देता रहे उसे हम मनुष्य तो कह नहीं सकते, हाँ, देवता बरंच ईश्वरीयगुणविशिष्ट कहेंगे !

खं० 4, सं० 10 (15 मई ह० सं० 4)

कांग्रेस की जय

श्रीयुत भीम जो जिस समय प्रयागराज में आकर सुशोभित हुए थे, इस वाक्य को प्रेमपूर्ण हो के कई बेर उच्चारण किया था । कांग्रेस के मध्य में भी सैकड़ों सज्जनों के मुख से यही मंत्र उच्चारित हुवा था और अंत में इलाहाबाद स्टेशन पर तो यह शब्द आकाश को भेद गए थे ! अहाहा ! आज तक हमारे कानों और प्रानों में यही ध्वनि गूँज रही है, और रह रह के मुँ से यही निकलता है कि 'कांग्रेस की जय' ! क्यों न हो, कांग्रेस साक्षात् दुर्गा जी का रूप है क्योंकि वह देशहितैषी देवप्रकृति के लोगों की स्नेहशक्ति से आविर्भूत हुई है, 'देवानां दिव्य गुण विशिष्टानां तेजो राशि समुद्भवा' है ! फिर हम ब्राह्मण होके इसकी जय क्यों न बोलें । प्रत्यक्ष प्रभाव यही देख लीजिए कि इसके द्वेषियों ने अपनी

सामर्थ्य भर झूठ, प्रपंच, छल, कपट, कोई बात उठा न रक्खी थी पर 'जस जस सुरसा बदन बढ़ावा । तासु द्वगुण कपि रूप दिखावा ॥' अंत में 'सत्यमेव जयते' इस वेद वाक्य के अनुसार कांग्रेस का अधिवेशन हुआ, और ऐसा हुवा जैसी आसा न थी ।

स्वयं कार्याध्यक्ष लोग कहते थे कि हमने समझा था बड़ी हद्द हजार डेलीगेट आवेंगे, उसके ठौर पर डेढ़ हजार मौजूद हैं । धन्य है लोग समझे थे कि मुसलमान उसमें कभी शरीक न होंगे, सो एक से एक प्रतिष्ठित विद्वान्, धनिक मुसलमाँ अनुमान तीन सौ के विराजमान थे । बरंच बाजे नगरों से हिंदुओं की अपेक्षा मुसलमान ही अधिक आए थे । भला इन बातों को आँखों देख के वा विश्वासपात्रों से सुन के कौन न कह उठेगा कि 'कांग्रेस की जय' । सच तो यह है कि तीर्थराज में ऐसा समागम शायद भारद्वाज बाबा के समय में हुवा हो, बीच में तो सुनने में नहीं आया । यों कुंभादि के मेलों में हजारों की भीड़ होती है 'पर कहाँ रेशम के लच्छे कहाँ झौवा भर झोथर' कहाँ कुपढ़ उजड्ड वैरागियों के जमघट, कहाँ श्री अयोध्यानाथ, श्री मदन मोहन, श्री रामपाल, उमेश, सुरेन्द्र सरीखों का देव समाज ! आहा ! इस अवसर पर जिसने प्रयाग की शोभा न देखी उसने कुछ न किया । लूथर साहब के हाते का नाम हमने प्रेमनगर रखा था क्योंकि लड़के, बूढ़े, हिंदू, मुसलमान, जैन, क्रिस्तान, पश्चिमोत्तर देशी, बंगाली, गुजराती, सिंधी, मद्रासी, फारसी, इंगलिस्तानी, सब के सब प्रेम से भरे हुए दृष्टि आते थे ।

किसी प्रकार की कोई वस्तु किसी समय आप को चाहनी हो, किसी कार्यकर्ता से कह दीजिए बस मानों कल की लाई धरी है ! सबके एक से पट मन्दिर (डेरे), सबका एक विचार (देशहित), आमोद प्रमोद, संलाप-समागम के सिवा कुछ काम नहीं । व्याख्यानालय में पहुँचने के सिवा कोई चिन्ता नहीं, हजारों की वस्तु अकेले डेरे में डाल आइए, सुई तक खो जाने का डर नहीं, नहाने खाने सोने बैठने सैर करने आदि की किसी सामग्री का अभाव नहीं ! तनिक सिर भी दुखे, बैद, हकीम, डाक्टर सब उपस्थित हैं । पास ही कांग्रेस के बाजार में दुनिया भर की चीजें ले लीजिए !

पास ही तम्बू के तले दुनिया भर के समाचार (अखबार) जान लीजिए ! पास ही डाक के बम्बे (लेटरबाक्स) में लिख के डाल दीजिए, आपका सारा हाल आपके संबंधियों को पहुँच जायगा । उसके पास हो डेरे में चले जाइए, अपने घर नगर का वृत्त जान लीजिए । जहाँ व्याख्यान होते थे वुह स्थान ऐसा सुदृश्य और नाना बस्तु तथा एंक रंग रूप की कुर्सियों से सुसज्जित था कि देखते ही बनता था । विशेषतः महात्मा ह्यूम इत्यादि पुरुषरत्नों के आने पर तथा किसी के उत्तम व्याख्यान में कोई चीज की बात आ जाने पर करतल ध्वनि और आनन्द ध्वनि के एवं नाना रंग रूमालनर्तन की शोभा देख के यही ज्ञात होता था कि हम सुरराज के मंदिर में देव समुह के मध्य बैठे हुए आनन्द समुद्र की लहरें ले रहे हैं । 26 से 29 ता० तक कांग्रेस का महाधिवेशन रहा ।

इस अवसर में प्रतिदिन प्रतिछिन आनन्द की वृद्धि रही । पर वुह आनन्द केवल भारतभक्तों के भाग्य में था । इतर लोग तो जो वहाँ जा भी पहुँचे तो कोरे के कोरे ही आए ! एक दिन एक मियाँ साहब किसी से टिकट माँग के हमारी प्रेम छावनी के भीतर पहुँच भी गए, पर इधर उधर अपनी अंटीबाजी फैलाने से बाज न आए । अतः दूध की मक्खी की भाँति दूर कर दिए गए ! 25 ता० को हमारे राजा शिवप्रसाद साहब भी प्रयाग जी में आए, और डेलीगेट होने का दावा किया, बरंच फीस भी जमा कर दी, एवं अपने पूर्व कृत्यों का अनुताप भी प्रकाशित किया । पर किसी को विश्वास न हुवा ।

विश्वास तो तब होता जब आप किसी देशहित के काम में शरीक हुए होते । लोग नाना प्रकार

के तर्क वितर्क करने लगे । किसी ने कहा—'राज जुवति गति जानि न जाई' किसी ने कहा, चतुर तो हई हैं, कौन जाने—'चौथे पन नृप कानन जाहीं' का उदाहरण दिखावें । किसी ने कहा, अभी यही तो कांग्रेस वालों को दंडनीय ठहराते थे, एक बारगी क्यों कर बदल जायँगे । जरूर कुछ दाल में काला है । इनका यहाँ आना भेद से खाली नहीं है । अवश्य 'कोई माशूक है इस परदए जंगारी में' । अस्तु, बहुत कहने सुनने से मिला लिए गए । पर 26 तारीख को कुछ बोले चाले नहीं । इससे सबको निश्चय सा हो गया कि दिन भर का भूला साँझ को घर आ गया होगा । पर 27 तारीख को लीला दिखाना आरंभ ही तो किया !

आप जानते हैं शिवजी गरलकंठ तो हई हैं । उसकी झार हम मनुष्यों से कहाँ सही जाती है । आप बोलते जाते थे, लोग हिचकी ले ले के रद्द करते जाते थे ! अंत में जब श्रोतागण बिलकुल उकता गए तो 'गच्छ गच्छ सुर श्रेष्ठ' वाला मंत्र पढ़ने लगे । अस्तु, आप विराजे और हमारे परमाचार्य (सभापति) श्रीयुत जार्जयूल तथा श्री नवलविहारी बाजपेयीजी ने उस विष की शांति के लिए मंत्रपाठ किए । दूसरे दिन हमारे सी०एस०आई० महाशय अपनी काशी को पधार गए और कांग्रेस रूपी कलानिधि का ग्रहण छूटा ! सबको आनंद हुवा, जिसका वर्णन करने को बड़ा सा ग्रंथ चाहिए ।

जहाँ स्कूल के छात्रों तक को देशभक्ति का इतना जोश था कि रेल पर से डेलीगेटों को बड़ी प्रीति के साथ लाते थे, और डेरों पर सारा प्रबंध बड़ी उत्तमता से करते थे, तथा चपरास पहिन 2 के व्याख्यान मंदिर का इंतजाम करते थे, और प्रतिपल प्रेम प्रमत्त रहते थे, प्रतिनिधियों की सुश्रूषा में ही अपना गौरव समझते थे, (परमेश्वर करे कि हमारी राज राजेश्वरी इन वालंटियरों को शीघ्र वालंटियर बनावें और अपनी कीर्ति तथा हमारी राजभक्ति बढ़ावें) वहाँ दूसरों के आनंद का क्या कहना !

तीस तारीख को सामाजिक व्याख्यान हुए थे और उसी दिन बहुत से लोग विदा भी हो गए थे । उस दिन अवश्य सब सहृदयों को वैसा ही खेद हुवा होगा जैसा रामचंद्रजी को चित्रकूट में छोड़ के श्री पादुका लिए हुए भरत जी के साथ अयोध्यावासियों को घर लौटते समय हुवा था ! पर हम उसका वर्णन करके अपने पाठकों को वियोग कथा नहीं सुनाया चाहते । 1889 में बंबई की कांग्रेस के लिए सन्नद्ध होने का अनुरोध और दूसरे अंक में प्रयाग की कांग्रेस के कर्तव्य सुनाने का इकरार करके इस अध्याय को यहीं समाप्त करते हैं । बोलो 'कांग्रेस की जै !' बोलेगा सो निहाल होगा । बोलो 'महारानी विक्टोरिया की जै 3 !'

खंड 5, सं० 6 (15 जून ह० सं० 5)

सहबास बिल अवश्य पास होगा

कहीं मुँह की फूँक से पहाड़ नहीं उड़ 2 जाते । अखबारों का चायँ 2 करना अथवा लोगों को

छोटी 2 बड़ी 2 सभाएँ करके उसके विरुद्ध मेमोरियल भेजना नक्कारखाने में तूती की आवाज मात्र है। यह बातें उस देश में प्रभावशालिनी हो सकती हैं जहाँ की समाज में कुछ जीवन हो, जहाँ के समुदाय को तत्रस्थ राजपरिकर कुछ समझता हो। पर भारत के भाग्य से अभी यह सौभाग्य सौ कोस दूर है। हमें ऐसी किसी बृहद घटना का स्मरण नहीं है कि जिसमें प्रजा की पुकार ने 'राजा करे सो न्याव' वाले सिद्धांत को रोक रक्खा हो। फिर क्योंकर मान लें कि Consent Bill न पास होगा। हमने माना कि इसके द्वारा हमारे गर्भाधान संस्कार (जो हमारे परम माननीय वेदों के अनुसार सबसे पहिला संस्कार है) पर हस्तक्षेप होता है और किसी के धर्म पर हस्तक्षेप होना महारानी विक्टोरिया की प्रतिज्ञा के विरुद्ध है, पर इससे क्या होना है, गोबध भी तो हमारे धर्म के महा 2 विरुद्ध है, पर क्या वह लाख हाय 2 करने भी रुक गया ?

और भाई, वह बिल तो हमारे ही चिरसिंचित पाप वृक्ष की बतिया है, फिर क्यों न पकेगी ? अपूर्णयौवना स्त्री के साथ पुरुष का संपर्क वेद शास्त्र पुराण तो क्या आह्ला तक में अनुमोदित नहीं है। बाल्यविवाह के लतियों ने श्री काशीनाथ भट्टाचार्य कृत शीघ्रबोध के 'अष्टवर्षा भवेद्गौरी' इत्यादि दो श्लोकों का आश्रय ले रखा है, पर उनके किसी अक्षर में उक्त अवस्था के विवाह की आज्ञा कैसी ध्वनि भी नहीं पाई जाती।

यदि कन्यादान शब्द से दश वर्ष की ही का अर्थ लीजिए (यद्यपि युक्ति और प्रमाणों से यह भी दूर है, क्योंकि स्त्री चाहे जितनी बड़ी हो माता पिता की कन्या ही है) तौ भी उसका पतिगृह गमन सात वर्ष, पाँच वर्ष वा न्यूनातिन्यून तीन वर्ष के पूर्व न शास्त्र रीति से कर्तव्य है न लोक रीति से। इस प्रकार तेरह वर्ष से पहिले पति सहवास का उसे अवसर ही न मिलना चाहिए। पर जो लोग धर्म ग्रंथों का तिरस्कार एवं लोक लज्जा को अस्वीकार करके जगदंबा शिवप्रिया गौरी अथवा श्री बलदेव दाऊ की माता रोहिणी अथवा विश्वकन्या के पति अथवा उपपति बन के कामांधता के वश पशुत्व का व्यवहार कर उठाते हैं या उसमें सहायता देते हैं उन्हें सरकार की कौन कहे, परमेश्वर भी लोक परलोक के काम का नहीं रखता और इसी विचार से सैकड़ों मस्तिष्कमान देशभक्त लोग बरसों से चिल्लाते 2 थक गए कि अपना भला चाहो तो बाल विवाह की रीति उठाओ, दूध के बच्चों का बलवीर्य मट्टी में न मिलाओ पर किसी के कान में चींवटी न रेंगी।

रेंगे कैसे, जिस देश की दुर्दशा अभी पराकाष्ठा को नहीं पहुँची वहाँ अपने हितैषियों की बात कब सुनी जाती है। लातों के देवता कहीं बातों से माने हैं ? वहीं जब मिस्टर मालाबारी ने विलायत तक धूम मचाई और एतद्विषयक कानून बनने की नौबत आई तब कान खड़े हुए हैं कि यदि उपर्युक्त बिल पास हो गया तो हमारे चरऊ व्यवहार भी दूसरों के हाथ जा पड़ेंगे और जो इन स्त्रियों की परदादारी को भारतवासी सदा से प्राणों से अधिक रक्षणीय समझते आए हैं, 'धन दै के जिय राखिए जिय दै रखिए लाज' की कहावत प्रसिद्ध है, रामायण और महाभारत ऐसे प्रसिद्ध धर्म ग्रंथों में राक्षस कुल और कौरव वंश के सर्वनाश का कारण सूर्पनखा की नाक का काटना, सीताजी का हर जाना और द्रौपदी जी का केशाकर्षण मात्र लिखा है, इस महा अवनति की शताब्दी में भी जितने लोग फाँसी चढ़ाए जाते हैं उनमें से अधिकों के अपराध का मूल पता लगा के देखिए जो स्त्रियों की अप्रतिष्ठा ही पाई जायगी। उस परदादारी की जड़ में मानों दिन रात कुठार रक्खी रहेंगी।

जहाँ किसी द्वेषी अथवा दुराचारी ने किसी रीति से लोकल गवर्नमेंट के कानों तक झूठ सच यह

बात पहुँचा दी कि अमुक के यहाँ बारह वर्ष से स्वल्प अवस्था वाली स्त्री के साथ अनुचित व्यवहार हुआ है, वहीं विचारी पर्दे में रहने वाली बहू बेटियों का डाक्टर के सामने अपमानित और कचहरी में आकर्षित होना अमिट हो जायगा, बड़े 2 प्रतिष्ठितों का लाख का घर खाक हो जायगा, पुरुषों की नाक पर छुरी फिर जायगी, पानीदार लोग यदि डूब न मरेंगे अथवा विषादि के द्वारा आत्मघात न करेंगे तौ भी किसी को मुँह दिखाने के योग्य तो अवश्य ही न रह जायँगे । फिर सच्चे अपराधी अथवा मिथ्या कलंक लगाने वाले उपाधी को दंड तो जब मिलेगा तब मिलेगा ।

इसी से लाखों हृदयवान लोगों का कलेजा काँप रहा है । समाचार पत्रों और सभाओं में हाहाकार मच रही है, चारों ओर से बड़े लाट साहब की सेवा में निवेदन जा रहे हैं कि इस विषय में शीघ्रता न की जाय, बहुत सोच समझ से काम लिया जाय । पर विचारशक्ति को निश्चय नहीं है कि इन विनयपत्रों पर कुछ भी ध्यान दिया जायगा । लक्षण कुलक्षण ही देख पड़ते हैं । इधर तो बिल के विरोधियों की संख्या यद्यपि अधिक है किंतु समर्थक लोग बड़े 2 हैं और उधर हमारे गवर्नर जनरल महोदय ने एतद्विषयक विचार के लिए केवल पाँच सप्ताह का समय दिया है ! भला इतने अल्पकाल में इतनी बड़ी बात का निर्णय क्या होना है !

हमारे धर्म प्रतिष्ठा और समाज का महा अपमान होना निश्चित है । पर जो लोग इस विषय के कर्ता संहर्ता हैं उन्हें हमारे मर्मांतक आघात का बोध भी नहीं है । उलटा यह विश्वास है कि यह नियम चल जाने से स्त्री जाति की रक्षा होगी । फिर हम क्यों कर कहें कि सहबास बिल न पास होगा । हाँ, अपने बचाव का उपाय करने में चूकना हृदयवान पुरुषों को उचित नहीं है, इससे हमारे पाठकों को चाहिए कि आलस्य छोड़ के, सारे संसार का संकोच छोड़ के, जिस प्रकार हो सके बहुत शीघ्र यथासंभव बहुत बड़ी सभाएँ जोड़ के, निवेदन पत्रों के द्वारा हाथ जोड़ के, सर्कार को समझावें कि इस विषय को हमारे ही हाथ में रहने दे ।

इधर देश भाइयों को भी पूर्ण उद्योग के साथ चितावें कि अब लड़के लड़कियों के ब्याह को गुड़िया गुड्डे का ब्याह समझना ठीक नहीं है । बस इतना ही भर हमारा कर्तव्य है । उसे करना ही परम धर्म है । पर होगा क्या, परमेश्वर जानता है । शायद हमारी अबला बालाओं पर दया करके वह लोगों की मति पलट दे । किंतु वर्तमान आसार यही निश्चय दिलाते हैं कि सहबास बिल अवश्य पास होगा और उसके द्वारा सहस्रों घर त्राहि 2 करेंगे ।

खं० 7, सं० 7 (15 फ़रवरी ह० सं० 7)

स्वतंत्रता

यह एक ऐसा गुण है कि न किसी के देने से किसी को प्राप्त हो सकता है न कोई किसी से माँग के पा

सकता है किंतु पात्रानुसार तारतम्य के साथ आप से आप ही लब्ध होता है। ईश्वर सब बातों में सबसे बड़ा है अतः पूर्ण रीति से वही एक स्वतंत्रता का आधार है और किसी को इस का दावा करना व्यर्थ है। जो लोग कहते हैं कि मनुष्य को ईश्वर ने स्वतंत्र बनाया है वे भूलते हैं क्योंकि कोई किसी के बनाने से स्वतंत्र नहीं बन सकता जब तक वह स्वयं उसके योग्य न बने।

मनुष्य अपने निर्वाहार्थ काम करने में भले ही स्वतंत्र हो पर जब कि कामों का फल भोगने में स्वतंत्र नहीं है, उसकी इच्छा के विरुद्ध ईश्वरीय नियमानुसार रोग वियोगादि उसे आ ही दबाते हैं तो फिर स्वतंत्रता कहाँ रही। सिद्धांत यह कि जिसके ऊपर किसी प्रबलतर व्यक्ति का प्रभाव पड़ सकता है वह स्वतंत्र कदापि नहीं कहा जा सकता और ईश्वर या सृष्टि का नियम सबके ऊपर प्राबल्य जमाए हुए है। अतः सचमुच की स्वतंत्रता किसी को नहीं है। हाँ, भ्रमात्मक विश्व में कल्पना करना चाहिए तो यों कर लीजिए कि जो जितना बड़ा है उसे उतनी ही स्वतंत्रता हस्तगत है जिसे अधिक बड़े लोग छीन सकते हैं, किंतु छोटे लोगों का, जो उसके अधीन हैं अथवा हो सकते हैं, उसकी रीस करना वृथा है अथच न्यायादि के अनुरोध द्वारा उसकी स्वतंत्रता में से साझा माँगना एक प्रकार का पागलपन है। जब कि आप स्वल्प सामर्थी वा सामर्थ्य शून्य होकर स्वतंत्र बनना चाहते हैं तो जिसे स्वतंत्रता प्राप्त है वह उसे गँवा बैठना या घटा लेना क्यों चाहेगा ? यों अपनी इच्छा से आप को फुसला देने के लिए चिकनी चुपड़ी बातें बना देना और बात है पर यह कभी संभव नहीं है कि आपके माँगने से कोई पुरुष वा समुदाय वह वस्तु उठा दे अथवा उसमें आपको भी साझी बना ले जिसे संसार में सभी चाहते हैं किंतु प्राप्त उसी को होती है जो उसके योग्य हो !

यदि आप योग्यता रखते हों अथवा धन जन बल छल इत्यादि की सहायता से योग्य बन जायँ तो आपको भी आप से आप मिल रहेगी नहीं तो यांचा वह है जिसने त्रैलोक्यव्यापी विष्णु भगवान को बावन अंगुल का बना दिया। उसके द्वारा बड़ाई किसे मिल सकती है ? और बड़ाई भी वह जिसे बड़े 2 लोग बड़ी 2 मुड़ धुन करके प्राप्त करते हैं, सो भी पूर्ण तृप्ति के योग्य नहीं, तीन खाते हैं तेरह की भूख बनी ही रहती है। ऐसे परम बांछनीय अमूल्य पदार्थ के चाहने वालों को तो चाहिए कि अपने अभीष्ट की मानसिक मूर्ति वा काल्पनिक प्राप्ति के हेतु अपना तन मन धन प्रान लोक परलोक बार देने का हौसिला रक्खें अथवा सब प्रकार के भय संकोच लालच इत्यादि को तिलांजुली दे के अपने को दृढ़ विश्वास के साथ स्वतंत्र समझ लें और इस विश्वास में विक्षेप डालने वाले ईश्वर तक को कुछ न समझें। बस फिर प्रत्यक्ष देख लेंगे कि ऐसे चाहने वाले से परमेश्वर भी दूर नहीं रह सकता, स्वतंत्रता तो उसके अनंत गुणों में से एक गुणमात्र है।

जब जहाँ जिसने जो कुछ प्राप्त किया है इसी सच्चे और दृढ़ प्रेम के द्वारा प्राप्त किया है। इसी के अवलम्बन से जो कोई जो कुछ प्राप्त करना चाहे कर सकता है और यदि यह न हो सके तो समझ लीजिए कि सभी स्वतंत्र हैं। संसार में बीसियों धर्म ग्रंथ एवं सैकड़ों राजनियम सहस्रों भाँति का भय दिखलाया करते है पर कोई काम ऐसा नहीं है जो न होता हो। समर्थी लोग कोई न कोई बहाना गढ़ के मनमाना काम कर लिया करते हैं और असमर्थी यह विचार के जो चाहते हैं नहीं कर उठाते हैं कि यह होगा तो क्या होगा और वह होगा तो क्या होगा। इस रीति से विचार के देखिए तो आवश्यकता का ही नाम स्वतंत्रता है। जिसे जब किसी बात की अत्यावश्यकता होती है और उसकी पूर्ति का किसी ओर से आसरा नहीं देख पड़ता तब वह दुनिया भर का संकोच छोड़ के अपना काम निकालने के लिए

सभी कुछ कर लेता है । यह स्वतंत्रता नहीं तो क्या है ? और इसकी प्राप्ति के लिए चाहिए ही क्या ? केवल देव के भरोसे बैठे रहिए "रात दिन गरदिश में हैं सात आसमान, हो रहेगा कुछ न कुछ घबरायँ क्या" ।

जब परतंत्रता अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जायगी, खाना पीना मरना जीना सभी कुछ पराए हाथ जा पड़ेगा तब आप ही झख मारिएगा और जैसे बनेगा वैसे स्वतंत्रता की खोज कीजिएगा एवं 'जिन ढूढ़ा तिन पाइयाँ' का जीवित उदाहरण बन जाइएगा । पर उसमें आपकी करतूत कुछ न होगी, वह काल भगवान की लीला कहलावैगी जो अपने चक्र को सदा घुमाया करते हैं और तदनुसार नीचे के आरे ऊपर तथा ऊपर वाले नीचे आप से आप हो जाया करते हैं ।

आपको यदि स्वतंत्रता प्यारी हो और उसकी प्राप्ति का यत्न करना अभीष्ट हो तो इतना ही मात्र कर्तव्य समझिए कि जहाँ तक हो पराए झगड़े अपने ऊपर न लीजिए केवल अपने काम से काम रखिए एवं अपने काम में यथा सामर्थ्य दूसरों का सम्पर्क न होने दीजिए । इसमें यदि कोई अन्याय अथवा बल प्रदर्शन द्वारा हस्तक्षेप करना चाहे तो ईश्वर वा सामयिक प्रभु अथवा किसी सामर्थ्य वाले का साहाय्य ग्रहण कीजिए पर केवल उतना ही जितने में बली विघ्नकर्ता के हाथ से बचाए रहे । यह न होने पावै कि सहायकर्ता की अधीनता में कोई ऐसा दूसरा विषय भी जा पड़े जिसमें बिघ्नकारी का हाथ न पड़ा था । पर ऐसा कभी ही कभी हुआ करता है ।

नित्य के लिये तो केवल इतना ही ध्यान रखना चाहिए कि अपना तथा अपनों का निर्वाह होता रहे । अपने साथ दूसरों का तथा दूसरों के साथ अपना कोई प्रयोजन नहीं । कोई कुछ कहे, कहीं कुछ हो, अपने को क्या ? अपनी आत्मा प्रसन्न रहनी चाहिए बस इस पथ का अवलंबन करने से देश काल की दशा के अनुसार स्वतंत्रता के उतने अंश को प्राप्त कर लीजिएगा जितना आपकी सी दशा वालों को प्राप्य है और इसी से आप अपनी भली वा बुरी मनोगति के अनुकूल ईप्सित कार्य्यों की पूर्ति में अब से अधिक सूक्ष्म रहिएगा । नहीं तो कोरी बातें बनाया कीजिए और नाना प्रकार के उपाय करते रहिए पर रहिएगा परतंत्र ही । स्वतंत्रता तो केवल उन्हीं के लिये है जो स्वभावतः स्वतंत्र हों अथवा अपने स्वभाव को स्वतंत्र बनाने का पूर्ण उद्योग करें ।

खं० 7, सं० 12 (15 जुलाई ह० सं० 7)

पुलिस की निंदा क्यों की जाती है ?

जबकि सर्कार ने यह मुहकमा प्रजा की शांति रक्षा के मानस से नियत किया है तो इसकी निंदा लोग क्यों किया करते हैं ? हम ऐसे बहुत ही थोड़े देखते हैं जिनकी जिह्वा वा लेखनी बहुधा पुलिस वालों की शिकायत न किया करती । यह क्यों ? तिसमें भी सौ पचास की तनख्वाह पाने वाले ऊँचे अधिकारियों

की शिकायत इतनी नहीं सुन पड़ती क्योंकि उन्हें निर्वाह योग्य वेतन मिलने से तथा प्रतिष्ठा भंग के भय से निंदनीय काम करने का अवसर थोड़ा मिलता है और यदि मिला भी तो साधारण लोग उनके डर से जब तक बहुत ही खेद न पावें तब तक छोटी मोटी शिकायतें मुँह पर नहीं लाते । मन की मन ही में रहने देते हैं । किंतु पाँच सात दस रुपया महीना के चौकीदार कांसटेबिलों की शिकायत जब देखो तभी जिसके देखो उसी के मुँह पर रखी रहती है ।

इसका क्या कारण है ? क्या यह मनुष्य नहीं है ? क्या यह इतना नहीं जानते कि हम सर्वसाधारण में शांति रखने के लिए रक्खे गए हैं न कि सताने कुढ़ाने वा चिढ़ाने के लिए ? यदि यह है तो फिर वह लोग क्यों ऐसा बर्ताव करने से नहीं बचे रहते जिसमें निंदा बात 2 में धरी है । संसार की रीति के अनुसार अच्छे और बुरे लोग सभी समुदायों में हुआ करते हैं तथा बहुत ही अच्छे बुरे लोग बहुत थोड़े होते हैं । इस नियम से पुलिस वालों में से भी जो कोई दुष्ट प्रकृति के बंश अपने अधिकार को बुरी रीति से व्यवहृत करके किसी के दुःख का हेतु हो उसको निंदा एवं उसके विरुद्ध आचरण रखने वालों की स्तुति होनी चाहिए । पर ऐसा न होकर अनेकांश में यही देखा जाता है कि इस विभाग के साधारण कर्मचारियों में से प्रशंसा तो कदाचित् कभी किसी बिरले ही किसी के मुख से सुन पड़ती हो पर निंदा सुनना चाहिए तो जने जने से सुन लीजिए ।

इसका कारण जहाँ तक विचार कीजिए यही पाइएगा कि इन लोगों को वेतन बहुत ही थोड़ा मिलता है । दूसरी रीति से कुछ उपार्जन करने का समय मिलता ही नहीं है । प्रकाश्य रूप से सहारे की कोई सूरत नहीं रहती । इसी से 'वुभुक्षितः किं न करोति पापम्' का उदाहरण बने रहते हैं । हिंदुस्तानी भले मानसों के यहाँ कहार चार रुपया पाते हैं पर कभी जूठा कूठा अन्न, कभी तिथि त्योहार की त्योहारी, कभी फटा पुराना कपड़ा जूता इत्यादि मिलता रहता है और आवश्यकता पड़ने पर रुपया धेली यों भी दे दी जाती है ।

इधर स्त्रियाँ भी दो चार घर में चौका बरतन करके कुछ ले आती हैं । इससे साधारण रीति से गरीबामऊ निवाह होता रहता है । पर चौकीदार की तनख्वाह चार रुपया और कांस्टेबिल की पाँच रुपया बँधी है, ऊपर से प्राप्ति होने का कोई उचित रास्ता नहीं है, वरंच उरदी साफा लाठी जूता आदि के दाम कटते रहते हैं । सो भी यदि वे अपने सुभीते से खरीदते पावें तो कुछ सुभीते में रहें, किंतु वहाँ ठेकेदार के सुभीते से सुभीता है । इससे अधिक नहीं तो एक के ठौर सवा तो अवश्य ही उठता है । इस रीति से पूरा वेतन भी नहीं हाथ आता और काल कराल का यह हाल है कि चार-पाँच रुपया महीना एक मनुष्य के केवल सामान्य भोजनाच्छादन को चाहिए ।

स्त्रियाँ हमारे यहाँ की प्रायः कोई धंधा करती नहीं हैं । उसका सारा भार पुरुषों ही पर रहता है । और ऐसे पुरुष शायद सौ पीछे पाँच भी न होंगे जिनके आगे पीछे कोई न हो । प्रत्येक पुरुष को अपनी माता, भगिनी, स्त्री आदि का भरण पोषण केवल अपनी कमाई से करना पड़ता है । हम ने माना कि सबको सब चिंता न हो तथापि कम से कम एक स्त्री का पालन तो सभी के सिर रहता है । यदि कोई संबंधिनी न होगी तौ भी प्राकृतिक नियम पालनार्थ कोई स्त्री ऐसी ही होगी जिसका पूरा बोझा नहीं तो आधा ही भार उठाना पड़ता हो । अब बिचारने का स्थल है कि पौने चार अथवा पौने पाँच रुपए में दो प्राणियों का निर्वाह कैसे हो सकता है जब तक कुछ और मिलने का सहारा न हो । सो यहाँ तरक्की का आसरा मुकद्दिमे लाने और अफसरों को प्रसन्न रखने पर निर्भर ठहरा । काम कम से कम दश घंटे

करना चाहिए । ऊपर से अवसर पड़ने पर न दिन छुट्टी न रात छुट्टी ।

दैवयोग से कोई दैहिक दैविक आपदा आ लगे तो जै दिन काम न करें तै दिन पूरी तनख्वाह एवजीदार को दें । इससे दूसरा धंधा करने का ब्योंत नहीं । काम चलाने भर को पढ़े ही होते अथवा घर में खेती किसानी का और किसी बृत्ति का सुभीता होता तो विदेश में आके इतनी छोटी तनख्वाह पर नौकरी ही क्यों करते ? फिर भला बिचारे करें तो क्या करें ? अपने उच्चाधिकारियों को खुश न रक्खें तो तरक्की कैसी नौकरी ही जाती रहे । और उनका खुश रहना तभी संभव है जब दूसरे चौथे एक आधा मुकद्दिमा आता रहे और सबूते कामिल मिलता रहे । क्योंकि इसी में अफसर की मुस्तैदी की तारीफ और मातहत की भाग्यमानी है ।

इस दशा में सर्वसाधारण को प्रसन्न करें कि अपनी उम्मेद की जड़ सींचें ? हाकिम और रईयत दोनों का खुश रखना बड़े भारी नीतिज्ञ का काम है न कि चार पाँच रुपये के पियादे का । और गृहस्थी के भ्रमजाल वह हैं जो बड़े 2 धनवानों, विद्वानों और बुद्धिमानों का मन डावाँडोल कर देते हैं यह बिचारे क्या है । तथा दुनिया का कायदा यह है कि सीधी तरह एक पैसा माँगो तो न मिले पर कोई डर वा लालच दिखा के आडम्बर करके लेना आता हो तो एक के स्थान पर चार मिल जायँ । एवं आवश्यकता जब दबाती है तब न्याय अन्याय का विचार भूल जाता है, केवल काम निकालने की सूझती है । इन सब बातों पर ध्यान देकर बतलाइए तो कि वर्तमान काल की व्यवस्था में यह क्यों कर सर्वसाधारण लोगों में आजकल का साधन संकोच न था । इससे अपने निर्धन स्वदेशियों की शक्ति सहारा पहुँचाने में लोगों को रुचि थी । पर वह जमाना अब नहीं है ।

सारी चीजें महँगी हैं और धन तथा व्यापार दिन 2 घटता है । इससे अनेक लोग 'क्षीणा नरा निष्करुणा भवंति' वाले वाक्य को सार्थक कर रहे हैं । ऐसे समय में पुलिस ही कहाँ तक फूँक 2 पाँव धर सकती है । हाँ नए नौकरों को कम से कम दस 20 मासिक मिला करे फिर तरक्की चाहे बीस बरस तक न हो तब दस ही पाँच वर्ष में देख लीजिए कि इन्हीं वर्तमान सेवकों में से कितने लोग सज्जनता का परिचय देते हैं और कितने नए भले मानस भरती हो के इस विभाग का कलंक मिटाने को चेष्टा करते हैं तथा राजा प्रजा दोनों की प्रसन्नता के पात्र बनते हैं । नहीं तो विचारशक्ति सदा यही कहा करेगी कि पुलिस की निंदा क्यों की जाती है ?

खं० 8, सं० 4-5 (नवंबर-दिसंबर, ह० सं० 7)

स्वतंत्र

हमारे बाबू साहब ने बरसों स्कूल की खाक छानी है, बीसियों मास्टरों का दिमाग चाट डाला है, विलायत भर के ग्रंथ चरे बैठे हैं, पर आज तक हिस्ट्री जियोग्रफी आदि रटाने में विद्या-विभाग के अधिकारीगण जितना समय नष्ट कराते हैं उसका सतांश भी स्वास्थ्यरक्षा और सदाचार शिक्षा में लगाया जाता हो तो बतलाइए ! यही कारण है कि जितने बी०ए०, एम०ए० देखने में आते हैं, उनका शरीर प्रायः ऐसा

ही होता है कि आँधी आवै तो उड़ जाय । इसी कारण उनके बड़े 2 ख़यालात या तो देश पर कुछ प्रभाव ही नहीं डालने पाते वा उलटा असर दिखाते हैं । क्योंकि तन और मन का इतना दृढ़ संबंध है कि एक बेकाम हो तो दूसरा भी पूरा काम नहीं दे सकता, और यहाँ देह के निरोग रखने वाले नियमों पर आरंभ से आज तक कभी ध्यान ही नहीं पहुँचा । फिर काया के निकम्मेपन में क्या संदेह है; और ऐसी दशा में दिल और दिमाग निर्दोष न हों तो आश्चर्य क्या है ! ऊपर से आपको अपने देश के जलवायु के अनुकूल आहारबिहार आदि 2 नापसंद ठहरे । इससे और भी तन्दुरुस्ती में नेचर का शाप लगा रहता है । इसपर भी जो कोई रोग उभड़ आया तो चौगुने दाम लगा के, अठगुना समय गँवा के विदेशी ही औषधि का व्यवहार करेंगे, जिसका फल प्रत्यक्ष रूप से चाहे अच्छा भी दिखाई दे पर वास्तव में धन और धर्म ही नहीं वरंच देशीयरहन के विरुद्ध होने से स्वास्थ्य को भी ठीक नहीं रखता, जन्म-रोगीपने की कोई न कोई डिग्री अवश्य प्राप्त करा देता है ।

यदि सौ जेंटिलमैन इकट्ठे हों तो कदाचित ऐसे दस भी न निकलेंगे जो सचमुच किसी ऐसे राजगरो की कुछ न कुछ शिकायत न रखते हों । इस दशा में हम कह सकते हैं कि आपरूप का शरीर तो स्वतंत्र नहीं है, डाक्टर साहब के हाथ का खिलौना है । यदि भूख से अधिक डबल रोटी का चौथाई भाग भी खा लें या ब्रांडी देवी का चरणोदक आधा आउंस भी पी लें तो मरना जीना ईश्वर के अधीन है, पर कुछ दिन वा घंटों के लिए जमपुरी के फाटक तक अवश्य आवैंगे, और वहाँ कुछ भेंट चढ़ाए और 'हा हा हू हू' का गीत गाए बिना न लौटेंगे । फिर कौन कह सकता है कि मिस्टर विदेश दास अपने शरीर से स्वतंत्र हैं ?

और सुनिए, अब वह दिन तो रहे ही नहीं कि देश का धन देश ही में रहता हो, और प्रत्येक व्यवसायी को निश्चय हो कि जिस वर्ष धंधा चल गया उसी वर्ष, वा जिस दिन स्वामी प्रसन्न हो गया उसी दिन सब दुःख दरिद्र टल जायँगे । अब तो वह समय लगा है कि तीन खाओ तेरह की भूख सभी को बनी रहती है । रोजगार व्यवहार के द्वारा साधारण रीति से निर्वाह होता रहे यही बहुत है । विशेष कार्यों में व्यय करने के अवसर पर आजकल सैकड़ा पीछे दश जने भी ऐसे नहीं देख पड़ते जो चिंता से व्यस्त न हो जाते हों । इस पर भी हमारे हिंदुस्तानी साहब के पिता ने सपूत जी के पढ़ाने में भली चंगी रोकड़ उठा दी है ।

इधर आपने जब से स्कूल में पाँव रक्खा है तभी से विलायती वस्तुओं के व्यवहार की लत ढाल के खर्च बढ़ा रक्खा है । यों लेक्चर देने में चाहे जैसी सुन लीजिए पर बर्ताव देखिए तो पूरा सात समुद्र के पार ही का पाइएगा । इस पर भी ऐसे लोगों की संख्या इस देश में अब बहुत नहीं है जो धाए धुपे बिना अपना तथा कुटुम्ब का पालन पोषण कर सकतै हों । इससे बाबू साहब को भी पेट के लिए कुछ करना पड़ता है, सो और कुछ न कर सकते हैं न करने में अपनी इज्जत समझते हैं । अतः हेर फेर कर नौकरी ही की शरण सूझती है । वहाँ भी काले रंग के कारण इनकी विद्या बुद्धि का उचित आदर नहीं । ऊपर से भूख के बिना भोजन करने में स्वास्थ्य नाश हो, खाने के पीछे झपट के चलने से रोगों की उत्पत्ति होती हो तो हो, पर डिउटी पर ठीक समय में न पहुँचें तो रहें कहाँ ?

बाजे 2 महकमों में अवसर पढ़ने पर न दिन छुट्टी न रात छुट्टी, पर छुट्टी का यत्न करें तो नौकरी से छुट्टी हो जाने का डर है । इस पर भी जो कहीं मालिक कड़े मिजाज का हुवा तो और भी कोढ़ में खाज है, पर उसकी झिड़की आदि न खाएँ तो रोटी ही कहाँ से खाएँ ? यह छूतें न भी हों तो भी

नौकरी की जड़ कितनी ? ऐसी 2 बातें बहुधा देखकर कौन न कहेगा कि काले रंग के गोरे मिजाज वाले साहब अपने निर्वाहोपयोगी कर्त्तव्य में भी स्वतंत्र नहीं हैं ।

अब घर की दशा देखिए तो यदि कोऊ और बड़ा बूढ़ा हुवा और उनका दबैल न हुवा तौ तो जीभ से चिट्ठी का लिफाफा चाटने तक की स्वतंत्रता नहीं । बाहर भले ही जाति कुजाति अजाति के साथ भच्छ कुभच्छ अभच्छ भच्छन कर आवैं, पर देहली पर पाँव धरते ही हिंदू आचार का नाट्य न करें तो किसी काम के न रक्खे जायँ । बहुत नहीं तो वाक्यवाणों ही से छेद के छलनी कर दिए जायँ । हयादार को इतना भी थोड़ा नहीं है । हाँ यदि 'एक लज्जाम्परित्यज्य त्रैलोक्य विजयी भवेत्' का सिद्धांत रखते हों, और खाने भर को कमा भी लेते हों, वा घर के करता धरता आप ही हों तो इतना कर सकते हैं कि बबुआइन कोई सुशिक्षा दें तो उनको डाँट लें, पर यह मजाल नहीं है कि उन्हें अपनी राह पर ला सकें, क्योंकि परमेश्वर की दया से अभी भारत की कुलांगनाओं पर कलियुग का पूरा प्रभाव नहीं हुवा । इससे उनमें सनातन धर्म, सत्कर्म, कुलाचार, सुव्यवहार का निरा अभाव भी नहीं है ।

आपरूप भले ही तीर्थ व्रत, देव पितर आदि को कुछ न समझिए पर वे नंगे पाँव माघ मास में कोसों की थकावट उठाकर गंगा यमुनादि का स्नान अवश्य करेंगी, हरतालिका के दिन चाहे बरसों की रोगिणी क्यों न हों, पर अन्न की कणिका व जल की बूँद कभी मुँह में न धरेंगी, रामनौमी, जन्माष्टमी, पितृविसर्जनी आदि आने पर, चाहे जैसे हो, थोड़ा बहुत धर्मोत्सव अवश्य करेंगी । सच पूछो तो आर्यत्व की स्थिरता में अनेकांश श्रद्धा दिखाती हैं, नहीं आपने तो छब्बीसाक्षरी मंत्र पढ़ कर चुरुटाग्नि में सभी कुछ स्वाहा कर रक्खा है ।

यद्यपि गृहेश्वरी के यजन भजन का उद्देश्य प्रायः आप ही के मंगलार्थ होता है, पर आप तो मन और बचन से इस देश ही के न ठहरे । फिर यहाँ वालों के आन्तरिक भाव कैसे समझें ? बन्दर की ओर बरफी लेकर हाथ उठाओ तौ भी वह ढेला ही समझ कर खी खी करता हुवा भागेगा ! बिचारी सीधी सादी अबला बाला ने न कभी विधर्मी शिक्षा पाई है, न मुँह खोल के कभी मरते-मरते भी अपने पराए लोगों में नाना भाँति की जटल्लें कहने सुनने का साहस रखती हैं । फिर बाबू साहब को कैसे लेक्चरबाजी करके समझा दें कि तोता मैना तक मनुष्य की बोली सीख के मनुष्य नहीं हो जाते, फिर आप ही राजभाषा सीख कर कैसे राजजातीय हो जायँगे ? देह का रंग तो बदल ही नहीं सकते, और सब बातें क्योंकर बदल लीजिएगा ? हाँ दूसरे की चाल चलकर कृतकार्य तो कोई हुवा नहीं, अपसी हँसी कराना होता है, वही करा लीजिए ।

अब यहाँ पर बिचारने का स्थल है कि जहाँ दो मनुष्य न्यारे-न्यारे स्वभाव के हों, और एक की बातें दूसरे को घृणित जान पड़ती हों वहाँ चित्त की प्रसन्नता किस प्रकार हो सकती है । स्त्री चाहे धर्म के अनुरोध से इनकी कुचाल को सहन भी कर ले, पर लोकलज्जा के भय से गले में हाथ डाल के सैर तो कभी न करैगी, और ऐसा न हुवा तो इनका जन्म सफल होना असंभव है । इनसे मन ही मन कुढ़ने वा बात 2 पर खौखियाने के सिवा कुछ बन नहीं पड़ता, फिर कैसे कहिए कि आप अपने घर में स्वतंत्र हैं ।

रही घर के बाहर की बात, वहाँ अपने ही टाइप वालों में चाहे जैसे गिने जाते हों, पर देश का अधिकांश न इनकी प्यारी भाषा को समझता है, न भेष पसंद करता है, न इनके से आंतरिक और बाह्यिक भावों से रुचि रखता है ! इससे बहुत लोग तो इनकी सूरत ही से क्रिष्टान जान कर मुँह बिचकाते हैं । इससे इनका बक 2 झक 2 करना देशवासियों पर यदि प्रभाव करे भी तो कितना कर

सकता है । हाँ जो लोग इनके संबंधी हैं, और भली भाँति ऊपरी व्यवहारों से परिचय रखते हैं वे कोट पतलून आदि देख के न चौंकेंगे, किंतु यदि इनके भोजन की खबर पा जायँ तो क्षण भर में दूध की मक्खी सी निकाल बाहर करें ।

छुवा पानी पीना तो दूर रहा, इन्हें देख के मत्था पटकौवल (दुवा सलाम) तक के रवादार न हों । एक बार हमने एक मित्र से पूछा कि बहुत से अन्यधर्मी और अन्यजाती हमारे आपके ऐसे मित्र भी हैं, जिनके समागम से ही हुलस उठता है, पर यदि कोई हमारा आपका भैयाचार, नातेदार वा परिचयी विधर्म्मी हो जाता है—विधर्म्मी कैसा, किसी नई समाज में नाम तक लिखा लेता है—तो उसे देख के घिन आती है । बोलने को जी नहीं चाहता । इसका क्या कारण है ? इसके उत्तर में उन्होंने कहा था कि—वेश्याओं के यहाँ हम तुम जाते हैं कि कुछ काल जी बहलावेंगे, किंतु यदि कोई अपनी संबंधिनी स्त्री का, बाजार में जा बैठना कैसा, गुप्त रीति से भी वारविलासिनियों का सा तनिक आचरण रखती हुई सुन पड़े तो उसके पास बैठने वा बात करने से जी कभी न बहलेगा, वरंच उसका मुँह देख के वा नाम सुन के लज्जा, क्रोध, घृणा आदि के मारे मन में आवैगा कि अपना और उसका जी एक कर डालें ।

यों ही परपथावलंबियों का भी हाल समझ लो । यह जीवधारियों का जाति स्वभाव है कि इतरों में अपनायत का लेश पाकर जैसे अधिक आदर करते हैं वैसे ही अपनों में इतरता की गंध भी आती है तो जी बिगाड़ लेते हैं और जहाँ एक मनुष्य को बहुत लोगों के रुष्ट हो जाने का भय लगा हो वहाँ स्वतंत्रता कहाँ ? अतः हमारे लेख के लक्ष्य महाशय कुटुंब की अपेक्षा देश जाति वालों के मध्य और भी परतंत्र हैं ।

यदि यह समझा जाय कि घरदुवार, देशजाति को तिलांजलि देकर जिनके साथ तन्मय होने के अभिलाषी हैं, उनमें जा मिलें तो स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं । यह आशा निरी दुराशा है । उच्च प्रकृति के अँगरेज ऐसों को इस विचार से तुच्छ समझते हैं कि जो अपने ही का नहीं हुवा वह हमारा क्या होगा ? बुद्धिमानों की आज्ञा है कि जिसके साथ मित्रता करनी हो उसका पहिले यह पता लगा लो कि वह अपने पहिले मित्रों के साथ कैसा बर्ताव रखता था । रहे अनुदार स्वभाव वाले गौरांग, वह विद्या, बुद्धि, सौजन्य आदि पर पीछे दृष्टि करते होंगे, पहिले काला रंग देख कर और नेटिव नाम ही सुनकर घृणापात्र समझ लेते हैं । हाँ अपना रुपया और समय नष्ट करके, मानापमान का विचार छोड़ के, साधारणों की स्तुति-प्रार्थनादि करते रहे तो जबानी खातिर वा मन के धन की कमी नहीं है⋯फिर उसे पा के कोई सच्चा स्वतंत्र क्या होगा ?

इसके सिवा किसी से ऋण लें तो चुकाने में स्वतंत्रता नहीं, कोई राजनियम के विरुद्ध काम कर बैठे तो दंड प्राप्ति में स्वतंत्र नहीं, नेचर का विरोध करें तो दुख सहने में स्वतंत्र नहीं, सामर्थ्य का तनिक भी उल्लंघन करने पर किसी काम में स्वतंत्र नहीं, कोई प्रबल मनुष्य पशु वा रोग आ घेरे तो जान बचाने में स्वतंत्र नहीं, मरने जीने में स्वतंत्र नहीं, कहाँ तक कहिए, अपने सिर के एक बाल को इच्छानुसार उजला काला करने में स्वतंत्र नहीं, जिधर देखो परतंत्रता ही दृष्टि पड़ती है । पर आप अपने को स्वतंत्र ही नहीं, वरंच स्वतंत्रता का तत्त्वज्ञ और प्रचारकर्ता माने बैठे हैं ! क्या कोई बतला सकता है कि यह माया-गुलाम साहब किस बात में स्वतंत्र हैं ?

हाँ हमने सुनो, आप वेदशास्त्र पुराणादि पर राय देने में स्वतंत्र हैं । संस्कृत का काला अक्षर नहीं जानते, हिंदी के भी साहित्य को खाक धूल नहीं समझते, पर इसका पूरा ज्ञान रखते हैं कि वेद पुराने जंगलियों के गीत हैं, वा पुराण स्वार्थियों की गढ़ी हुई झूठी कहानियाँ हैं, धर्मशास्त्र में ब्राह्मणों का

पक्षपात भरा हुआ है, ज्योतिष तथा मंत्र शाखादि ठगविद्या है । ऐसी 2 बे सिर पैर की सत्यानाशी रागिनी अलापने में स्वतंत्र हैं । यदि ऐसी बातें इन्हीं के पेट में बनी रहें तो भी अधिक भय नहीं है । समझने वाले समझ लें कि थोड़े से आत्मिक रोगी भी देश में पड़े हैं, उनके लुढ़कते ही "खसकम जहानपाक" हो जायगा, पर यह स्वतंत्रता के भुक्खड़ व्याख्यानों और लेखों के द्वारा भारत-संतान मात्र को अपना पिछलगा बनाने में सयत्न रहते हैं, यही बड़ी भारी खाध है ।

यद्यपि इनके मनोरथों की सफलता पूरी क्या अधूरी भी नहीं हो सकती, पर जो इन्हीं के से कच्ची खोपड़ी और विलायती दिमाग वाले हैं वह बकवास सुनते ही अपनी बनगैली चाल में दृढ़ हो जाते हैं और 'योंही रुलासी बैठी थी ऊपर से भैया आ गया' का उदाहरण बन बैठते हैं । और इस रीति से ऐसों की संख्या कुछ न कुछ बढ़ रहती है, और संभव है कि यों ही ढचरा चला जाय तो और भी बढ़ कर भारतीयत्व के पक्ष में बुरा फल दिखावै ।

वहीं विदेश के बुद्धिमान तनिक भी हमारे सद्विद्या भंडार से परिचित होते हैं तो प्राचीनकाल के महर्षियों की बुद्धि पर बलि-बलि जाते हैं, वरंच बहुतेरे उनकी आज्ञा पर चलने लगते हैं, और इसके पुरस्कार में परमात्मा उन्हें सुख सुयश का भागी प्रत्यक्ष में बना देता है, तथा परोक्ष के लिए अनंत मंगल का निश्चय उनकी आत्मा को आप हो जाता है । देख कर भी जिस हिंदू की आँखें न खुलें, और इतना न सूझें कि जिन दिव्य रत्नों को दूर-दूर के परीक्षक भी गौरव से देखते हैं उन्हें काँच बतलाना अपनी ही मनोदृष्टि का दोष दिखलाना वा अपने अग्रगन्ता की अतिमानुषी बुद्धि का बैभव जतलाना है, और जो ऐसा साहस करने में स्वतंत्र बनता है, उसके लिए विचारशील मात्र कह सकते हैं कि यह स्वतंत्रता एक प्रकार मालीखूलिया (उन्माद) है, जिसका लक्षण है—किसी बात वा वस्तु को कुछ का कुछ समझ लेना, वा बिन जानी बात में अपने को ज्ञाता एवं शक्ति से बाहर काम करने में समर्थ मान बैठना ।

यह रोग बहुधा मस्तिष्क शक्ति की हीनता से उत्पन्न होता है और बहुत काल तक एक ही प्रकार के विचार में मग्न रहने से बद्धमूल हो जाता है । आश्चर्य नहीं कि स्वतंत्र देश के स्वतंत्राचारियों ही की बातें लड़कपन से सुनते 2 और अपनी रीतिनीति का कुछ ज्ञानगौरव न होने पर दूसरों के मुख से उसकी निंदा सहते 2 ऐसा भ्रम हो जाता हो कि हम स्वतंत्र हैं, तथा इस स्वतंत्रता का परिचय देने में और ठौर सुभीता न देख कर अनबोल पुस्तकों ही के सिद्धांतों पर मुँह मारना सहज समझ कर ऐसा कर उठाते हों । इससे हमारी समझ में तो और कोई स्वतंत्रता न होने पर केवल इसी रीति की स्वतंत्रता को दिमाग का खलल समझना चाहिए । फिर भला जिनके विषय में हम इतना बक गए वह बुद्धिविभ्रम के रोगी हैं वा स्वतंत्र हैं ?

परतंत्रता के जो 2 स्थान ऊपर गिना आए हैं उस ढंग के स्थलों पर स्वतंत्रता दिखावैं तौ शीघ्र ही धृष्टता का फल मिल जाता है । इससे स्वतंत्र नहीं बनते । यदि परमेश्वर हमारा कहा माने तो हम अनुरोध करें कि देव, पितृ, धर्म-ग्रंथादि की निंदा जिस समय कोई करे उसी समय उसके मुँह में, और नहीं तो एक ऐसी फुड़िया ही उपजा दिया कीजिए जिसकी पीड़ा से दो चार दिन नींद भूख के लाले पड़े रहें, अथवा पंचों में हमारा चलता हो तो उन्हीं से निवेदन करें कि निंदक मात्र के लिये जातीय कठिन दंड ठहरा दीजिए, फिर देखें बाबू साहब कैसे स्वतंत्र हैं ![1]

---

1. 'निबंध-नवनीत' से उद्धृत ।

लोकोक्ति संबंधी निबंध

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को सब कुछ उठा दीजिए तो भीख माँग के प्रतिष्ठा अथवा चोरी करके धर्म खोइएगा वा भूखों मर के आत्महत्या के पाप भागी होइएगा ! यों ही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है, पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो, उसे राजा से दंड दिलवाइए वा आप ही उसका दमन कर दीजिए तो अनेक लोगों के हित का पुण्यलाभ होगा ।

मार 2 कहे जाओ नामर्द तो खुदा ही ने बनाया है

राम 2 ! क्या मनहूसी की बात निकाल बैठे। आखिर वही हो न। सियारों के मुँह कहीं मंगल निकलते हैं ? न सूझै न बूझै मुँह में आया सो बके सिद्ध। जानते नहीं हो, हम उन लोगों के बंश के हैं जो अपने समय सारे भूगोल के शिरोमणि थे ? बस, वही बाबा आदम के आगे की बातें लिये बैठे रहो "मेरे बाप ने घी खाया था न मानो तो मेरा हाथ सूँघ लेव"। सो तुम्हारे हाथ में रहा क्या है ? वही ढेंखुली के तीन पात ! सो भी जो यही लच्छन रहे तो कुछ दिन में देखना कि घर के धान पयार में मिल गये। फिर वही पुरानी शेखी निबुआ लोन लगा के चाटना, सो उससे होना क्या है ? मरने पर चाहे भले ही बैकुण्ठ पाओ यहाँ तो वही कौड़ी के तीन 2 बने रहोगे। क्योंकि तुम्हारा तो सिद्धांत ही यह ठहरा कि "दुनिया में हाथ-पाँव हिलाना नहीं अच्छा। मर जाना पर उठकर कहीं जाना नहीं अच्छा।"

दाह जी, तुम्हारे मुँह में लगाम ही नहीं है, देखते नहीं हो बंगालियों ने विद्या की कैसी उन्नति की है ? बंबई वालों ने थोड़े दिनों में कारीगरी को कैसा बढ़ाया है ? क्या यह बातें बिना हाथ ही पाँव हिलाये हो गई हैं ? ह ह ह ह ! "पठानों ने गाँव जीता बेहनों ने दाढ़ी फटकारी"। भला यह तो बताओ कि पश्चिमोत्तर देशियों ने क्या काट के कूड़ा किया ? इनसे तौ इतना भी न हुआ उन सच्चे देश भक्तों की कुछ सहायता करके उत्साह ही बढ़ाते। हाँ, जबानी जमा खर्च में पक्के हैं। आपस के झगड़ों में बीर हैं। जहाँ किसी महात्मा ने कोई देश के हित की नई बात निकाली, जो तो आप कुछ उसे न समझे तो बस झट उसे नास्तिक किरिस्तान या दयानंदी का खिताब दे दिया। और जो कहीं जी में आ गया कि नहीं, अच्छा कहता है, तो कुछ दिन तो ऐसा सत्त सढ़ा कि कोई जाने कि अभी धरती उलटाए देते हैं, अभी सतयुग बुलाते हैं, आज सब दुःख दरिद्र हरे लेते हैं, पीछे से कुछ नहीं, फिश् ! हाथ पर हाथ धर के बैठ रहे। करम में लिखा है सो आप हो रहेगा। सो करम में यह लिखा है, बल, बुद्धि, विद्या, धन, धर्म सबको तिलांजुली दे के कोरे संठ बन बैठो, झूरे झन्नाया करो और होना क्या है ?

अपने मुँह मिया मिट्ठू बनने में कुछ लगता है ? कहा करो कि हम पंडितजी हैं, हम महराज साहब हैं, हम लाला लोग हैं, हम यह हैं, हम वह हैं। होंगे अपने चेलों के लिये, अपने यजमानों के लिये, चुटकी बजाने वाले खुशामदी मुफ्तखोरों के लिये, रंडियों के लिये, भँडुओं के लिये जो हो सो बने रहो पर भारत भूमि के लिये तो तुम्हारा होना न होना बराबर है। यदि अने गने तीन जने हुए भी तो क्या है, अकेला चना भाड़ फोड़ सकता है ? उनकी सुनता कौन है, उनका सहायक कौन होता है ? सिर पीटा करें, यार लोग अपनी बनगैली चाल छोड़ते थोड़ी हैं। यहाँ तो समझ लिया है कि (मिल जाय हिंद खाक में हम काहिलों को क्या ? ऐ मीरे फर्श रंज उठाना नहीं अच्छा)। फिर क्या किया जाय ! जितना हो सकता है उतना करते ही हैं। बातें करते हो और करते धरते तो कुछ भी नहीं। जितना कर सकते हो उतना करते होते तो क्यों घर फूँक तमाशा देखते !

देश दिन 2 दीन दशा को पहुँचता जाता है । क्या सूझता नहीं कि बाप दादे कैसे बलवान होते थे कि उनमें साठा सो पाठा की कहावत प्रसिद्ध थी और तुम बीसा सो खीसा हो जाते हो ! इसमें क्या करें, यह युग का प्रभाव है । अभी तो वह दिन आने वाले हैं जब बित्ता 2 भर के आदमी होंगे । जो यही समझ बनी रही तो बित्ता 2 भर क्या है, अंगुल 2 भर के होने लगेंगे । अरे भाई, यह बाल्य विवाह का प्रभाव है, वीर्य रक्षा न करने का प्रभाव है, इसमें युग विचारे का क्या दोष है ? ह ह रे गुरू, लाए न वही दयानन्दी बातें ! और क्या, ऐसा तो कहो ही गे । अच्छा इसे जाने दो, दिन 2 दरिद्र बढ़ता जाता है, उसका क्या बंदोबस्त करते हो ! यही कहोगे कि रोजगार तो करते ही हैं । पर तुम्हारे रोजगारों से पूरा नहीं पड़ता । रुपया जहाजों में लदा विलायत ढोया चला जाता है । जब तक उसके रोकने का यत्न न होगा, जब तक दूसरे मुल्कों से यहाँ रुपया न आवेगा, तब तक इस रूई बीया कपड़ा आदि बेचने या ब्याज खाने से क्या होना है, "टटकन से कहूँ गाजैं टरती हैं ?"

तुम मेहनत करते मर जाओगे, कहीं कोई अँगरेज बहादुर नई चीज निकालेंगे, सब लैया पुँजिया समेट के ले जायँगे । "तेली जोड़ै परी 2 मेहमान लुड़कावै कुप्पा" की कहावत हो जायगी । बहुतेरें को बहुत ठौर सुना कि फलानी कल मँगाते, ढिकानी कम्पनी स्थापित करते हैं, यह कारखाना खोलते हैं, वह कारीगरी फैलाते हैं, अन्त को वही हिंदुस्तानी घिस 2 । इसी पर क्या है, अभी कल की बात है कि गोरक्षा के निमित्त कैसी अरर मची थी । जिस समाज में देखो, जिस नगर में देखो, गोरक्षा के बिना हमारा धन, धर्म, बल, वैभव सब निष्फल हुआ जाता है । सर्कार से निवेदन करेंगे, हाय हमारी गऊमाता को बड़े दुःख हैं । सर्कार भी न सुनेगी तो गोरक्षिणी सभा करेंगे; बड़ी 2 गोशाला बनवावैंगे ।

धिक्कार है हमारे हिंदूपन को, हमारे जात्यभिमान को, मनुष्यत्व को । बेशक 2, हम सब कुछ कर सकते हैं । निस्संदेह हम सब कुछ करेंगे । फलाने श्रुति, स्मृति, पारङ्गत पंडितराजजी ने यह व्याख्यान दिया । अमुक बंश के दीपक लाला फलाने मल ने इतने हजार रुपये देने के लिये दस्तखत किये । यह होगा, वह होगा । आखिर में देखा तो "यह भी न हुआ वह भी न हुआ ।" जब जी लगा के, एक मत हो के सब यह समझ लें कि 'देहम्वा पातवे कार्यम्वा साधये" सो बातें यहाँ गूलर का फूल हो रही हैं। फिर कुछ हो तो क्यों कर हो । करना धरना तो दूर रहा, बहुतेरे तो ऐसे पड़े हैं जिनको देश के हिताहित के विषय की बात तक सुनने की फुर्सत नहीं है ।

फिर भला ऐसों से क्या आसरा किया जाय ? हमने भी समझ रखा है, जैसे वे आलस्य के लतिहल हैं तैसे हम बकने के आदी हैं । उनका यह मत है कि "शतम्वद एकन्नमन्ये" हमारा यह सिद्धांत है कि टेढ़ी-सीधी सुनाए जाओ, गाए 2 ब्याह होता है, क्या अजब कि कभी राह पर आ जायँ । शायद कभी आँख, कान होंय कि हम क्या थे, क्या हो रहे हैं, क्या करें । आगे जैसा होगा वैसा देखा जायगा पर आज तो हमें यही जान पड़ता है कि मार 2 कहे जाओ नामर्द तो खुदा ही ने बनाया है ।

खं० 1, सं० 5 (15 जुलाई, सन् 1883 ई०)

मस्ती की बड़

रामहि केवल प्रेम पियारा ।
जानि लेइ जो जाननहारा ।।

वाह रज्जा वाह ! धूम है तुम्हारी ! क्यों न हो, तुम भी एक ही हो । जब कि बड़े 2 पुराने खुड्ढ तुम पर मोहित हो जाते हैं, बड़े 2 भगत् तिलकधारियों के मुंड्ढ़, तुम्हारी चिकनी चुपड़ी बातों में आके, दीन दुनिया दोनों के खिलाफ काम कर उठाते हैं, बड़े 2 पोथाधारी तुम्हारी खातिर के मारे अपना धरम करम सब हाथ से गँवा बैठते हैं, तो क्यों न क़हिए कि तुम में मोहिनी है । वाह, तुम्हें कोई हमारी आँखों से देखे ! क्या हुवा जो समय के फेर फार से तुम जमाने की आँखों से उतर गये हो, पर हमारी आँखों के सितारे तो फिर भी तुम्हीं हो "अपनी नजरों में तो हो रश्के गुले खंदा तुम, खूब रु चश्मे खयाल में नहीं चंदाँ तुम" । कुछ परवा नहीं, दुनिया हमें थूके, सब भाई बिरादरी हमें नक्कू बनावें पर, "जाने मा हम तो तुम्हारे हो चुके" । पर हाय ! तुमने हमारी कुछ कदर न की । देखो, हमारी रोजी तुम्हारे पीछे गई ।

हमारी पुरानी इज्जत तुम्हारे लिए धूल में मिली । पर तुमने गैरों की खुशामद न छोड़ी न छोड़ी । मेरे प्यारे ! याद रहे फिर भी हमीं तुम्हारे हैं । उन लोगों के बहुतेरे साथी तुम्हें धोबी का कुत्ता बनाते हैं । क्या फिर भी तुम उन्हीं की गुलामी करोगे ? क्या फिर भी तुम हमसे फटे 2 फिरोगी ? फिर भी तुम हमारे दीन-दुनिया की जड़ काटोगे ? ऐसी उम्मैद तो न थी । देखो जले पर कहते हैं, यह बातें अच्छी नहीं हैं । क्या हुआ हमने कुछ न कहा, पर "सुन तो सही जहाँ में है तेरा फिसाना क्या । कहती है तुझको खल्के खुदा गायबाना क्या" ।

देखो बहुत थू-थू न कराओ । याद रहे कि धरम की जड़ पाताल में है । जैसे हम अपने धरम में कायम हैं कि "इन जफाओं प वफा करते" ऐसे तुमको भी "आशिक प अपने लुत्फ़ो इनायत चाहिए । शिव शिव ! हम भी कैसे नादान हैं कि तुम्हारे सब ढंग जानते हैं फिर भी तुम्हीं पर मरे धरे हैं । तुमको तो क्या कहें जो इतने बड़े हुए पर अपना-पराया न समझे । न जाने वे तुमको कौन-सी गद्दी सौंप देते हैं जो उन्हीं के बने जाते हौ । मुँह से वे भी राजा राजा कहते हैं, हम भी । माना कि जब तुम कुछ न थे तब उन्होंने तुम्हारे साथ सलूक किया था, पर यह तो सोचो कि तुम हो किस्के ? आख़िर हमारे ही न । बड़ा ताज्जुब है कि फिर क्यों तुम में जिंसीयत की तासीर कुछ भी नहीं है । नहीं नहीं, तुम एक छँटे मतलब के यार हो । हम जानते हैं कि "बनिया किसी घात ही से गिरैगा" । पर ऐसी घात दो कौड़ी की क्या "नकटा जिया बुरे हवाल" । खैर अब भी कुछ नहीं हुआ है, दिन भर का भूला रात को घर आवे तो उसे भूला नहीं कहते । बस अब बिगड़े प क्या बिगड़ैगी । लो जाने दो, मिल जाओ । कसम लो हमसे अगर यह भी कहें, "क्यों, हम न कहते थे ?"

सुनते हो, वह कोई समझदार, दीनदार बाचा के धनी नहीं हैं जो मुँह पर तुम्हारी हाँ में हाँ मिला देते हैं । यकीन रक्खो कि वे जिस्को कुछ तरहदार पाते हैं ऐसे ही बन जाते हैं । उन लोगों के यारों का कुछ ठिकाना नहीं है । वे निरे "पंडित सोई जो गाल बजावा" में से हैं । वह तुम्हारे सच्चे "अप्रियस्य

पथ्यस्ववक्ता" हमीं निकलेंगे। इससे यही बिहतर है कि हमारे ही रहो। हमें अधिक न कुढ़ाओ। इसी में परमेश्वर तुम्हारा भला करेगा।

इधर देखो, तुमको हिंदू समझ के कहता हूँ–"सर प क्यों ले है बरहमन का खूँ, ए शाहे हुस्न ए बुते बेपीर। बन न और गजेबे आलमगीर। तू जो दिल को मेरे दुखाता है, हैफ़ है घर खुदा का ढाता है"। बस, "समझने से था हमें सरोकार, अब, मान न मान तू है मुखतार"। खैर खिसियाते हो तो जाते हैं, यहाँ क्या है "फकीराना आए, सदा कर चले। मियाँ खुश रहो हम दुवा कर चले।"

खं० 1, सं० 7 (15 सितम्बर सन् 1883 ई०)

घूरे के लत्ता बिनै कनातन का डौल बाँधे

जरकी मेहरिया कहा नाहीं मानती, चले हैं दुनिया-भर को उपदेश देने; घर में एक गाय नहीं बाँधी बाँध जाती, गोरक्षिणी सभा स्थापित करेंगे; तन पर एक सूत देशी कपड़े का नहीं है, बने हैं देश हितैषी; साढ़े तीन हाथ का अपना शरीर है उसकी उन्नति नहीं कर सकते, देशोन्नति पर मरे जाते हैं–कहाँ तक कहिये, हमारे नौसिखिया भाइयों को 'माली खूलिया' का आजार हो गया। करते धरते कुछ भी नहीं हैं, बक-बक नाधे हैं। जब से शिक्षा कमीशन ने हिंदी को हंट (शिकार) किया तब से एडिटर महात्मा और सभाओं के मेम्बरों के दिमागों में फितूर पड़ गया है। जिसे देखो सरकार पर ही खार खा रहा है। न जाने सरकार का यह क्या बनाये लेते हैं अरे भाई, पहिले अपना घर तो बाँधो। लाला मसजिद पिरशाद सिड़ी वा सितम को समझावो कि तुम्हारे बुजुर्गों की बोली उर्दू नहीं है। लाला लखमीदास माड़वारी से कहो कि तुम हिंदू हो। लाला नीचीमल खन्ना से पूछो, तुम लोग संकल्प पढ़ते समय अपने को वर्मा कहते हो कि शेख ? पंडित यूसुफनारायण काश्मीरी से दरयाफ्त करो कि तुम्हारे दशो संस्कार (मुंडनादिक) वेद की रिचाओं से हुए थे कि हाफिज के दीवान से ?

इसके पीछे सरकार हिंदी के दफ्तर न कर दे तो ब्राह्मण के एडिटर को होली का गुंडा बनाना। क्या सरकार जानती नहीं कि हिंदुस्तान की बोली हिंदी है ! क्या सर्कार से छिपा है कि यहाँ हिंदुओं की अपेक्षा मुसलमान दशमांश से भी कम हैं ? क्या शिक्षा कमीशन वाले अँगरेज, जो दुनिया को चरे बैठे हैं, वे न समझते थे कि हिंदी से प्रजा का बड़ा उपकार होगा ? पर हाँ जहादी हजरत से बुरा कौन बने ? फूट के लतिहल, आलस्य के आदी, खुशामद के पुतले हिंदू नाराज ही हो के क्या कर लेंगे ? बहुत होगा एक बार रो के बैठ रहेंगे। बस उरदू बीबी को कौन मुआ उठा सकता है ? कुछ दिन हुए सरकार ने हर जिले के हाकिमों से पूछा था कि हिंदी के प्रेमी अधिक हैं कि उर्दू के आशिक जिआदा हैं।

इस पर हमारे यहाँ के कई एक धरममूरत धरमावतार कमिश्नरों ने कहा 'म्हा तो जाणें कोयना हिंदी कैसी और उर्दू कोण', जैसी हुजूर की मरजी होय लिख भेजो। सच भी है–सातो विद्या निधान, काला

कुत्ता कलकत्ता एक समझने वालों को शहर का बंदोबस्त मिला है और बिचारे क्या कहते ? भला ले इन्हीं लच्छनों से नागरी का प्रचार होगा ? यदि सचमुच हिंदी का प्रचार चाहते हो तो आपस के जितने कागज-पत्तर, लेखा-जोखा, टीप-तमस्सुक हैं, सबमें नागरी लिखी जाने का उद्योग करो ।

जिन हिंदुओं के यहाँ मौलवी साहब बिसमिल्ला कराते हैं उनके यहाँ पंडितों से अक्षरारम्भ कराया जाने का उपकार करो । तन, मन, धन लगा के हिंदू मात्र के चित्त पर सर्व गुणागरी देवी नागरी का पवित्र प्रेम स्थापन करने के लिए कटिबद्ध हो । चाहे कोई हँसे, चाहे कोई धमकावे, चाहे कोई कैसा ही डर दिखावे, जो हो सो हो, तुम मनसा वाचा कर्मणा उर्दू को लूलू देने में सन्नद्ध हो ।

इधर सरकार से भी झगड़े खुशामद करो, दाँत निकालो, पेट दिखाओ, मेमोरियल भेजो । एक बार दुतकारे जाओ फिर धन्ने परो । किसी भाँति हतोत्साह न हो । हिम्मत न हारो । जो मनसा राम कचियाने लगें तो यह मंत्र सुना दो, 'प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः प्रारभ्य विघ्ननिहता विरमन्ति मध्याः बिघ्नैः सहस्रगुणितैरपि द्वन्यमानाः प्रारभ्य चोत्तमजनान परित्यजन्ति ।'

बस फिर देखना पाँच ही सात बरस में फारसी छार सी उड़ जाएगी, उरदू की तो बुनियाद ही क्या है ! नहीं तो होता तो परमेश्वर के किये है, हम सदा यही कहा करेंगे 'पीसै का चुकरा गावै का छीता वरन', घूरे के लत्ता बिनै कनातन का डौल बाँधै' । हमारा भी कोई सुनेगा ? देखें कौन माई का लाल पहिले सिर उठाता है !

खं० 2, सं० 1 (15 मार्च सन् 1884 ई०)

टेंढ़ जानि शंका सब काहू

वेद शास्त्र पुराण इंजील कुरान चाहें जो कहें, देवता रिषि मुनि पीर पैगंबर चाहे जो बकैं, पर संसार का चलन त्रिकाल में यही है कि 'टेंढ़ जानि शंका सब काहू' । चाहे जैसा न्यायी, चाहे जैसा धर्मात्मा, चाहे जैसा सच्चा, चाहे जैसा धीर वीर गंभीर कोई क्यों न हो, फक्कड़ से सबकी कोर दबती है । जिसने समझ लिया कि हाँ 'जिस तरह सब जहान में कुछ हैं हम भी अपने गुमान में कुछ हैं', उसी को सब साध्य है । वह चाहे जो करै कोई उसकी दुलखने वाला नहीं । वह किसी मनुष्य का बध कर डाले तो नरमेध यज्ञ है, व्यभिचार कर ले तो गंधर्भ विवाह है, विश्वासघात करे तो चतुरता (हिकमत अमल) है । उसे सब सोहता है । किसके कलेजे में बल है जो उसके आगे अलिफ से बे निकाले ।

गुरू जी सब लड़कों के लिये काल होते हैं पर नटखट लड़के से थरथराते हैं । वेश्याएँ सीधे सादे कामियों का सर्वस्व हर लेती और अँगूठा दिखा देती हैं, पर वे हाड़े के आगे हाथ जोड़ें—"मैं तो हाजिर बंदियाँ तेरियाँ रे, क्यों बोलता यार बोलियाँ रे" न कहें तो जायँ कहाँ ? ऐसे 2 अनेक दृष्टांत हैं जिनसे स्वयं सिद्ध है, "टेंढ़ जानि शंका सब काहू" । हिंदुस्तान में मुसलमानों की संख्या थोड़ी, धन थोड़ा,

विद्या थोड़ी, फिर क्यों वे गाय मार डालें, हम अपने ठाकुर न निकाल पावें; हमारे देवताओं और ऋषियों को निर्लज्ज गाली बकैं, हम उनकी किताबों के अनुसार सीधा जबाब भी न दे सकें ? क्या यह बात निरी खुशामद है कि "सर्कार अंग्रेजी के राज्य में बाघ बकरी एक घाट पानी पीते हैं ?" नहीं। पर "टेंढ़ जानि शंका सब काहू" भी तो बड़े महात्माओं का अनुभूत वाक्य है ।

कहाँ तक कहिये, परमेश्वर भी जो बड़े 2 ऋषियों के ध्यान में भी नहीं आता (ब्रह्म सदा सबही ते परे है), वुह सच्चे प्रेमी (दुनिया भर से टेंढ़े अर्थात् अपने प्रेमानंद के आगे संसार परमार्थ दोनों को तुच्छ समझने वाले) से पल भर न्यारा नहीं हो सकता । टेढ़ाई की सब ठौर इज्जत है । वैष्णवों में भगवान् कृष्णचंद्र का नाम ही त्रिभंगी, शैवों में "गौरी बर बाँके को कुटुंब सब बाँको है", शाक्तों में भगवती "कालाभ्राभां कटाक्षैररिकुलभयदां मौलिवन्धेन्दु रेखां" सौरी में सूर्य्य नारायण की चाल (उत्तरायण दक्षिणायण अर्थात् सीधी नहीं), गाणपत्यों में गणेश जी की शुडांदंडे, मुसलमानों में कावे की महिराब, ईसाइयों में क्रास, वीरों में "बड़े लड़ैया महुबे वाले जिनकै बेंडि बहै तरवारि", रसिकों में "अदा है जिसकी बाँकी, तिरछी, चितवन चाल मस्तानी" ।

अब कहो सुहृदगण, "टेढ़ि जानि शंका सब काहू" में क्या संदेह ? हमारे सीधे सच्चे गऊ हिंदुस्तानी इसका मजा क्या जानें । इसके लिये तो 'सूधे का मुँह कुत्ता चाटै' कहा गया है । इसका गुण तो सारग्राही अंग्रेज ही जानते हैं, जिसके बल से "परम स्वतंत्र न सिर पर कोई । भावै मनहिं करौ तुम सोई ।" तथा "चारि पदारथ करतल तासू" इत्यादि वचनों का उदाहरण बन रहे हैं । उनकी प्रत्येक बात में हाँजी-हाँजी न करनां खुशामद शास्त्र के विरुद्ध है । उनके किसी काम में (कैसा ही हो) न्याय अन्याय विचारना निरा व्यर्थ है । वे हमारे राजा हैं, और "राजा करे सो न्याय है, पासा परे सो दाँव" । वे सिंह हैं । सिंह को कौन कानून ? वे गोरे हैं, 'चाहें जिसे मारें जिसे चाहें यः जिलाएँ । इन सीमअ तनों के लिये आईन नहीं है ।' उन्हें तो ईश्वर ही ने स्वतंत्र किया है । उन्हें कोई कुछ कह के क्या कर लेगा । इनसे डरना ही श्रेयस्कार है क्योंकि यह येन केन प्रकारेण अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करना जानते हैं । फिर इनके साथ 'टेंढ़ि जानि शंका सब काहू' का बर्ताव न करना भूल है ।

इलबर्ट बिल का तमाशा देख चुके, शिक्षा कमीशन की लीला देख चुके, इससे यह भी खुल चुका है कि हिंदू मानव हैं (मनु के बंशज), आदमी नहीं (आदम की औलाद) । फिर डाक्टर बेंकस के मुकदमे में क्यों आक्षेप करते हैं । क्या नहीं मालूम— 'समरथ को नहिं दोष गोसाईं ।' डाक्टर साहब उस समाज के हैं जिससे लार्ड रिपन सरीखे प्रभु तरह दे गये । फिर भला "जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं, कहहु तूल केहि लेखे माहीं ।" भई हम तो यही कहेंगे कि उन्होंने जो किया सो अच्छा किया । बिचारे क्या जानते थे कि जो हिंदू सैंकड़ों गोबध होने पर नहीं जगते वह एक दिन हिरन मार डालने पर हमारे शिकारी की बंदूक छीन लेंगे । जूद गाँव (अहमदाबाद, गुर्जर देश में है) के निवासियों ने निश्चय बुरा किया जो साहब के आदमी से छेड़ की । क्या न जानते थे कि "रोकि को सकै राम कर दूता" । जो कहो, उसके पांस बंदूक का लाइस्यंस न था इससे वहाँ के सिपाही ने छीन ली, तो हम कहते हैं, न सही लैस्यंस, आदमी तो वह उन्हीं का था जिनकी कानून है । छीनने वाला हिंदुस्तानी होकर ऐसा क्यों करे ? साहब बहादुर ने उन कलूटों को मारा एवं धन दंड दिया सो बहुत अच्छा । हिंदू तो इसी लिए बनाया गया है । काले रंग वालों को मारना कोई जुर्म है ?

कौआ सभी कोई उड़ा देता है । बाल सभी कोई कटा डालता है । क्वैला सभी कोई आग में झोंक

देता है । इसमें साहब ने क्या बुरा किया । कदाचित् हमारे पाठक कहैं कि अभी तो "टेढ़ जानि शंका सब काहू" की प्रशंसा करते थे, अभी सब देशी भाइयों को काला-कलूटा बनाने लगे । कैसी उलटी समझ है । उन विचारों ने भी तो दया और धर्म की उमंग में आके थोड़ा टेढ़ाई ही की थी । इसका उत्तर यह है कि इनमें यदि सचमुच की दया, धर्म और टेढ़ापन होता तो क्यों घर फूँक तमाशा देखते । इनकी दया कहने मात्र की है, नहीं तो गोरक्षा के लिये क्यों दुम दबाते ? धर्म विडंबना है, नहीं तो मनसा वाचा कर्मणा "प्रेम एव परो धर्मः" का सेवन न करते ? टेढ़ाई का तत्त्व ही नहीं जानते । टेढ़े हैं तो केवल घर में । बाहर वाला तो, एक सड़ा-सा हींग बेचने वाला भी, इनको माननीय है । तभी तो सारा भूगोल इन्हें निरा काठ का पुतला समझता है—"उठाए जिसका जी चाहे, बिठाये जिसका जी चाहे" । हम नहीं कह सकते कि गुर्जर लोग न टेढ़ाई करते तो बेंकस साहब ने भाँग खाई थी जो मारे बेतों के उनकी खाल उड़ा देते और आप ही नवाब बन के उन पर 20 रु० जुरमाना भी कर देते । भागते न अपने शिकारी की तरह लेंड़ी बनके ? मारते के आगे किसी की चलती है ?

सच्चा बाँकपन तो साहब ही का सिद्ध है जिसकी बदौलत हिंदुओं पर भी शेर रहे, म्यजिस्ट्रेट साहब के आगे भी धर्म का रूप, निरदोषता का पुतला ठहरे । क्यों न ठहरें, यह अँगरेज "स्वजातिपक्ष" के तत्वज्ञ हो के क्यों न कहें कि "शोक का विषय है डाक्टर साहब उन पर (गाँव वालों पर) दावा नहीं करते, नहीं तो उन्हें डकैती के अपराध में अवश्य दंड दिया जाता ।"

ठीक है, कोड़े खाना और जुरमाना देना कोई दंड थोड़े ही है । हिंदुओं को तो कोल्हू में पेर डालना चाहिए था । बलिहारी ! मजिस्ट्रेट साहब ! न्यायकारी हो तो ऐसा हो कि "जो कहुँ आपनो खोटो मिलै तो खरो ठहराय के बाँधिए गाँठी" एवं "टेंढ़ जानि शंका सब काहू" को प्रत्यक्ष कर दिखावे । अथवा यह तो स्वयं प्रत्यक्ष है, देखो ना बंबई गवर्नमेंट ने चाहा था कि इस विषय में सच्चा इंसाफ करे, पर क्या होता है, अंत में वही "टेंढ़ जानि शंका सब काहू" आँखों के आगे आया । उक्त गवर्नमेंट ने लिखा था कि सर्कार इस बात से अत्यंत अप्रसन्न है कि डाक्टर साहब आप ही न्यायाधीश बन गए । हम कहते हैं जिसके चार जने सहाय हैं, जिसकी भुजा में बल है, जिसके दिल में बाँकपन है, उसे सब अधिकार हई है—सिंह के शिर पर किसने मुकुट रखा है, वह तो मृगराज है ही । बंबई गवर्नमेंट के निकाले डाक्टर कैसे सर्कारी काम से निकल सकते थे जबकि अँगरेजी अखबार तथा डिफेंस ऐसोसिएशन "पानी से पानी मिलै, मिलै कीच से कीच" का उदाहरण रूप उनके दिन को रात, रात को दिन कर दिखाने को समर्थ, उनके (डाक्टर के) लिए राज भक्ति तथा न्यायाचरण का बलिप्रदान करने को प्रस्तुत थे । "तूणैर्गुणत्वमापत्रैर्वध्यन्तेमत्तदंतिनः" प्रसिद्ध है, फिर यहाँ तो "लंका में छोट सो बावन गज का" यह लेखो ठहरा ।

यहाँ इसके सिवाय क्या हो सकता था कि डाक्टर बेंकस अहमदाबाद से सूरत को बदल दिए जायँ । इस उपाख्यान से हमें निश्चय है कि गोस्वामी तुलसीदासजी के उपर्युक्त बचन पर किसी को संदेह न रहा होगा । फिर भी यदि हमारे भारतीय भ्रातृगण स्वत्व रक्षण और ऐक्य बर्द्धन में कटिबद्ध न हों तो हम निरासता के साथ यही कहेंगे कि कोई क्या करे, करम ही फूटे हैं, भाग ही में लातें खाना बदा है, किमधिकम् ।

भाइयो ! हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि अँगरेजों की भाँति तुम भी राजद्वेशी बनो । नहीं "आज्ञाभंगो नरेन्द्राणां विप्राणां मानखण्डनम् प्रथमशय्या वरस्त्रीणामशस्त्रबध उच्यते" । इन पापों से परमेश्वर दूर रखै । पर हाँ, अपने धन, बल, विद्या, जाति, भूमि, मान, गौरवादि के रक्षणार्थ छल, बल सभी कर्तव्य

हैं। सदा सर्वदा भकुआ बना रहना ठीक नहीं। स्मरण रहै कि "टेंढ़ जानि शंका सब काहू। सुनि समझहु मानहु पतियाहू।"

खं० 2, सं० 2 (15 मई सन् 1882 ई०)

मतवालों की समझ

विचार देखो तो शंकर स्वामी, रामानुज स्वामी, बल्लभ स्वामी, कबीर साहब, नानक साहब, दादू साहब, ऋषभदेव, बुद्ध तथा मसीह इत्यादि कोई साधारण पुरुष नहीं थे, बरंच ऐसे थे कि सब लोग उनका नाम बड़ी प्रतिष्ठा से लें और उनके सदुपदेशों पर चल के अपनी शारीरिक और मानसिक उन्नति करें, क्योंकि यह सभी महात्मा, परम भक्त एवं लोक हितैषी थे। यद्यपि साधारण बुद्धि को इनके उपदेशों में कहीं 2 भ्रांति प्रतीत होती है, पर सारग्राहियों को समझ लेना चाहिए कि वह विषय किसके लिये हैं, किसलिये हैं, कब के लिये हैं। यदि तब भी न संतोष हो तो जान लेना चाहिए कि मनुष्य की बुद्धि सदा सब बातों में यथावत नहीं पहुँच सकती। कदाचित भूल ही हो पर वह भूल मनुष्यत्व का जाति स्वभाव है। आग्रह से वा किसी की हानि हो इस बिचार से कदापि उन्होंने नहीं कहा। यह बात भी हमको तब कहना उचित है जब हमारी बुद्धि सुनते, समझते, विचारते, सर्वरूपेण स्थापित हो जाय। नहीं तो जिन्होंने अपने जीवन का अधिक से अधिक समय प्रेमानंद तथा परोपकार ही में बिताया है उनकी बातें प्रायः निर्दोष ही हैं।

उन सबका सिद्धांत केवल इतना ही रहा है कि लोग हानिकारक कर्मों को छोड़ें, अपनी तथा अपने सहवर्तियों की भलाई में तत्पर हों और हर से, लालच में चाहे प्रीति से, प्रेमस्वरूप जगदीश्वर के आश्रित बनें। यद्यपि इन महानुभावों के बचनों में कहीं 2 एक दूसरे से बिरोध सा देख पड़ता है पर मनस्वी की दृष्टि में वह वास्तविक विरोध कदापि नहीं है, क्योंकि "सौ सयाने एक मत" यह बात बड़े बुद्धिमानों ने बहुत सोच-समझ के कही है। ऐसा कैसे हो सकता है कि जो पुरुष सैकड़ों बातें हमारे हित की कहे वह हमें धोखा देने के लिये कभी उद्यत हो। हाँ, हम स्वयं धोखा खारूँ वा हठवशात किसी के गुण में दोषारोपण कर लें तो उनका क्या दोष ? इनके वाक्यों से प्रकट है कि यह किसी को अंधकार में रखना कभी न चाहते थे। तुच्छ बुद्धि कुछ का कुछ समझ लें वह दूसरी बात है, नहीं तो "बे वजह गुफ्तगू नहीं मर्दे फकीर की। सीधी ही समझते अगर उलटीं कबीर की।"

सच तो यह है कि प्रत्येक ज्ञानी का वचन वास्तव में कुछ भलाई ही सिखाता है। जिन्होंने कहा है "संसार झूठा है" वे निश्चय सच्चे थे। उनके इस कथन का तात्पर्य यह था कि सांसारिक विषय केवल थोड़े दिन के लिये हैं। अंत में वही "मूँद गई आँखै तब लाखैं किहि काम की।" अतएव उनके स्वादु में हमें ऐसा न लिप्त हो रहना चाहिए कि हम एंग्लोइंडियन लोगों की भाँति यह सिद्धांत कर लें कि "आप जियते जग जिए कुरमा मरे न हानि।" ऐसे ही जिन्होंने जगत् को सत्य माना है वे भी सच्चे हैं

क्योंकि वे समझते थे कि जो संसार सर्वदा मिथ्या ही मान लिया जाय तो हम भी मिथ्या हो जायँगे और हमारे अवश्य कर्तव्य धर्म कार्य भी मिथ्या ठहरैंगे।

यदि किसी बुद्धि के शत्रु ने सत्कर्म मिथ्या समझ लिया तो उसने अपना तथा अपने मित्रों का जन्म ही नष्ट कर दिया, जैसा राजर्षि भर्तृहरि जी का सिद्धांत है कि 'येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः। ते मर्त्य लोके भुविभारभूता मनुष्य रूपेण मृगाश्चरंति'। अब हमारे सर्वहितैषी सज्जन विचार लें कि उपरोक्त दोनों बातें यद्यपि परस्पर विरुद्ध-सी ज्ञात होती हैं पर वस्तुतः दोनों का झुकाव यही है कि यावज्जीवन मनुष्य को निरा निजस्वार्थी न होकर प्रसन्नतापूर्वक सदनुष्ठानों में लगे रहना चाहिए। यों ही जिन्होंने कहा है कि सब ब्रह्म ही है उनकी मनसा थी कि ऐसा कोई काम तथा कोई स्थान नहीं है जहाँ हम प्रेम चक्षु से ब्रह्म को न देख सकें; तथा जिन्होंने धर्मानुष्ठान ही के लिये अपना सर्वस्व त्याग दिया तथा जन्म भर 'सत्यंवद धर्मंचर' इत्यादि ही उपदेश करते रहे उनका यह तात्पर्य कदापि न होगा कि लोग निरे अनीश्वरवादी नास्तिक हो जायँ। क्या जाने उन्होंने यह समझा हो कि यदि आत्मा शुद्ध नहीं है, यदि अहिंसादि सत्कर्मों में प्रीति एवं पूर्ण श्रद्धा नहीं है तो केवल मुख से ब्रह्म-ब्रह्म चिल्लाना व्यर्थ है।

ईश्वर के विषय में तो केवल गूँगे के गुड़ की भाँति अनुभव के बिना कुछ कहना सुनना बनता ही नहीं। अनुभव सिद्ध लोग जो कहते हैं सब सत्य ही है। क्या यह बात झगड़ालुओं की समझ में आ सकती है ? वहाँ तो 'एक कि दोय' ? न एक न दोय। 'वही कि यही ?' न वही न यही है। 'शून्य कि स्थूल' ? न शून्य न स्थूल। 'जहीं कि तहीं ?' न जहीं न तहीं। 'मूल कि डाल ?' न मूल न डाल। 'जीव कि ब्रह्म ?' न जीव न ब्रह्म। 'तो है कि नहीं नहीं ?' कुछ है न नहीं है। इसी भाँति उस अतर्क्य की उपासना भी अतर्क्य है। जैसा श्रीवल्लभाचार्य स्वामी की आज्ञा है कि सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः'। सोई सब महानुभावों में देख पड़ता है। शंकर स्वामी ने 'अहंब्रह्मास्मि' कहा। सो प्रेम की पराकाष्ठा से आंकार व नास्तिक्य से नहीं। 'अनलहक' कहने को मंसूर के कोई नहीं समझा। वह खुद को भूल जाते हैं जो उसकी याद करते हैं। पर यह बात कहने व शास्त्रार्थ करते फिरने की नहीं है, केवल आत्मा में उस आश्चर्यमय का अनुभव करो। आनंद के जोश (उमंग) में जो निकलेगा सच ही है। इसके बिना वही 'कलौ बेदान्तिनो संति फाल्गुने बालका इव' की गति होनी है।

हमारे सर्वथा मान्य श्री भारतेंदुजी ने कहा है 'जो है तुम से जुदा व' मेरे लेखे रब या राम नहीं। यार तुम्हारे सिवा दुनिया से मुझे कुछ काम नहीं।' अथवा 'प्यारे प्राण नाथ पिय प्रियतम सुनतहि हियो जुड़ात। ईश्वर ब्रह्मनाम हौ वासे कानन फारे खात'। क्या कोई सहृदय इन वचनों को नास्तिकता कह सकता है ? यह भी प्रेम की सर्वोच्च पदवी में वक्तव्य है। सारांश यह है कि देशकाल तथा मनोवृत्ति के अनुसार महात्मा लोग अमृतवाणी कह देते हैं। वह उनकी और परमेश्वर की रहस्य बातें हैं। उनका अर्थ ठीक-ठीक वही समझ सकता है जो उन महात्माओं का सा मन रखता है। दूसरों को अधिकार नहीं है कि उन प्रेम वाक्यों का अर्थ बिगाड़ें। यह बात कुछ दिन आत्मानुभव का अभ्यास करने से समझ में आ सकती है। नानक जी पंजाबी खत्री ने (उनके यहाँ जिसे बहुत प्यार करते हैं उसे राजा अथवा गुरु कहते हैं, सो उन्होंने) प्रेमानंद में मत्त हो के परमेश्वर की अलौकिक छवि पर रीझ के 'बाह गुरू' कहा होगा, जिसको उनके बनावटी चेलों ने तथा दूसरे मतवालों ने कुछ कुछ ठहरा लिया है। इसी प्रकार अन्यान्य भक्तों की बातों का प्रयोजन खोजने से जान पड़ता है।

कहाँ तक कहें, बड़ों की बात में बड़े 2 अर्थ तथा बड़ी 2 शिक्षा होती है पर उनका समझना सबका काम नहीं है। तैसे ही इनके चरित्र भी अधिकतर सो उत्तम ही होते हैं। हाँ, यदि किसी विशेष कारण से मनुष्य की निर्बल प्रकृत्यानुसार कोई काम ऐसे हो गये जो साधारण दृष्टि में बुरे हैं तो भी उचित नहीं कि हम उन्हें नीच व कुकर्मी कहें। निर्दोष अकेला परमात्मा है। पर सर्वसाधारण लोगों के दुष्कर्मों की अपेक्षा उन लोगों में कदाचित् शतांश बुराई भी न निकलेगी। चोरी, जारी, विश्वासघात, जीव-बधादिक वास्तविक घोर पाप तो किसी के चरित्र में पाए ही नहीं जाते। फिर क्यों उन्हें तुच्छ समझा जाय। चंद्रमा में कलंक सही पर उसकी अमृतमयी किरणों तथा अपूर्व शोभा में उस कलंक से क्या हानि ? यों भी न मानो तो उनके बजन बुराई सिखाते ही नहीं हैं।

रहे शारीरिक कर्म, सो अब उसमें तुम्हारी क्या क्षति ? अब उनसे तुम्हें किसी प्रकार का संबंध नहीं रहा। फिर क्यों किसी की निंदा की जाय ? कबीर जुलाहे थे तो हों, किसी कनवजिया से नातेदारी करने तो नहीं आवेंगे। हमारे इतने लंबे-चौड़े कथन का सारांश यह है कि दुराग्रह छोड़ के हर एक धार्मिक एवं विद्वान के सिद्धांत देखने से शारीरिक, सामाजिक और आत्मिक सहस्रावधि उपकार हो सकते हैं, जिनके लिये चाहिए कि हम उन उपदेष्टाओं को कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद दें। उन्होंने अपने जीवन का अधिकतर भाग ऐसे कामों में बिताया है जो हमारे अनेक हित साधन में उपयोगी हैं। परंतु हाय, पक्षपाती, कलहप्रिय, संकीर्ण बुद्धि मतवालो ! तुमने हार जीत की धुन में ऐसा अनर्थ उठाया कि अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया अथच उन पूजनीय पुरुषों का महत्व मिट्टी में मिलाने पर उद्यत हो गये। हाय हाय, क्या हमारे यतिराज श्री मद्रामानुजाचार्य, शिवस्वरूप सत्याचार्य शंकर स्वामी प्रभृति ऐसे थे कि उन्हें सड़े सड़े सांसारिक क्षुद्र कीट, माया के गुलाम (साधारण मनुष्य) मायावादी, पाखंडी, नास्तिक इत्यादि दुष्ट वाक्य कहें। शिव शिव !! ऐसे कुवाच्य किसी को कहना महा अनुचित है, न कि ईश्वरानुरागियों को। पर किया क्या जाय, उन्हीं के संप्रदायी उन्हें गालियाँ खिलाते हैं। यह लोग बुद्धिमान हों तो काहे को दूसरों को कहैं। क्यों अपनों को कहलावैं। क्या यह भी कोई धर्म है कि किसी समाज के मान्य पुरुष को व्यर्थ दोषी ठहराना और अपने गुरुओं की अप्रतिष्ठा कराना। वही अपने दोष देखते तो सब मतावलंबी तुम्हारे मित्र हो जाते और तुम्हारा तथा तुम्हारी मातृभूमि का अमित उपकार होता। भाइयो, बहुत दिन लड़ चुके, यदि भला चाहते हो तो अब भी हमारी सुनो।

खं० 2, सं० 3, 4, (15 मई, जून सन् 1884 ई०)

सबै सहायक सबल के, कोउ न निबल सहाय।
पवन जगावत अगिन को, दीपहि देत बुझाय॥

जहाँ देखो, जब देखो, जिसे देखो यही दृष्टिगत होता है कि जो निर्बल है वही लातों का पात्र है। कैसे

ही महात्मा हों उसी पर हाथों की खुजलाहट मिटावैंगे । धर्मनीति, इंसाफ मनुष्य जाति में कथन मात्र को है । केवल खुशामदी लोग जिसको बढ़ा के अपना कुछ काम निकाला चाहते हैं उसे धरममूरत, धर्मावतार इत्यादि बनाया करते हैं, नहीं तो यह गुण ईश्वर के हैं, मनुष्य बिचारे में क्यों कर हो सकते हैं । लोग वृथा मुसलमान बादशाहों को बदनाम करते हैं कि जालिम थे, परस्त्रीगामी थे, स्वार्थी थे इत्यादि । हम कहते हैं कि जिसने जिसको किसी बात में दबा पाया वह सदा उसके साथ मनमानी घरजानी करता है और जब तक उसका प्राबल्य रहता है सभी उसकी चुटकी बजाया करते हैं । जैनी बढ़े थे तब हिंदुओं के साथ कैसा बर्ताव करते थे ? उनके समय में वैदिक लोग ढूँढ़े न मिलते थे । पर किसी ने न पूछा कि अहिंसा परमोधर्मः कंठे रहे छे ? ऐसे ही आर्यों ने बढ़ती के समय जैन धर्मियों को मार मार निकालना शुरू किया । 'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयम्' इत्यादि घरियाए धरे रहे ।

मुसलमानों के इतिहास में महमूद अलाउद्दीन और आलमगीर ऐसे अधर्मों को जाने दीजिए, अकबर ने राना प्रताप सिंह उदयपुराधीश के साथ क्या किया था ? मालवा के हाकिम बहादुर से कौन भलाई की थी ? लोग कहेंगे शत्रु का दमन करना नीति है । इसमें बुराई क्या हुई ? हमारा कथन है कि शत्रु वह कहाता है जो अपने धन, बल, मान तथा प्राण हानि का उद्योग करे । उससे अपने बचाव के लिये कल, बल, छल सभी कर्तव्य हैं । पर जो बिचारा अपने घर बैठा है, किसी के लेने-देने में नहीं, उससे छेड़ करना जबरदस्ती नहीं तो क्या है ? पर कौन कहे ? प्रबल जाति सदा से ऐसा ही करती आई है । बिचारने का स्थान है—ऐसे ही दयावान हों तो दूसरे की वस्तु पर चित्त ही क्यों चलावैं । फिर भला ऐसे से अपने हित की आशा करना व्यर्थ के अतिरिक्त क्या है ? कभी कहीं किसी जेता जाति ने जित के साथ भलाई की है ? और कैसे भलाई कर सकता है ? शास्त्र में लिखा है 'दैवोदुर्बलघातकः' । तो जिस पर दैव ही रुष्ट है उसका सहायक कौन ? वह बात और है कि अपने स्वार्थ के लिये छोटे बड़े सबके आगे बात निकालना होता है नहीं तो सौ बार भी हम मर के नहीं देख चुके हैं—'अपना नहीं होता कोई बेगाना किसी का' ?

इस रामकहानी से हमें यह बात अभिप्रेत है कि हम आज पराधीन सर्वसाधनहीन हैं । चाहो कर्म का फल कहो, चाहो ईश्वर की इच्छा समझो, चाहो जमाने की गरदिश मानो, हम दूसरों की आँख देखते हैं और दूसरे लोग जैसे होते हैं इतिहासवेत्ताओं से छिपा नहीं है । इससे हमें अँगरेजों के अत्याचार से रोना न चाहिए और यह आशा भी न रखना चाहिए कि यह हमारी भलाई करने आए हैं । एलबर्ट बिल, शिक्षा कमीशन, बेंकस साहब का मुकदमा, सब इसी बात के उदाहरण हैं कि 'सबै सहायक सबल के' इत्यादि । कोई क्यों न हो हमारी सहायता के लिये अपनी हानि तथा अपने सजातियों की रूप हानि न करेगा । जब तक हम ऐसे ही बने रहेंगे जैसे आज हैं तब तक हमारा रोना वा चिल्लाना किसी के दिल पर असर न करेगा ।

गत मास में आसाम देश के एक गौरंडाधम बेव साहब ने एक कुली की युवती स्त्री को बलपूर्वक रात भर अपने शयनालय में रक्खा । उसके पति ने अपनी धर्मपत्नी का सतीत्वरक्षण करना चाहा । उसे भी पीट उठाया । स्त्री बिचारी लज्जा और दुःख के मारे मर भी गई पर किसी ऐसे तैसे ने यथोचित न्याय न किया । कौन करे ? 'कोउ न निबल सहाय' । 10 मई को अजमेर में स्टेशन पर भीड़ चढ़ी थी । एक गाड़ी में परसोत्तमदास नामक एक आर्य भाई (जो एकजामिनर्स आफिस के क्लर्क थे) बैठे थे । यों ही भीड़ के मारे आठ आदमियों के ठौर पर नौ जन थे तिस पर भी वहाँ के एसिस्टेंट स्टेशन

मास्टर ए०एच० ब्राबर साहब ने दो और घुसेड़ने चाहे । तब बिचारे परसोतमदास जी ने कहा, साहब हमें तकलीफ होगी, अब भी तो नियमविरुद्ध एक मनुष्य अधिक है । इतना सुनते ही चांडाल ने उनको गालियाँ भी दीं, पवित्र शिखा (चोटी) भी नोंची; लातें भी मारीं और पुलिस के सिपुर्द भी करा दिया। हम तो जानते हैं, वहाँ भी हमारा हितू कौन बैठा है जो धर्माधर्म विचारेगा । प्यारे पाठक, इसी पर इतिश्री नहीं, और भी जो न हो सो थोड़ा है क्योंकि हम तो निर्बल हैं न ? हम तो प्रजा हैं न ? जब तक हम अपनी निर्बलता का निराकरण न करेंगे हम निरे पशु समझे जायँगे । हम एक महादुर्बल पशु समझे जायँगे ।

यदि हम अपना पशुत्व दूर किया चाहें तो केवल सभाओं में लेकचर देना या अखबारों में लंबे 2 लेख देना, सरकार से दुःख रोना मात्र लाभजनक न होगा । इसके लिए तो आँखें मींचकर, आगा पीछा कुछ न सोचकर, जैसे हो तैसे, भातृस्नेहबर्धन में जुट जाना चाहिए । नहीं तो कोरी बातों से कभी कुछ न होगा । हमारी नैर्बल्य का महत्तम कारण केवल देशभक्ति का अभाव है । नहीं तो हम लाख गए बीते हैं तो भी कई बातों में विदेशियों से श्रेष्ठ हैं । हाय, हम अपने भाइयों के सुख दुःख में सहानुभूति करना नहीं जानते । हाय, हम देशहितैषी केवल मुख और लेखनी मात्र के हैं । नहीं तो जिस दुष्ट ने हमारे देशभाई की स्त्री का पातिव्रत भष्ट किया उससे बढ़ के हमारा शत्रु कौन होगा ? क्या ऐसे पुरुषों के दमन करने में तन, मन, धन न लगा देना चाहिए ? पर बिना सच्चे देशभक्त के यह काम हर एक का नहीं है । ऐसे ही जब अजमेर स्टेशन के ब्रार ने परसोतम भाई की दुर्दशा की थी उसी समय 'भारतमित्र' के एक करेस्पाडिंट साहब उपस्थित थे । वह लिखते हैं—'स्टेशन के बाहर हमारे भाई को इस प्रकार मारते तो मैं और मेरा भाई उसको बाबा ही बनाकर छोड़ते । परंतु क्यों कर, दुष्ट रेलवे एक्ट हृदय में भरा था इससे रक्त का घूट भीतर ही भीतर पिया किये' । हमारी समझ में जो साहब की सहबई उस अवसर पर निकाल डाली जाती तो पीछे को आँख कान हो जाते । रेलवे एक्ट में कहीं नहीं लिखा कि लातें खाओ । होना क्या था ? एक की दवा दो होते हैं । साहब की चटनी हो जाती तो सौ विश्वा पुलिस का नाम न लेते । अरे भैया हिंदुस्तान में अब सब बातें मौजूद हैं, पर हाय, प्रेम बिना ऋषिवंश की मट्टी ख्वार है । हाय, उसी बिना सब बल होते हुए भी हम निर्बल हैं । हाय, गवर्नमेंट को हम क्यों कुछ कहें । हम निर्बल हैं और 'सबै सहायक सबल के कोउ न निबल सहाय ।'

खं० 2, सं० 4 (15 जून सन् 1984 ई०)

समझदार की मौत है

सच है "सब ते भले हैं मूढ़ जिन्हैं न ब्यापै जगत गति" । मजे से पराई जमा गपक बैठना, रंडिका देवी की चरण सेवा में तन मन धन से लिप्त रहना, खुशामदियों से गप मारा करना, जो कोई तिथि, त्यौहार

आ पड़ा तो गंगा में चूतड़ धो आना, वहाँ भी राह भर पराई बहू-बेटियाँ ताकना, पर गंगापुत्र को चार पैसे देकर सेंत-मेंत में धरममूरत धरमी औतार का खिताब पाना। संसार परमार्थ दोनों तो बन गए अब काहे की है है; काहे की खें-खें है।

मुँह पर तो कोई कहने ही नहीं आता कि राजा साहब लड़कपन में कैसे थे। पीठ पीछे तो लोग नबाब को भी गालियाँ देते हैं इससे क्या होता है। आपरूप तो "दुहू हाथ मुद मोदक मोरें"। इन``को कभी दुख काहे को होता होगा। कोई घर में मरा-मराया तो रो डाला, बस आहार निद्रा भय मैथुन के सिवा पाँचवीं बात ही क्या है, जिसको झखें ? आफत तो बिचारे जिंदादिलों की है जिन्हें न यों कल न वों कल। जब स्वदेशी भाषा का पूर्ण प्रचार था तब के विद्वान कहते थे "गोर्वाणवाणीषुविशालबुद्धिस्तथान्य-भाषारसलोलुपोहम्"।

अब आज अन्य भाषा, वरंच अन्य भाषाओं का करकट (उरदू) छाती का पीपल हो रही है। तब यह चिंता खाय लेती है कि कैसे इस चुड़ैल से पीछा छूटै। एक बार उद्योग किया गया सो तो हंटर साहब के पेट में समा गया। फिर भी चिंता पिशाची गला दबाए है। प्रयाग हिंदू समाज फिकर के मारे "कशीदम नालओ बेहोश गश्तम" का अनुभव कर रही है। इरादे तो बड़े 2 किये पर न जाने वह दिन कब आवै। एक से एक विद्वान् एकत्र होंगे तो कुछ न कुछ भलाई ही करेंगे पर हमें यह तलवों से लगी है कि देखें कब करेंगे, देखें क्या करेंगे।

इधर हमारे कई एक नरवल निवासी सहृदय मनोदय इसी विषय की मेमोरियल भेजने में संलग्न हैं। चाहिए था कि स्वभाषा रसिकों को एक सत्कृत्य में तत्पर देख के खुशी होती। पर हमको यह शोच है कि नरवल कानपूर के जिले में है और यहाँ की आरंभ शूरता तथा कचढिलापन प्रसिद्ध है। कहीं गोरक्षिणी सभा वाली न हो कि "करके छोड़ दिया और भी बुरा किया"। यही हाल सिविलसर्विस का है कि श्री सुरेंद्रो बाबू एवं समनस्कगण इस चिंता में हैं कि हाय, हमारा सर्वस्व हरण कर लिया तिस पर भी सर्कार हमें उच्च रीति की नौकरी पाने योग्य भी नहीं रक्खा चाहती ! हमें यह बात मारे डालती है कि सर्कार एक छँटी मतलब की यार है। वह स्वदेशियों के आगे हमारी उन्नति काहे को देख सकेगी। खैर माना, रोए गाए, लड़े भिड़े, सर्कार ने 19 बरस के बदले 21 बरस का नियम कर भी दिया तो हमारे पश्चिमोत्तर देशी हिंदू विलायत में परीक्षा देने कै जने जायँगे।

इससे तो यही न बिहतर होगा कि विद्या तथा व्यापार की वृद्धि की जाय तो हम हजार सिविल सर्वेंटों से भले रहेंगे। साथ ही जी में यह आता है कि तुम्हारी सुनता कौन है। और सुनो, रूसी धीरे 2 इधर बढ़ते आते हैं। 26 जून के 'बिहार बंधु' से ज्ञात हुआ कि "दरिया हरीदर को दखल कर लिया"। पढ़े लिखे लोग इस खुटका में चुरे जाते हैं कि सर्कार क्यों गाफिल है। हमारी समझ में दोनों तरह मरे। हमारी सर्कार लड़ेगी तो भी सबके आगे तिलंगा भाई खड़े किये जायँगे। रहे लाला भैया, उन्हें यों भी सर्कार निर्धन करके मारे डालती है। रूसी भी मारेहींगे। कुछ नजाकत पसंदी, कुछ प्रेस एक्ट का डर, हथियार पकड़ने का शहूर किसको है जो अपनी रक्षा करेगा वा स्वामिभक्ति दिखावैगा। हमें क्या है, गुलामी करना है, किसी की हो। न यह पूछैं न वह पूछैंगे। पर क्या कीजिये जो लोग कहते हैं "पढ़े ते मनई बैलाय जाथैं" सो ठीक भी जान पड़ता है कि "नहीं कुछ वास्ता लेकिन हरारत आही जाती है"। यह तो बड़े 2 उदाहरण हैं जिनके उद्योग में दाँतों पसीना आवेगा।

अब रोजमर्रा की बातें देखिए। कहीं किसी पर किसी दुराचारी बिदेशी ने अत्याचार किया, यहाँ

क्रोधाग्नि भड़की । किसी को कोई दुख पड़ा यहाँ आँसू भर आए । यह भी न हुआ तो कोई पुस्तक ही लिए पढ़ते जाते हैं, रोते जाते हैं । किसी में कोई दुर्व्यसन देखा, आप सोच करने लगे । कहाँ तक कहिए, जहाँ समझने की शक्ति हुई कि बस बात 2 में चिंता । चित्त और चिंता का कुछ ऐसा संबंध है कि जुदे होते ही नहीं । और चिंता की तारीफ शास्त्रकारों ने की ही है कि "चिताचिंतासमाख्याता तस्माच्चिंतागरीयसी" । एक बिंदु अधिक है न । "चिता दहति निर्जीवं चिंता जीवषु तंतनु" क्या ही सत्य है । शरीर की चिंता रही, घर की रही, सब पर तुर्रा देश की चिंता । खूशठ दास यह भी नहीं पूछते कि "क्यों मरे जाते हो" । पर देशभक्त इस लिए जीव होमे देते हैं कि इनका निस्तार हो । इसी से कहते हैं कि समझदार की मौत है ।

खं० 2, सं० 5 (15 जुलाई सन् 1884 ई०)

हुची चोट निहाई के माथे

लोगों ने सच कहा है, बहुत सीधापन अच्छा नहीं होता । हमारे हिंदू भाई यों तो आपस में बड़े काइयाँ, पर दूसरों से अपना स्वत्व रक्षण करने में निरे गाबदी हैं । इसी से कोई हो, कैसा ही हो, इन्हीं के माथे देता है । हमारी सरकार बड़ी प्रजा वत्सल है, पर एतद्देशी अपनापन बचाने के योग्य नहीं है । इसी से कुछ होने पर भी कुछ नहीं समझे जाते । कुछ हो, हुची चोट निहाई के माथे ।

रावलपिंडी में दरबार हुआ । अमीर साहब का सत्कार हुआ । वहाँ भी हमारे ही महाराजों का यथोचित सन्मान नहीं । अमीर साहब से यह लोग धन, बल, साहस, प्रतिष्ठा, प्रेम, शायद किसी बात में कम नहीं, पर निरे सीधे-सादे होने के कारण इनकी पूछ नहीं । जहाँ अमीर अबदुल रहिमान साहब सौ 2 नखरे से आए, देव समान पूजा हुई, हजारों की सामग्री उनकी भेंट पूजा में लगी, वहाँ हिंदुस्तानी राजों की क्या खातिरें हुईं ?

ओह, घर के हैं । इनके मानापमान से क्या हानि लाभ संभव है ? काम पड़ैगा तो रुपया और फौजें इनकी स्वाहा होंगी, क्योंकि हुची चोट निहाई के माथे । और सुनिए, मिस्र में मेहँदी से उलझने को भी हिंदुस्तानी ही झोंके गए हैं । यदि रूसराज कुछ सनके तो भी हुची चोट निहाई के माथे । हमीं तो़प के मुहरे पर होंगे । हमारे ही देश की लक्ष्मी का हवन होगा । जवाब इस्का यह होगा कि तुम्हारी रक्षा के लिए सब होता है ।

हम कहते हैं हमारी रक्षा किसलिए की जाती है ? इसीलिए न कि हम कमाते जाएँ और आप ले-ले के अपना घर भरते जाइए ? जब तक हमारी रक्षा हम स्वयं न करेंगे तब तक कुछ नहीं होना । होना केवल यही कि हूची चोट निहाई के माथे । पाठक, कुछ अपनी रक्षा का फिक्र है ? हमारे लाला भैया नित्य पूछा करते हैं 'गुरू रूस की क्या खबर है ?' मानौ रूसी आके इन्हीं को राजा

बनावेंगे । आपस में एका नहीं, देश की भक्ति नहीं, फिर क्या है, जो पड़े सो सहना ।

आदमी भरती होने का हुकुम है । इस्से दिहात में नादिरशाही है । लड़ाई का सामान चारों ओर हो रहा है । बस यही खबर है । सबके हातों लुटने को, पिटने को, कटने को हिंदुस्तानी हैं क्योंकि यह जानते भी नहीं कि आत्मरक्षा क्या है । तन, मन, धन, लोक, परलोक, धर्म, कर्म सब अपनी मातृभूमि पर निछावर कर देना यहाँ वालों ने सीखा ही नहीं । इसी से सबकी हुची चोट निहाई (अर्थात् इनका सिर) के माथे पड़ती रही है, पड़ रही है, पड़ती रहेगी ।

खं० 3, सं० 2 (15 अप्रैल ह० सं० 1)

तत्व के तत्व में अँगरेजीबाजों की भूल है

तत्व शब्द का एक अर्थ यह भी है कि 'जिसमें किसी दूसरे का मेल न हो' । पर इसका ठीक 2 भेद समझना रेखागणित के बिंदु से भी सूक्ष्म है । यहाँ तक कि परमतत्व परमेश्वर का नाम है 'जोगिन परमतत्वमय भासा' । तत्व का वर्णन मोटी बुद्धि वालों की समझ में आना बहुत ही कठिन है, क्योंकि बहुत काम केवल अनुभव से संबंध रखते हैं । हम कह सकते हैं कि यद्यपि सज्जनों ने दानी, कवि, भारतभक्त इत्यादि और दुष्टों ने सर्कार का द्वेषी एवं इंद्रियाराम इत्यादि शब्द उनके लिए प्रयुक्त किए, पर हमारे प्यारे भारतेंदु का ठीक तत्व किसी ने न जाना ।

उनकी साधारण बातों के भीतर वह बातें भरी हैं जो कहने-सुनने में नहीं आ सकतीं । उदाहरण के लिये इसी दोहे को देखिए—भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुयस अथोर । जयति अलौकिक घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर ।। इसका अर्थ कदाचित् एक बालक भी कह सकता है । पर उदार बुद्धि के लोग समझ सकते हैं (यद्यपि वर्णन न कर सकें) कि इस दोहे में स्वादु कितना है कि यदि हम इसे परमानंदमय परमात्मा को फोटोग्राफ कहें तो अनुचित न होगा । तिस में भी—घन कोऊ—यह शब्द तो ऐसा है कि बस बोलने का काम नहीं । जितना डूबते जाइए थाह नहीं !

अब हमारे पाठक बिचारें तो, जब कि एक व्यक्ति के एक बचन के भी केवल एक शब्द का तत्व ऐसे वैसों की समझ में आना दुरगम है तो ईश्वर की रचना का एक मुख्य कारण तत्व और तत्व का तत्व समझना बिचारे गौरंड शिष्यों का काम है ? नहीं, यह उन्हीं जगन्मन्य हमारे रिषियों का काम था जो जगत् को तृणवत् गिनके मनसा वाचा कर्मणा से ब्रह्ममय हो रहे थे । यह अँगरेजीबाजी की भूल नहीं बरंच पागलपन है जो कह देते हैं कि 'हिंदुओं ने केवल 5 ही माने हैं । उसमें भी जल तत्व नहीं है । उसमें तो दो चीजें मिली हैं । हाँ, अँगरेज बड़े बुद्धिमान हैं । उन्होंने 64 तत्व निकाले हैं ।'

हम यह कदापि नहीं कहते कि अँगरेज बुद्धिमान नहीं हैं । यदि बुद्धिमान न होते तो इतनी दूर हम पर राज्य करने कैसे आते ? पर हाँ, जो खास आत्मा से समझने के विषय हैं उनको कोई बिचारा हमारे

पूज्यपाद रिषियों के मुकाबिले पर कितना समझेगा ? कैसी हँसी का विषय है कि तत्व शब्द तो बड़े 2 अँगरेजों के मुख से निकलता ही नहीं । लिख के किसी प्रोफेसर से पढ़ा दीजिए । कोई टट्टू कहेगा, कोई टटवा कहेगा, कोई बहुत विचित्र मुँह बनाके तत्व कह देगा । भला तत्व का तत्व समझना इनका काम है ? अब समझने की बात है कि जिस बात को गुरू स्वयं नहीं समझते उसे चेले बिचारे क्या समझेंगे ?

हमारे यहाँ पाँच तत्व माने गए हैं । पृथिवी—इससे यह न समझना चाहिए, जिस पर हम लोग रहते हैं, क्योंकि इसमें तो पाँचों का संमेलन है । पर पृथ्वी तत्व उस सूक्ष्म शक्ति का नाम है जिसमें गंध गुण रहता है । गंध भी सुगंध दुर्गंध को नहीं कहते । वह वह शक्ति है जिसमें न्यून से न्यून वा अधिक से अधिक नासिका के द्वारा अनुभव किया जाने वाला गुण स्थित रहता है । दूसरा तत्व, आप जिसे स्थूल भाषा में जल तत्व करते हैं, वह घट्ट 2 पिया जाने वाला पानी नहीं, बरंच रस अर्थात् द्रव गुण, जिसे महा मोटी भाषा में लचक व नजाकत का आधार समझना चाहिए । तेज अर्थात् अग्नि तत्व—यह भी रूप अर्थात् नेत्र से जाना जाने वाले गुण की बोधक शक्ति, वायु—अर्थात् स्पर्श (छूने) के विषय का उद्बोधक गुण, आकाश—अर्थात् यावत् दृश्य और अदृश्य वस्तु के हिलने चलने आदि की अवकाश दायक शक्ति, जिसे शब्द गुण कहते हैं ।

जितने पदार्थ हम देखते वा ज्ञानेंद्रियों द्वारा अनुभव करते हैं, सबमें प्रकाश व प्रछन्न रूप से.यह पाँचों गुण (कोई न्यून कोई अधिक) विद्यमान रहते हैं । ऐसी कोई दृश्य वस्तु नहीं है जिसमें पृथ्वी, तेज, वायु और आकाश तत्व अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध नामक गुण विशिष्ट शक्ति न हो । एक लोहे का ठोस डण्डा लीजिये । उसमें छुआ जा सकने का गुण और लंबाई मोटाई देखी जा सकने का गुण, यह दोनों ।

वायु और अग्नि तत्व का तो प्रत्यक्ष ही है । पृथिवी का धर्म आपको बहुत ही सूक्ष्म अनुभव से मालूम हो जायगा, क्योंकि वह उसमें महा प्रछन्न रूप से । यदि उसे किसी महा सुगंधित व दुरगंधित वस्तु में कुछ दिना पड़ा रख के निकाल लीजिये और बिलकुल धो के पोंछ डालिए तौ भी आपको कुछ अनुभव होगा । अब आप समझ सकते हैं कि उस दंडे में यदि सुगंध दुरगन्ध के धारण की शक्ति अर्थात् पृथ्वी तत्व का धर्म न होता तो वह उनको न ग्रहण कर सकता ।

यदि हमारे इस कहने पर हँसी आवै तो पृथ्वी शब्द का एक अर्थ फैलाव है । सो लंबाई चौड़ाई, मुटाई को भी हम पृथ्वी तत्व का बोधक कह सकते हैं । अब जल तत्व न होता तो उस्को गल के पानी सा हो जाने व झुकने आदि की सामर्थ्य कहाँ से आती ? और आकाश तत्व की परीक्षा उस पर एक ढेला मार के कर लीजिये । ठन से बोलेगा । नहीं तो ऊपर नीचे और चारों ओर तो आकाश हई है । भीतर का हाल तब खुल जायगा जब उसमें एक का भी अणु उससे पृथक् करोगे । क्यों, पाँचों तत्व हैं न ?

खं० 3, सं० 3 (15 मई-जून सन् 1885 ई०)

पड़े पत्थर समझ पर आपकी समझे तो क्या समझे !

अक्टूबर में जो हमने 'फतेहगढ़ पंच' को शिक्षा दी थी, हमने समझा था कि कुछ आँखें खुल जायँगी। नागरी देवी और उरदू बीबी का भेद कुछ तो समझी जायँगे। पर तबसे दो मास तक आप मुँह छिपाने पीछे आज पहली जनवरी को 'उपदेशोहि मूर्खाणां प्रकोपाय न शांतये' का उदाहरण बन के आये हैं तो कहते क्या हैं कि कोई उरदू को क्या समझेगा जैसा हम समझते हैं। क्यों नहीं साहब, तभी तो 'रसोई पज' का शब्द गढ़ा है। हजरत, रसोई हिंदी का शब्द है। उसके साथ पकाने वाला कहते तो युक्त था—नहीं तो 'तुआमपज' कहना योग्य है। 'रसोईपज' यह दोगली भाषा है। इससे तो आपको उरदू में खलल मालूम होता है।

खैर, हमने आपकी खातिर से मान लिया कि आप उरदू जानते हैं। फिर इससे क्या, उरदू स्वयं कोई भाषा नहीं, अन्य भाषाओं का (विशेषतः हमारी हिंदी का) करकट है। बिचारे उसके जानने वाले हम नागरी रसिकों का सामना क्या खा के करेंगे ? हाँ, जीभ हिलाना यह और बात है। यद्यपि बिजाती मसखरों के मुख लगना अखिलार्यनरेन्द्रपूजित पादपीठ महात्मा 'ब्राह्मण को शोभा नहीं देता, पर ब्यर्थवादियों का दर्पदलन न करें तो भी अच्छा नहीं। अतः जब तक योग्य समझेंगे लेखणी चलाये जायँगे।

पंच जी ! हिंदी का गौरव समझना और उसके भक्तों से शास्त्रार्थ करना आप ही की सी बुद्धिवालों का काम नहीं है। पहले उरदू ही भली भाँति सीखिये, फिर किसी नागरी नागर की सेवा कीजिये। तब देखा जायगा। अभी तो जान पड़ता है कि आप इस देश ही में नए आये हैं। अथवा दिल्ली में रहे पर भाड़ झोंकते रहे हैं। नहीं तो जिस 'ब्राह्मण' को यहाँ मूर्ख से मूर्ख और विद्वान से विद्वांन जगतगुरु, देवता और महाराज इत्यादि कहता और पूजता है उसे आपने केवल रसोईपज समझा है। फिर उसके गुण और उसकी बचनलालित्य क्या धूल समझेंगे ? और बिना समझे किसी बात में कान पूँछ हिलाना निरा झख मारना है।

ऐसी समझ पर तअरुज फरमाइयेगा तो अपने मन ही मन में चाहे जो फूल उठिये, पर बुद्धिमान लोग जान जायँगे कि कौन कितना है। बस मुर्तजा का शब्द नागरी में लिखा जा सकता है, परंतु गणित, ब्राह्मण और मंत्रादि शब्द लिखने में उरदू वाले ऐसे अक्षम हैं जैसे संतानोत्पत्ति में···और आत्मविद्या में यवन। इस विषय को हम यथोचित रीत से सिद्ध कर चुके हैं पर 'पत्रन्नैव यदा करीर विटपे दोषो वसन्तस्य किं ?' मियाँ न समझें तो हम कहाँ तक अंधे के आगे रोवैं अपना दीदे खोवैं। बेहयायी हो तो इतनी हो कि उत्तरदाता की बात न समझने पर भी अपनी ही जीत मान ले। ऊपर से दूसरी बुद्धिमत्ता यह दिखाई है कि 'नागरी में सनअत तजनी नहीं होती', अर्थात् नतीजा में नैचा, चूना में जूता, आलू बुखारा में उल्लू बिचारा इत्यादि का धोखा नहीं होता !

हजरत ! यह उरदू का दोष है। आप ही उसे सनअत समझिये। किष्किंधा की बंदरियों ने श्री सीताजी के सौन्दर्य में इतना दोष निकाला था कि उनके दुम नहीं है ! यही लेखा एडिटर करता है ! हम लोग इसी लिये सरकार से प्रार्थी हैं कि यह फरेबी कचहरी से उठ जायँ तो प्रजा का अरिष्ट दूर हो। ऐसे बुद्धि शत्रुओं से शास्त्रार्थ करना व्यर्थ है जो कल को कहेंगे, नागरी कविता में उरदू की भाँति

स्वाभाविक दुष्कर्मों का वर्णन नहीं होता । आगे से हमारे पाठक क्षमा करें, हम ऐसे प्रमादियों का उत्तर, यदि कोई विचारणीय विषय न होगा तो, बहुत कम देंगे ।

जो मूर्ख··उरदू की प्रशंसा और वेद से ले के आल्हा तक की आधार सर्वगुणागरी नागरी देवी की निंदा को केवल निज का विषय समझता हो और निरर्थक हा हा ठी ठी में देश सेवा गिनता हो, उसकी बकवाद पर ध्यान देना निष्फल है ।

योग्य समझेंगे तो फिर कभी ।

खं० 3, सं० 11 (जनवरी ह० सं० 2)

दिन थोड़ा है, दूर जाना है, यहाँ ठहरूँ तो मेरा निबाह नहीं है

परमाश्चर्यमय परमेश्वर जिसे दुतकार देना चाहते हैं उस अभागे की पाषाण सदृश बुद्धि में वेद शास्त्र पुराणादि के महा 2 वाक्य भी अपना आधिपत्य (असर) नहीं कर सकते । क्योंकि उसे तो अपने नर्कमय पाप जीवन में ही जन्म बिताना है । उसके चित्त में सदुपदेश क्यों कर चुभैं । पर जिसे अपनाते हैं उसके लिए साधारण लोगों की साधारण बातें भी साधारण तथा अमृतमयी शिक्षा का काम दे जाती हैं । पाठक ! यदि तुम अपनी आत्मा का सच्चा हित चाहते हो तो अपनी विद्या, बुद्धि, ज्ञान, वैराग्य, तीर्थ ब्रतादि का अभिमान छोड़ो । नम्र भाव से, अकृत्रिम भाव से, प्रेम भाव से प्रार्थना करो कि वह तुम्हें अपनावै । एक सच्चा आख्यान जिसको हुए अभी सौ वर्ष भी नहीं बीते, जिस महात्मा के पौत्र प्रपौत्र अभी भारत में विद्यमान हैं, उनकी कथा चित्त लगाकर सुनो तो निश्चय हो जायगा कि ईश्वर की इच्छा पर अपना जीवन छोड़ दो तो आश्चर्य नहीं कि वह तुम्हें सहज में अपनावै ।

एक तीस बत्तीस वर्ष की अवस्था का युवा पुरुष, जिसको सांसारिक भोग विलास छोड़, न कोई चिंता है न काम है, संध्या के कुछ ही पहिले के समय अपनी ऊँची अट्टालिका पर दो एक चंद्रबदनी, चंपकबरणी, नवयौवना बारललनाओं के साथ हाथ में हाथ दिए मदनमदमत्त टहल रहा है । उनके हाव भाव, उनकी मीठी 2 बातें, उनकी सहज शोभा आदि में उसका चित्त मगन हो रहा है । नीचे गृह वाटिका है । वहाँ से नाना पुष्पों की सुगंध लखा कर पवन उसके आनंद को दुगुण कर रहा है । सूर्यदेव मानो कह रहे हैं कि हमारा उत्पात तुम्हारे मन को न भाता हो, तुम्हारी आनंद क्रीड़ा में बाधा करता हो, तो लीजिए हम अपने अस्ताचल की राह लेते हैं । तुम सुखपूर्वक विहार करो ।

भला कोई भी निश्चय करेगा कि जिसे यौवन, धन, प्रभुता सभी चढ़ी-बढ़ी है वुह कभी स्वप्न में भी संसार के भ्रम जाल से छूट सकेगा ? देव मंदिर समान घर कोई सहज में छोड़ देगा ? लाखों की संपत्ति, अपनी चलते, दूसरों की छीन लेने को जी चाहता है, अपनी निज की तौ किससे छूटती है ।

सुंदरता ने बड़े 2 रिषि, मुनि, देवता, पीर, पैगंबरों का मन डिगाय दिया है । जिन्हें भोजनाच्छादन कठिनता से प्राप्त होता है उनकी भी लावन्यमयी मधुर छवि देख के राल टपकती है । मास दो मास की आय (आमदनी) घर की कोई वस्तु देके खट्टे मीठे को जी चलता है । फिर भला जिसे भगवान ने सब भाँति माना है, जिसे कोई कुछ कह नहीं सकता, जिसे मिथ्या प्रशंसक लोग बात 2 पर धरममूरत धर्माऔतार बनाते हैं, वुह और सुंदरी संसर्ग छोड़ दे ! वाह, यह तो धन पाने की शोभा है ।

हमारे बाबू साहब तो कन्हैया हैं । छोड़ दें ? क्या कोई कलंक है जो छोड़ दें ? पर नहीं, संसार की अनित्यता समझ ली वुह अपने आप ही को छोड़ देगा, धन, जन, कुटुंब और रमणी की तो क्या बात है । पर संसार की अनित्यता समझाने कौन आया । ऐसे इंद्रियलोलुपों के पास क्या कोई रिषि, मुनि, महात्मा उपदेश करने गए ? फिर वुह जगज्जाल से कैसे छूट भागा ? वुह अपनी प्यारी का रुखसार (किताब चेहरे की) देखने में लगा हुआ है, कुछ भर्तृहरि जी का वैराग्यशतक नहीं पढ़ रहा, जो घर छोड़ भागने को जी चाहे ! पर नहीं, वैद्य वही है जो महारोगी को अच्छा करे । यदि शुद्ध मायाच्छन्न हृदय को न अपनावैं तो पतितपावन अधमोद्धारण कैसे । इसी इंद्रियममत्व के कीच के बीच से निकाल के अपने प्रेमानंद में ले जायँ तब न आश्चर्यमय कहलावें । हमारे लिए भ्रमजाल है, उनकी दृष्टि में तो मकड़ी का जाला मात्र है । जो मूल ही नाश कर सकता है उसे पत्र पुष्प नाश करना कौन बड़ी बात है !

संसार का दृश्य जिसके सहज भ्रकुटिविलास में लय हो जाता है उसे सांसारिक कुबासना दूर करते क्या बिलंब ! देखो न द्वार पर कोई कुछ कहता है । तनक सुनो तो क्या कहता है । ओह कहता कौन क्या है, जैसे बाबू साहब रसिया हैं वैसे ही उनके सेवक भी रसीले हैं । वही किसी से कह रहे, "जानी, आज तो कई दिन पीछे दर्शन दिए हैं । अजी साहब तुम्हीं से कहते हैं । जरा गरीबों की भी ⋯ हजूर क्या गजब रे यह रुखाई ?" भई ऐसी बातें हो रही हैं तो जरूर कोई परीजाद होगी । उः जैसे रसिक हैं वैसे ही उनकी प्रीति का आधार भी कोई ऐसी ही वैसी होगी । तौ भी क्या जाने कभी 2 गूदड़ में छिपे हुए लाल भी मिल जाते हैं । आओ छज्जे पर से झुक के देख लें । पर हमारी जान साहब क्या कहेंगी । अरे कहेंगी क्या । एक दिल्लगी है । कुछ हो देखना तो अवश्य चाहिए । कौन है, कैसी है, जिससे दरबान छेड़खानी कर रहा है ।

है है युवावस्था भी क्या ही वस्तु है ! जब कि नीम का फल भी मीठा हो जाता है तो यह तो स्त्री है । इसका रूप माधुर्य किसी को भाय जाय तो क्या आश्चर्य । यद्यपि बहुत सुंदर नहीं है, न चंद्रमा का मुख है, न कमल से अरुण एवं बड़े 2 और खंजरीट से चंचल नेत्र हैं, न चंपा का सा रंग है, न सगधसनी अलकावली है, न वस्त्र और आभूषण ही सराहना योग्य हैं, केवल एक मैली-सी धोती पहिने साधारण अहीरी है पर "लैला को मजनूँ की आँखों से देखना चाहिए ।" दर्बानी राम यदि प्रेममुग्ध न भी हों तो भी न्याय से यही कहेंगे कि 'खूबरू सबकी निगाहों में नहीं चंदा तुम । अपनी नजरों में तो हो रश्के गुले खंदां तुम ।' जानी, प्यारी, प्राण इत्यादि शब्द केवल हँसी से नहीं किंतु मन से निकल रहे हैं । पर प्रेमपात्र की बेमुरौती तो प्रसिद्ध ही है । जबकि भगवान श्रीकृष्णचंद्र ही ने मथुरा से केवल तीन कोस आना अस्वीकार किया, गोपियों की विरह वेदना पर ध्यान न दिया, फिर साधारण स्नेहभाजनों का क्या कहना है ।

यदि आपने कभी कुछ दिन के लिये किसी को चाहा होगा तो जानते होंगे कि इधर तो तन, मन, धन, धर्म, प्रतिष्ठा, बरंच प्राण तक देने में नहीं 2 है और उधर से मुँह दिखाने में भी नहीं 2 है । इसी

न्याय से अनुमान कर लीजिए कि उस दही वाली ने द्वारपाल की खुशामद भरी बातों का क्या उत्तर दिया होगा । उत्तर कैसा, प्रेम प्रमादी की बात का उत्तर ही क्या । हजार मनुहार का जवाब इतना काफी है कि, 'पागल हौ' । सच है, केवल मनःकल्पित आशाओं पर अपना सर्वस्व दूसरे पर निछावर कर देना ज्ञानवान का काम है ? अंततोगत्वा बहुत पीछे पड़ने पर, बरंच लाज छोड़ पीछे दौड़ने पर, अपना पीछा छुड़ाने के लिये, आप नखरे के साथ कहती क्या हैं, "ना भाई ! हमको न छेड़ो ! दिन थोड़ा है, दूर जाना है। यहाँ ठहरूँ तो मेरा निर्वाह नहीं ।"

आहा, किस पवित्र समय में, किस धन्य घड़ी में, किस भाग्य भरे क्षण में, यह हृदयस्पर्शी बचन निकले थे कि बस, हमारे श्रद्धास्पद वर्णनीय बाबूजी का चित्त और से और हो गया है । हाँ इतनी आयुष्य बीत गई, सहस्र वर्ष नहीं जिएँगे, दिन थोड़ा नहीं तो क्या है । बड़े 2 महर्षि जन्म भर सददमादि करके जिस तत्व को नहीं जानते उसको प्राप्त करना परमावश्यक हई । आज तक कभी सच्चे जी से नाम स्मरण भी नहीं किया फिर किस बिरते पर कहें कि दूर जाना नहीं है ! इतने दिन धन, जन, कुटुंबादि में फँसे रहे । व्यर्थ की आशा, निष्फल चिंता के अतिरिक्त कर क्या लिया ! और अब भी रह के क्या बना लेंगे । राजर्षि भर्तृहरि और इब्राहीम अदहम (बलख बुखारे के बादशाह) मूर्ख न थे । कुछ तो मजा है जिसके लिए उन्होंने राज्य सुख को तुच्छ समझा था । यह सुख हमीं को नहीं सुख देते, उन्हें भी फूलों की सेज काट खाती थी । पर नहीं, उनकी समझ में आ गया था कि 'कोटिन क्यों न करों इतमाम पै है बिन राम छदाम के नाहीं' । बेशक अब यहाँ ठहरूँ तो मेरा निबाह नहीं है ! बस अब क्या है । बीबी अपने घर जावो । बीबी गई ।

मन ने कहा, क्या यही कपड़े पहिने रहोगे । बुद्धि ने उत्तर दिया, क्या वुह कपड़े देख के रीझेंगे ? मन ने कहा, कुछ दो चार दिन के खाने को तो लेते चलो । बुद्धि ने कहा, 'जान को देत, अजान को देत, जहान को देत, सो तोह को देहै ।' ज्ञान ने कहा, दूर जाना है कुछ राह खर्च तो ले लो । प्रेमदेव ने कहा, राजा ! तुम्हारे धन तो हम हैं । तुम्हें क्या चिंता । अब सोच विचार को लात मारो । प्रेम की रेल पर चढ़ा है, उसे इंद्र का नंदन बन भी देर नहीं, वृंदावन तो इसी लोक में है । पाँव चलने ही को बने हैं । यह परमेश्वर की बनाई जोड़ी (दो जोड़े की बग्घी), किसी काम में तो लावो । भगवान प्रेम की आशा पाते ही श्रद्धा, विश्वास, वैराग, उत्साह आदिक देव सैनिकों के साथ 'अब यहाँ कदम न लो । बस चलो, चलो, चलो !' गाते हुए, धर्म्म का डंका बजाते हुए प्रयाण कर दिया ।

रेल तो हई नहीं कि चार दिन में सैकड़ों कोस हो आइए । और यदि हो भी तो यहाँ धन के नाते केवल लक्ष्मीपति का नाम है । बग्घी, घोड़ा आदि भी रजोगुण के चिह्न हैं । वुह किस विरागशील को भाते हैं । बंगभूमि से बृजमंडल निकट भी नहीं है । फिर पयादे पाँव अकेले इतनी दूर जाने पर कौन कटिबद्ध होगा ? वही, जिसकी बुद्धि धन से, कुटुंब से, अथवा धर्म से अधिक प्राणों को चाहती होगी । नहीं धन का लोभी कुटुंब क़ा आसक्त एवं धर्म का संचयी भी अपनी बश में नहीं जाता । वुह लोभ के, मोह के, व परलोक भय के प्राबल्य से परबश है । इसी से जाते समय एक 2 से मिलता है।

एक पग आगे धरता है, फिर घर की ओर देखता, सभों को परमेश्वर के हाथ सौंपता है तौ भी चित्त निश्चित नहीं होता । नाना भाँति के निराश संकल्प विकल्प उठते हैं । पर प्रेम पथिक की मंगल यात्रा ऐसी नहीं है । शुक जैसे पिंजरे से उड़ जाता है, हरिण जैसे जाल से छूट जाता है, वुह फिर कर क्यों देखेगा । जो यह समझता है कि अभी तक़ जन समुदाय से मिले रहने में क्या मिल गया, वुह चलती

बेर किसी से काहे को मिलेगा ! परमात्मा जिसके साथ ही है, जो उन्हीं की प्रेरना से उनकी ओर जा रहे हैं वे किसकी चिंता करें । यावत चिंता तो प्रेमाग्नि में तभी स्वाहा हो गई जब 'दिन थोड़ा है' इस मंत्र का उच्चारण हुवा । संशय संसारियों के लिए हैं । यहाँ इस झंझट से क्या प्रयोजन । आनंदमय से मिलने निकला है वुह कभी काहे को किसी रीति का शोच करे । शोच ही के बंधन से मुक्त होने तो जाते हैं । बड़ा भारी अभ्यासी दिन भर में 10-15 कोस चलता है और कहता है चलते 2 मर गए । परंतु प्रेम यात्री यद्यपि कभी सवारी छोड़ के नहीं चला, तौ भी उसकी चाल है । वुह प्यारे के घर को दूर नहीं मानता । उसे थकावट नहीं होती । उसे प्रेम बल है इससे प्रतिक्षण 'कहे है शौक कि चलिए कदम बढ़ाए हुए' । इधर रात्रि हुई, "बाबू ब्यारू करने नहीं आए" । आते होंगे । घंटा भर हुआ, दो घंटे हुए, प्रहर बीता । 'अब न आवेंगे । जान पड़ता है किसी कमरे के मजे में फँस गए ।' 'मोर भैया अब आते होंगे ।'

पहर दिन चढ़ा, दुपहर हुई, तीसरा पहर लगा है । 'काका कहाँ', 'भैया कहाँ', 'बाबू कहाँ' का कोलाहल मच गया । यह तो नई बात नई है । यह कौन जानता है कि उनको नव जीवन प्राप्त हुआ है । उनकी सभी बातें नई हैं । अब वुह बाबू नहीं रहे जो गृह बंधन में पड़ने फिर आवें । यहाँ ढूँढ़ा, वहाँ ढूँढ़ा, इसके घर ढूँढ़ा, उसके घर ढूँढ़ा, बाबू कहीं नहीं हैं । सच है वे झगड़े के स्थानों पर कहीं नहीं हैं । अब तो यह भी दौड़ा, वुह भी दौड़ा । मैं चल तू चल की चलाचली पड़ गई । अंत को कई दिन की दौड़ धूप में मिलें तो क्यों न मिलें 'जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ' । पर मिले भी तो क्या, कोटि उपाय किए गए, सब व्यर्थ । यह कहाँ संभव है कि हाथी के दाँत जब बाहर हो गए तब फिर भीतर हो सकें ! यह कहाँ हो सकता है कि जिसने जिसको तुच्छ जान के तिरस्कार कर दिया वुह उसे फिर ग्रहण करे !

सवारी शिकारी पर उसका चित्त चल सकता है जिसे प्रेम बिबान न मिल सके । जब घर ही हमारा नहीं है तो घर के हाथी घोड़ों से हमें क्या काम ! अस्तु, फिर अपना क्या बस है । हाँ, वे हमें अपना नहीं समझते पर हम तो उन्हीं के हैं । जहाँ तक हमसे होगा उन्हें मार्ग में कष्ट न होने देंगे । पर वुह न जानने पावैं कि उनके खान पान इत्यादि का प्रबंध हमारी ओर से है, नहीं तो उन्हें आत्म कष्ट होगा । समझेंगे कि अब भी पीछा नहीं छोड़ते । पाठक देखो, जब सच्चे जी से कोई संसार सुखों को त्याग कर देता है तो सुख उसके पीछे 2 सेवक के भाँति चलता है । नखरा तो लक्ष्मी रानी उससे करती हैं जो उन्हें चाहे । कथा संक्षेप, बड़े आनंद के साथ यात्रा हुई, और आज नहीं कल, कल नहीं परसों, परसों नहीं मास भर में, चाहे जब अभीष्ट स्थान पहुँचे, अवश्य ही उस आनंदकानन शांतिधाम भगवद्विहार स्थल में जा ही पहुँचे ।

धन्य प्रेम का आनंद ! जो पुरुष उच्च अट्टालिकाओं को छोड़ के आया है वह साधारण झोंपड़ी में अधिक सुखी है । षटरस बिंजनों का जिसने त्याग कर दिया है उसे भिक्षा के टुकड़ों में अधिक स्वादु है । गद्दी तकियाओं से, पुरानी खाट के जंगले अथवा टाट के टूक अथवा पृथ्वी पर लोट रहने में अधिक आनंद न होता तो ऐतनी दूर क्यों आते ! एकाकी रहना अच्छा न होता तो कुटुंब, परिवार, हितू, परिजन, सेवक, रमणी आदि को क्यों छोड़ भागते हैं ! एक वुह हैं जो इसी बाह्य वैभव की आशा मात्र के लिये आठो पहर तेली के बैल की भाँति बहा करते हैं, एक वुह भी हैं जिनको सब सामग्री विद्यमान है पर मन को शांति की संती सदा की उलझन रहती है । कोई मर गया, सब सुख दुःखवत् प्रतीत होने लगे । किसी का वियोग हुवा, नींद भूख का स्वादु मट्टी में मिल गया । कोई रोग लग गया, जीवन मरण

के समान हो गया । और एक वह हैं जिन्होंने सब प्रकार के ऊपरी सुखों को लात मार दी है । सब झंझट से अलग हो गए हैं । एक महादरिद्री की भाँति जीवन यात्रा करते हैं और आनंद मग्न हैं ।

क्यों नहीं, बैभवग्रस्त बिचारे बंधन में, यह जीवन मुक्त—फिर इनकी प्रसन्नता को वे क्या प्राप्त हो सकते हैं ! अहा हा, 'तीन टूक कोपीन के अरु भाजी बिन लोन । तुलसी रघुबर उर बसें इन्द्र बापुरो कौन ।' इस प्रेमानंद को जिसने पाया है वुह संसार के तुच्छ दुःख को क्या समझता है । हरि रस के आगे अमृत भी तुच्छ है, दुनिया के मजे तो क्या । कहते हैं, वह महात्मा भिक्षा माँग लाते थे, सो भी पूरी रोटी किसी से न लेते थे, केवल टुकड़ा । सो श्री सूर्यसुता के शुद्ध सलिल में धो के, क्षुधा शांत कर लेते थे और बिचारा करते थे । थक जाने पर एक छोटी सी कोठड़ी थी, उसमें पुराना खटोली का जंगला पड़ा रहता था । उस पर पड़े रहते थे और अष्ट प्रहर भगवद्भजन में मत रहते थे । एक बार कुछ लोग इनके दरशन करने आए । उनमें एक बुढ़िया थी । उसने कोठरी में झुक के देखा तो आप न थे । कहीं भ्रमण करने गए थे ।

लोग बैठ गए कि आते होंगे । इतने में वृद्धा की दृष्टि महात्मा के बिछौने पर पड़ी । देखा कि कई खटकीड़े उस पर रेंग रहे हैं । उसे दया लगी कि काटते होंगे, इससे झार-फटकार के बिष्ठर (बिस्तर) को खटमलों से साफ कर दिया । फिर सब बैठे रहे । पर बाबू को दफ्तर की हाजिरी तो बजाना ही न था कि साहब के डर से नियत समय पर (बरंच कुछ पहिले) पहुँचते । इनके साहब तो सदा इनके साथ रहते हैं और इनके प्रत्येक आवश्यक काम का संभार करते हैं । अपने सेवकों पर क्रुद्ध होने का स्वभाव ही नहीं रखते, फिर इन्हें काहे की चिंता ! चाहे जब जहाँ आवें, चाहे जब जहाँ जायँ । घर आने की फिकर क्यों हो, जब यह विश्वास है कि उसकी रखवाली बड़े भारी सर्वशक्तिमान कर रहे हैं । चोर आ ही के क्या ले जायँगे । दर्शनाभिलाषियों ने देखा कि उनके आने का ठीक नहीं है तो चले गए ।

जब श्रीयुत महानुभाव घूमघाम कर आए तो थके से थे । अपनी खटा खंड पर लोट गए और खटमलों के न होने के कारण कुछ निद्रा सी आ गई । पर साथ ही हृदिस्थित देव ने जगा दिया तो कुछ देर अवाक रहने के उपरांत, बड़े खेद के साथ उच्च स्वर से रो 2 कर कहने लगे, "हाय, मेरे उन सच्चे हितकारक मित्रों का बियोग किसने करा दिया ! हाय, मेरे वे प्यारे मित्र कहाँ हैं जो मुझे उस समय भगवद्भजन के लिए चैतन्य कर देते थे जब मैं निद्रा में ग्रस्त हो जाता था ! हाय, आज मैंने सोकर भजन का अमूल्य समय खो दिया । मेरे सुहृद होते तो ऐसा क्यों होता ।"

साधारण लोग कहते होंगे कि तुच्छ खटमलों के लिए इतना शोक करना कौन बुद्धिमानी है । पर जिनको प्रेमामृत का स्वादु प्राप्त हुआ है, जो भजन रस को पानकर्ता है, उनकी गति न्यारी है । हममें यदि इतनी सामर्थ्य होती कि किसी छोटे बालक से बातचीत करा सकते तो हम पुछवा देते कि माता की गोदी में निद्रा का सुख अधिक है कि मखमल की नरम सेज पर । जननी जिस समय धीरे 2 थपक 2 कर 'सोय जाय मोर ललवा । आवरी सुख निंदिया' कहती है उस समय अधिक सुख मिलता है कि रसीली कहानियों के सुनने के समय ? प्रेमी को वही प्यारा है जो प्रेम मार्ग में सहायक हो । ईश्वर ने निष्प्रयोजन कोई वस्तु नहीं बनाई । यदि खाने, पीने, सोने आदि में ही सुख की पूर्णता है तो और बात है, पर यदि किसी ओर चित्त का लगाव है और कुछ सहृदयता का तत्व जानते हो तो निश्चय उपर्युक्त बचनों की महिमा करोगे । जब कि संसारी जीव भी नींद और आलस्य को हानिजनक जानते हैं तो दैवी पुरुष क्यों न बुरा समझें । उनकी तो महा हानि होती है । उन्हें एक 2 स्वाँस में भजनामृत का अकथ्य आनंद मिलता

है। उस्में विक्षेप होगा।

कुछ न्यूनाधिक सौ वर्ष हुए कि यह महात्मा संसार के साथ शारीरिक संबंध छोड़ गए। पर प्रेम समाज में आज भी देवताओं की भाँति प्रतिष्ठित, विद्यमान हैं। अपने जीवन में वे बहुधा आप ही आप, और कभी 2 तरंग आती थी तब अपने कृपापात्रों से यही पवित्र बचन कहा करते थे कि "दिन थोड़ा है, दूर जाना है, यहाँ ठहरूँ तो मेरा निर्वाह नहीं।" अब भी कभी 2, किसी 2 के अंतःकरण के करणों में यही शब्द सुनने में आते हैं। धन्य हैं वे लोग जिनको इस बात का तत्व समझ पड़े। यह कथा कलकत्ता निवासी श्री लाला बाबू की है, जिनके सुविशाल मंदिर को वृंदावन में बहुत लोगों ने देखा होगा। यद्यपि उनके विषय में बहुतेरों के मुख से बहुत-सी बातें सुनने में आई हैं, पर यह चरित्र उनका ऐसा है जो उनके सौ दोषों को दूर कर सकता है।

सर्वथा दोष रहित केवल भगवान हैं, पर सारग्राहिणी बुद्धि का धर्म है कि 'शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि' इस बचन को भी सब बातों के साथ ध्यान रखे। जिनसे हमें अब प्रत्यक्ष संबंध नहीं रहा उनके औगुण ढूँढ़ने में क्या धरा है ? वुह बुरे हों तो पर उनके सद्गुण हमारे लिए सन्मार्ग में चलाने की दीपक का काम दे सकते हैं। प्रिय पाठक, क्या तुम्हारे जी में भी कभी "दिन थोड़ा है" इत्यादि बचन सुनाई देते हैं ? यदि न सुनाई देते हों तो अब सुन रखो कि जीवन का समय थोड़ा है, और संसार में आके केवल खाने, सोने का काम नहीं है। यदि अपनी आत्मा की ओर देखो, अपने देश की ओर देखो तो समझ सकते हो कि तुम्हारे कर्तव्यों की गिनती नहीं है।

निज कल्याण और भारत हित के मार्ग में तुम्हें बहुत दूर जाना है। यदि इसी दशा में बने रहे जिस्में अभी हो तो निश्चय तुम्हारा निर्वाह नहीं है। हम यह कभी नहीं चाहते कि हमारे सुहृदगण भी घर छोड़ के भिक्षा के टुकड़ों पर दिन काटें। नहीं अपना घर, अपना मनोमंदिर, अपने बंधु बांधव, इष्ट मित्र, परोसी और स्वदेशी भाइयों के घरों को देखो और निज का घर समझ के उनके अभावों को दूर करो। सब गृही भाइयों के लिए सुख का उपाय करो, पर आज ही से, इसी क्षण से, सन्नद्ध हो जाब क्योंकि ढिल्लरपन से निर्वाह न होगा। मृत्यु पुकार रही है, 'सँभल, शीघ्र सँभल, तेरी आँखें मुँदने में बिलम्ब नहीं है। एक पल भर में सब मनोर्थ बिलीयमान हो जायँगे। अपना भला चाहता है तो केवल चाहने से कुछ न होगा, जो करना है करने में जुट जा, दिन थोड़ा है।' भारत माता रो 2 कह रही है कि मेरी गति क्या से क्या हो रही है, मेरे हितार्थ, यदि तुम मेरे सच्चे सपूत हो तो, तुम्हें दूर जाना है। क्या तुम्हारा मन इन बातों को सोच के नहीं कहने लगता कि अब मेरा यहाँ अर्थात् आलस्य के साथ रहने में निबाह नहीं है !

खं० 4, सं० 3, 4, 5, 6, 7, 8

(15 अक्टूबर, 15 नवंबर, 15 दिसंबर, 15 जनवरी, ह० सं० 3 और 15 फरवरी, 15 मार्च, ह० सं० 4)

ऊँच निवास नीच करतूती

बंगाली ब्राह्मण अपने को कान्यकुब्जों का वंश बताते हैं । इससे स्वयं सिद्ध है कि जो लोग आज भी कान्यकुब्ज देश ही के इधर उधर रहते हैं, और कान्यकुब्ज ही कहलाते हैं, वे अधिक श्रेष्ठ हैं । क्योंकि देश, भेष, भाषा, आचार, व्यवहार सभी कुछ बना है । भला यह श्रेष्ठ न होंगे तो क्या वे होंगे जिनका नाम भी और हो गया ! पर जब हम देखते हैं कि बंगाली माशा (महाशय) एक शूद्र, निर्धन, अविद्य और उदासीन (न मित्र न शत्रु) बंगाली के हितार्थ एतद्देशीय अत्युच्च ब्राह्मण, बड़े भारी अमीर, महा पंडित, एवं परम मित्र को कुछ माल नहीं गिनते, बरसों की मित्रता छोड़ नए परिचयी की ओर हो जाते हैं, यहाँ तक कि 'हिंदुस्तानी' शब्द ही को वे अंतःकरण से तुच्छ समझते हैं पर हमारे रौरे जी (कनौजिया भाई) की अकिल पर ऐसे पाथर पड़े हैं कि दुनिया भर की चाहै लातैं खाय आवैं, पर अपने को अपना समझें तो शायद पाप हो ।

कनौजियांय में बट्टा लग जाय ! धाकर तो धाकर ही हैं । अच्छे झकझकौआ में, षटकुल का भी पक्ष करना नहीं सीखे । यही कारण है कि बिद्या में, बुद्धि में, राजद्वार प्रतिष्ठा में बंगाली भद्रो पुरुष हैं । (यदि आज न हों तो कुछ दिन में अवश्य बाबू लोग बनाय लेगा) और यह कुलीन दादा कुली नहीं तो मजदूर अवश्य ही हैं । इधर क्षत्रियों में देखिए तो हम यह नहीं कह सकते कि खत्री और कायस्थ क्षत्री नहीं है, पर डील डौल, नाम काम, पहिरावे उढ़ावे में नजाकत आ जाने से और यज्ञोपवीत तथा सामयिक राजभाषा के अभ्यास के अतिरिक्त और कोई लक्षण क्षत्रियत्व का देख नहीं पड़ता । पर हमारे ठाकुर साहब के नामों में, चेहरे मोहरे में एक प्रकार की वीरता आज भी झलकती है । इससे हम क्या एक विदेशी भी कह देगा कि यह बहादुर कौम है । पर विचार के देखो तो स्वजातिहितान्वेषण के मैदान में जितना मुंशी जी का और खत्री साहब का कदम आगे बढ़ा है उतने ही राजपूत महाशय पीछे पड़े हैं !

इनमें जाति हितैषियों की संख्या कदाचित उँगलियों पर गिनी जाय । इसी से इनके देखे वे समुन्नत हैं । वैश्यों में हमारे ओमर दोसर जो हम कान्यकुब्जों ही की जिह्वा से नहीं वरंच जगत् के मुख से बनिया ही के नाम से लक्षित हैं, वे फूट का मूलारोपण और फलास्वादन में हमारे मुख्य शिष्य हैं । पर अग्रवाल महोदय, जो समय के फेरत्तार तथा पश्चिमीय जलवायु के संस्कार से कुछ 2 मियाँ भाइयों की लटक पर आ गए हैं, वे अपने चार भाइयों की दया संपादन करके ऐक्य के मधुर फल को पूर्ण रीति से नहीं तो भी कुछ तो पा ही रहे हैं ।

मारवाड़ी भाई यद्यपि विद्या से बंचित और दोनों प्रकार के वैश्यों से अलग हैं पर एका उनमें ऐसा है कि ओमर, दोसर और अगरवाले महेसरी तो क्या, हम मनाते हैं, परमेश्वर हमारे ठाकुर साहब और रौरे को भी सिखावै । धन्य है, देश से आते देर नहीं और सेठजी बन जाते देर नहीं । चाहे नित्य दिवाला निकले, पर 'अपणा भईंयारो कौड़ी न रक्खाँगा' । हम तो इस बुद्धि को देवताओं ही की बुद्धि कहेंगे । रहे शूद्र, जो सबकी दृष्टि में नीच हैं, पर पाँच पंच का डर, सहायता, स्नेह का पूर्ण सुख भोगते हैं । इसी से कहते हैं कि 'ऊँच निवास नीच करतूती, तेहिते लगी बड़ेन महँ छूती' ।

खं० 4, सं० 5 (15 दिसंबर, ह० सं० 3)

मरे का मारैं साह मदार

चार वर्ष से हम देख रहे हैं कि देशी समाचारपत्रों में, विशेषतः हिंदी के पत्रों में, जो कुछ धन लाभ होता है, बिचारे सम्पादकों का जी ही जानता है ! दुःख रोना नीति ग्रंथों में वर्जित है, हम सम्पादक हैं, जब दूसरों के दुःख सुख, गुण औगुन छाप डालते हैं तो अपने क्यों न कहें ? जो सम्पादक अखबार की आड़ में भिक्षा भवन करते नहीं शरमाते, धनिक मात्र की झूठी प्रशंसा से पत्र भर के सहायता के नाम से माँग जाँच कर अपना घृणित जीवन भी निभाते हैं उनकी तो हम कहते नहीं, पर जिन्हें अपनी लेखनी के बल का घमंड है, और यह सिद्धांत है कि "को देहीति वदत्स्वदग्ध जठरस्यार्थे मनस्वी पुमान" उनको राम ही से काम पड़ता है ।

'रसिक पंच' 'भारतेंदु' 'उचिते वक्ता' इत्यादि उत्तमोत्तम पत्र इसी घाटे की छूत के मारे थोड़े ही दिन चल के बंद हो गए । हमारे 'ब्राह्मण' का यह हाल है कि हृदय का रक्त सुखा 2 के अब तक चलाए जाते हैं । वर्ष भर में डेढ़ सौ रुपया छपवाई और डाक महसूल को चाहिए और आमदनी इस वर्ष आठ मास में केवल 20) रु० की हुई है । चार वर्ष में दो सौ का कर्जा हुवा है । उसे कुछ भुगता चुके हैं, 150) भुगताना बाकी है । महीनों से तगादा करते हैं, ग्राहक सुनते ही नहीं । बाजे 2 महापुरुषों ने चार बरस में कौड़ी नहीं दी, बाजे 2 दस 2, पंद्रह 2 रुपए यों लिए बैठे हैं । महीना दो महीना और देखते हैं, नहीं तो सबकी नामावली छापनी पड़ेगी ।

कहाँ तक मुलाहिजे के पीछे भार सहें । प्रेस वाले जानते हैं संपादक जमामार है । संपादक बिचारा नादिहंदों की हत्या अपने सिर मुड़ियाए है ! छापने वालों का तगादा सुनके लज्जा, क्रोध और चिंता खाए लेती है । अपनी गृहस्थी के खर्च में हर्ज सह 2 के कुछ देते जाते हैं और झूठे वादे तथा मन को मार के खुशामद से टाले जाते हैं । भविष्यत का ज्ञान परमेश्वर को है, क्या जाने उसकी इस लीला में कौन गुप्त भेद है । पर हमारा विचार यह है कि जैसे 2 यह वर्ष पूरा हो तो ब्राह्मण को ब्रह्मलोक भेजें और यथासाध्य नादिहंदों से रुपया वसूल करें, फिर वर्ष छः महीने में ऋणहत्या छुड़ावें । खुशामद होती नहीं, माँगना आता नहीं, फिर यह आशा कैसे करें कि कोई हमारा बोझ हलका करेगा । हँसी खुशी हमारा मूल्य ही दे दें तो उन्होंने मानो सब कुछ दे दिया !

यह संपादकों की महा कथा का एक अध्याय संक्षेप से इसलिए सुनाया है कि हम लोगों की दशा सबको विदित हो जाय । हम गंगा में पैठ के कह सकते हैं कि यह झूठ नहीं है । जब कि हमारे छोटे से पत्र की केवल चार वर्ष में यह गति है तो हमारे मान्यवर 'हिंदी-प्रदीप' का हाल, समझते हैं, हमसे भी बुरा होगा ! 'ब्राह्मण' से दूना उसका आकार है, चौगुनी उसकी आयु है, उसके संपादक श्री बालकृष्ण भट्ट हैं, वुह हम से भी गई-बीती दशा में ठहरे । कुटुंब बड़ा, खर्च बड़ा, सहायक सगा बाप भी नहीं । स्पष्टवक्तापन के मारे जबानी दोस्त भी कोई नहीं । ऐसी हालत में सरकार ने 10) रु० टैक्स के लै लिए ।

हम क्यों न कहें—'मरे को मारैं शाह मदार !' वुह बिचारे कौन धंधा करते हैं, जो उन पर टिक्कस ! दस रुपए में क्या सर्कार का खजाना भर गया ! कर्मचारियों की कौन बड़ी नेकनामी हो गई ! कौन तनख्वाह बढ़ गई ! कौन पदवी (खिताब) मिल गई ! हाय क्या जमाना है कि राजा प्रजा

कोई गरीबों की हाय से नहीं डरता ! चार बरस हुए कुछ बदमाशों ने हमारे भट्ट महोदय पर अपनी बदमाशी दरसाई थी तब सहायता किसी ने न की। आज रुपया चूसने को सब तैयार हो गए। इंसाफ यदि कोई बस्तु है तो हम लोगों का रजिस्टर देख लिया जाय। पर कौन सुनता है ! हमारी समझ में यह किसी धूर्त कर्मचारी ने किसी गुप्त बैर का बदला लिया है।

खं० 4, सं० 9 (15 अप्रैल, ह० सं० 4)

ककाराष्टक

ज्योतिष जानने वाले जानते हैं कि होड़ाचक्र के अनुसार एक अक्षर पर जितने नाम होंगे उनका जन्म एक नक्षत्र के एक ही चरण का होगा और लक्षण भी एक ही सा होगा। व्यवहार संबंधी विचार में ऐसे नामों के लिए ज्योतिषियों को बहुत नहीं बिचारना पड़ता। बिना बिचारे कह सकते हैं कि एक राशि, एक नक्षत्र, एक चरण के लोग मिल के जो काम करेंगे वुह सिद्ध होगा। लोक में भी नामराशी का अधिक संबंध प्रसिद्ध है। इसी बिचार पर सतयुग में सत्य, सज्जनता, सद्धर्मादि का बड़ा गौरव था। हमारे पाठक जानते होंगे श्री महाराजाधिराज कलियुग जी देव (फारसी में) भी तो बड़े छँटे, बड़े नीतिनिपुण हैं। वे काहे को चुकते हैं। जब द्वापर के अंत में इस देश की ओर आने लगे तो अपना नामराशी नगर समझ के इस कानपुर को अपनी राजधानी बनाया और बहुत से ककार ही नाम वाले मुसाहब बनाए, जिनमें से छः सभासद हम पर बड़ी कृपा करते हैं।

अतः हम ने सोचा कि अपने रत्न दयालु जजमानों की स्तुति न करना कृतघ्नता है। छः मुसाहब, एक महाराज, एक उनकी राजधानी की स्तुति में अष्टक बना डालें तो संसारी जीव धर्म कर्मादि से शीघ्र मुक्ति पा सकेंगे। हमारे छः देवता या कलिराज के मुख्य सहायक यह हैं—एक कनौजिया, यद्यपि कान्यकुब्ज मंडली इत्यादि की कार्रवाइयाँ उन्होंने महाराज की मरजी के खिलाफ की हैं। पर महाराज तो बड़े गंभीर हैं। वे बहुत कम नाराज हुए हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि इनकी पैदाइश विराट भगवान के मुख से है, और मुख ऐसा स्थान है जहाँ थूक भरा रहता है। फिर जो थूक के ठौर से जन्मेगा वह कहाँ तक थुकैलपना न करेगा। दूसरे कायस्थ हैं।

इन पर भी कायस्थ सभा, कायस्थ पाठशाला का इलजाम लग सकता है और बाजे लोग बैष्णव हो जाते हैं इससे कलियुग जी नाखुश हो जायँ तो अजब नहीं। पर चूँकि कलिराज की माशुका बी उरदू जान की सिफारिश है, इससे कोई डर नहीं रहा। तीसरे मुसाहिब कलवार हैं। इनमें बेशक वही लोग हजूर के कृपापात्र हैं जो कलवरिया के कार्य्याध्यक्ष हैं। चौथे कहार, पाँचवें कसाई, छठे कसबी। यह बेशक बे ऐब हैं। इन छहों मुसाहिबों में इतना मेल है, एक-दूसरे के मानो अंग प्रत्यंग हैं। एक के बिना दूसरा निर्बल है, और उन्हीं के एका का फल है कि कलिदेव राज करते हैं। यह परिचयस्तोत्र

पाठकों की श्रद्धा बढ़ाने मात्र को दिया है ! स्तोत्र फिर ।[1]

खं० 4, सं० 9 (15 अप्रैल ह० सं० 4)

आलमे तसबीर (1)

इस नाम का एक साप्ताहिक पत्र उरदू भाषा में यहाँ से निकलता है । इसके एडिटर सहब को बिचारी गौओं से और गोरक्षिणी सभा से न जाने कहाँ का बैर है कि जब कभी इसका आंदोलन कानपुर में होता है तभी आप बिन बात का बतंगड़ बढ़ा के, सीधे-सादे हिंदुओं का जी दुखा देते हैं । हम अरबी के विद्वान नहीं हैं कि कुरआन हदीस के बचनों का अखंडनीय अर्थ जान सकें, पर जहाँ तक नागरी, बंगला, फारसी के ग्रंथों में देखा और सज्जन मौलबियों से सुना है वहाँ तक कह सकते हैं कि महात्मा मुहम्मद ने कहीं यह आज्ञा न दी होगी कि बिना मतलब झूठ मूठ छेड़खानी करके अन्य धर्मियों को कुढ़ाओ और खामखाह दो समाजों का चित्त फाड़ो ।

इसके सिवा यह भी सब जानते हैं कि हिंदू धर्म में गाय की रक्षा परम धर्म है और मुहम्मदीय धर्म में यह बात कहीं नहीं लिखी कि गाय के प्राण लिए बिना धर्म रही नहीं सकता । फिर गोरक्षा का विरोधी बनना, हिंदुओं को निष्प्रयोजन आत्मपीड़ा देना और हिंदू मुसलमानों में फूट फैलाने के सिवा और क्या फल देगा । जब गोरक्षा का कोई बंदोबस्त होता है तब आलमे तसबीर में उसके खिलाफ जरूर लिखा जाता है और बहुत से हिंदू भाई हमारे पास आ के करुणा के साथ कहते हैं कि जवाब लिखो । पर हमने कई बार देखा है कि यहाँ के लोगों को दया और धर्म केवल दो एक दिन के लिए होता है ।

पीछे से अपने कामों में थोड़ा सा भी हर्ज करके कोई काम करना नागवार हो जाता है और यह तो कभी न देखा न सुना कि किसी पर, परमेश्वर न करे, कोई आफत आवे और कोई उसका शरीक हो । यही समझ के हम सदा अपने फरियादी भाइयों से कह देते रहे हैं, नाहक तकरार लेने से क्या होगा, तुम गोशाला और गोरक्षिणी सभा कायम कर दो, सब बातों का जवाब यही है और सच भी यही है । निर्बल निस्सहाय ब्राह्मण को तकरार लेना नहीं सोहता ।

इस बार छः अप्रैल के आलमे तसबीर को भी हम जवाब नहीं देते, केवल एक नगर में रहने के कारण, साधारणतः समझाए देते हैं कि ऐसे लेखों से कोई लाभ नहीं है । गौएँ बचेंगी तो मुसलमानों को कड़वा दूध न देंगी । कई शहरों में बहुत-से प्रतिष्ठित और विद्वान मुसलमान गोरक्षा में शरीक हैं । उनको कोई पाप नहीं लग गया बरंच अपने हमवतनों (स्वदेशियों) की सहायता का पुन्य ही होता है ।

सरकार भी गोबध गुप्त रीति से करती है और आज तक कभी गोरक्षा पर कहीं अच्छे लोग नहीं

1. स्तोत्र इस ग्रंथावली के काव्य खंड में देखें ।

लड़े । फिर कभी शरीफ मुसलमान गो मांस लोलुप नहीं होते । फिर आप ही व्यर्थ बाद क्यों करते हैं ? आप फरमाते हैं "इस हफ्ते में चंद हिंदू गोरक्षिणी सभा पर बाजार 2 लेक्चर देते फिरते हैं । पुरजोश अलफाज से हिंदुओं की सुतवज्जेह करते हैं कि तुम गाय के जबीहे में हाजिर हो ।" जब कि गोरक्षा का उपदेश देना और उसका यत्न करना हिंदुओं के धर्म का मूल है, और सरकार की मनशा है कि तब लोग अपने धर्म की रीति निर्द्वंद्वता से करें एवं इसमें किसी अन्य धर्म की निंदा व हानि नहीं होती तो बाजार 2 लेक्चर देने में कौन पाप है ।

रहा परजोश अल्फाज, सो जहाँ तक देखा गया है किसी को ल्येक्चरों से किसी को क्या होगा। बिचारे हिंदी-उरदू के लेखों से देख-दाख के कुछ कह-सुन लेते हैं । जिसे कुछ दया धर्म का ख्याल है वुह यथासामर्थ्य कुछ चंदा दे देता है । और यदि अच्छा लेक्चर हो, उसके कथन से लोगों को पूरी उमंग हो जाय, तो अपनी सामर्थ्य से बाहर ब्याह-बरात की तरह कुछ लोग बहुत सा रु० दे गुजरें, इसके सिवा गोरक्षा के जोश का फल ही क्या हो सकता है । सो भी आज तक देखा सुना नहीं जाता फिर ताने के साथ 'पुरजोश अल्फाज' का हम नहीं समझते क्या अर्थ है ? "जा बजा से कुरआन की आयतें गलत तौर पर पढ़ कर उसके मानी झूठी ताबीलों से गढ़ के मुसलमानों को हिदायत करते हैं कि तुम्हारे मजहब में गाय का खाना दुरुस्त नहीं ।" यह तो सच है कि बिना अरबी पढ़े कुरआन की आयतें क्या साधारण शब्द भी अरबी का शुद्ध नहीं उच्चरित होता, और हिंदुस्तान भर में शायद दो-एक अरबी जानने वाले हिंदू और संस्कृत जानने वाले मुसलमान निकलें । इस हालत में गलती होना असंभव नहीं । पर मानी (अर्थ) का गढ़ना बिना पढ़ी भाषा में असंभव है । जैसा अरबी पढ़े हुओं से सुना वैसा कह देना या लिख देने में हिंदुओं का क्या दोष है ?

कई एक प्रसिद्ध मौलबियों से सुना गया है और शरीफ मुसलमानों को गो मांस से पक्का परहेज देखा गया है । इससे स्वयं सिद्ध है कि गाय खाना मुसलमानों को परमावश्यक नहीं है । "इस हफ्ते में कई एक नाटक भी इसी गाय के मुतअल्लिक खेले गए" यह सरासर झूठ है । दास अपने शहर की खबर, और एडिटर हो के, झूठी छापे ! यह बात का बतंगड़ नहीं तो क्या है ? नाटक कहीं कोठरी में नहीं होते, सैकड़ों लोगों के सामने सरकारी नाट्यालय में होते हैं । इस हफ्ते में क्या इस मास में केवल एक नाटक गोरक्षा विषयक एम०ए० क्लब ने खेला है ।

'31 मार्च को एक बछड़ा खड़ा करके चंद मुसलमान लड़कों से, जिनको पेश्तर से तालीम कर रक्खा गया, गाय की अस्तुति गवाई' यह वाक्य भी निरे झूठ हैं । पंच क्लब (जिसमें केवल दो ब्राह्मण शेष सब मुसलमान है) ने गऊ की बिनती गाई थी । इसमें उक्त क्लब की उदार चरित्रता और हिंदू मुसलमानों के प्रति दृढ़ होने की इच्छा प्रत्यक्ष दृष्टि पड़ रही थी । देखने वाले गाय के दुख सुन के दुखी ही न हुए थे बरंच पंच क्लब की मुहब्बत से भर गए थे । यहाँ तक कि M.A. क्लब की तरफ से श्री बाबा हरनाम सिंह ने और श्री भारत मनोरंजनी सभा की ओर से प्रताप मिश्र ने तथा दर्शकों में से एक साहब ने बड़े स्नेह से धन्यवाद दिया था और हकीकत में उन्होंने तारीफ का काम किया था ।

आलमे तसबीर का भ्रम है कि पंच क्लब मेंबरों को लड़का बनाता है । दस-बारह बरस वाले लड़के कहाते हैं । वैसा उनमें शायद एक भी नहीं है । होता तो स्त्री भेष में अवश्य दिखाई देता । इसके विरुद्ध दो तीन मित्र पढ़े लिखे उरदू के कवि हैं और उमर में एडिटर से बड़े न होंगे तो छोटे भी नहीं हैं । उन्हें लड़का कहने के न जाने क्या माने हैं । उन्हें तामील करके कौन गवा सकता था । किसी दूसरे क्लब जा

मेंबर उन्हें तालीम दे के अपनी हँसी कराने से रहा। रुजगारी गवैया, नचैया से वे सीखने से रहे। चलो छुट्टी हुई।

नाच गा के हिंदुओं को खुश करके इनाम लेना इनका पेशा कदापि नहीं है। फिर कौन बुद्धिमान उनके गो विषयक गीत सर्व साधारण के आगे गाने को केवल सहृदयता और ऐक्यप्रियता (सुलह पसंदी) न कहेगा। "ऐसे हालत में मुसलमानों में किसी कदर तशबीस फैलती जाती है।" परमेश्वर की दया से कानपूर में न हिंदू झगड़ालू हैं न मुसलमान। विचारशील हिंदू मुसलमान इस बात से अवश्य प्रसन्न होंगे कि अब वुह भी दिन आ चले कि मुसलमानों का एक समाज हिंदुओं के प्रसन्न करने को अपना धन और समय लगा देता है तथा हिंदुओं का एक समाज गद्‌गद स्वर से मुसलमानों को धन्यवाद आशिरबाद देता है। सज्जन लोग तो मनावेंगे कि नित्य ऐसा हो। धन्य भाग्य उस स्थान के जहाँ अनेक धर्म के लोग एक मत के हों।

हिंदू मुसलमान तो क्या सज्जन नास्तिक भी इसमें आनंद होंगे। पर जिन दुष्टों का धर्म कर्म केवल दो समूहों में बैर बढ़ाना अथवा अपनी जथा के सिवा दूसरे को न देख सकना मात्र है उनकी हम नहीं कहते। "देखिए नतीजा क्या शुदनी है।" होनहार का भेद परमेश्वर जाने पर अहंकारी से हम कह सकते हैं कि यदि ऐसा ही शीघ्र 2 होता रहा तो गोरक्षा पर लोगों की रुचि बढ़ेगी, हिंदू मुसलमानों में प्रेम दृढ़ होगा, नगर को सुख सुयश प्राप्त होगा, सरकार की नीति और प्रजावत्सलता प्रत्यक्ष होगी। यदि कुछ न होगा तो विदेशी कानपुर पर ताली बजा के टाँय 2 फिस के गीत गावेंगे।

जो अदूरदर्शी प्रजागण को लड़ाई के लिए उभाड़ेंगे वे लोक परलोक के राजा के संमुख अपने किए का फल पावेंगे। इतनी बातों में एक ही बात "शुदनी" है। अंत में हम अपने सहयोगी को सम्मति देते हैं कि अखबारों का धर्म मेल बढ़ाना और सद्‌गुण फैलाना है। इससे हमारे इस बचन पर ध्यान दें कि "हिंदू मुसलमान दोनों भारतमाता के हाथ हैं। न इनका उनके बिना निबाह है न उनका इनके बिना। अतः सामाजिक नियमों में एक दूसरे के सहायक हों। इसमें दोनों का कल्याण है। कोई दहिने हाथ से बायाँ हाथ अथवा बाएँ से दहिना हाथ काट के सुखी नहीं रह सकता।

खं० 4, सं० 9 (15 अप्रैल ह० सं० 4)

आलमे तसबीर (2)

यह हजरत गोरक्षा ही के द्वेषी नहीं हैं, हमारे कांग्रेस के भी द्वेषी हैं। गत मास में हम दिखा चुके हैं कि गोरक्षा विषयक साधारण व्याख्यान पर आपने कितनी झूठ के साथ कैसा 2 अमूलक झगड़ा रोपा था। आज उससे बढ़ के कांग्रेस विषयक प्रपंच लीजिए। 27 अप्रैल के पत्र में मेरठ का हाल लिखते हैं, जिसका भावार्थ यह है कि 'बाबू रघुबरसरन वकील ने कांग्रेस के लाभ वर्णन करके सैयद मीर

मुहम्मद को कांग्रेस का हमदर्द बताया पर सैयद ने कांग्रेस के विरुद्ध कहा । खैर यह तो बाबू रघुबरदयाल साहब की कोई बड़ी भूल भी न थी, वे सैयदजी के अंतरयामी न थे । इसके आगे लिखते हैं 'करीब था कि फौजदारी की नौबत पहुँच जाय' पर साफ 2 लिखना चाहिए था कि किसकी तरफ से फौजदारी की नौबत पहुँचने के आसार थे ।

कांग्रेस के अनुकूल लोग तो केवल सब में मेल बढ़ाना चाहते हैं । हाँ, बहुधा विरोधी लोग झूठ और प्रपंच से काम ले रहे हैं जिसके उदाहरण अभी लिखे जाते हैं, जैसा लिखते हैं 'अब की साल रंग अच्छा नहीं है । हामियाने कांग्रेस कुछ जियादा बौखलाहट से काम ले रहे हैं' । यदि सैयद अहमद और उनके संप्रदायियों की खुदगरज, खुशामदी··बातों को बिना समझे वा समझ बूझ के अपने विचार शक्ति का खून करके उनका पछलगा न बन जाना ही बौखलाहट है तो और बात है, नहीं तो आ०त० को हमारी बौखलाहट का कोई उदाहरण देना था । और सुनिए "जैसे 1857 का गदर मेरठ से शुरू हुआ था वैसे कांग्रेस की भी शकररंजी (झमेल) वहीं से शुरू हुई ।" तीन बरस से कांग्रेस होती है, कभी शकररंजी न हुई केवल अब की बेर सर सैयद अहमद साहब के बहकाने से कुछ नासमझ लोग कांग्रेस के सहायकों से वैमनस्य मानते हैं । पर उस एकतरफी वैमनस्य को सन् 57 के गदर से उपमा देना निरी बौखलाहट है । हम हिंदू मुसलमानों के सामने सैयद साहब के अनुगामी बहुत ही थोड़े हैं । तिस्पर भी जिन्हें कांग्रेस से कुछ संबंध है वे नेचरियों की गालियाँ तक सुन के चुप रहने और मधुर उत्तर देने का इरादा किए हैं, फिर 57 को याद करना हम नहीं जानते क्या गुप्त अर्थ रखता है ?

यह तो एडिटोरियल नोट का हाल हुआ, अब 21 एप्रिल को श्रीयुत पंडितबर अयोध्यानाथ वकील महोदय ने नाच घर में कांग्रेस संबंधी लेक्चर दिया था, उस्पर मियाँ आलम तसबीर फरमाते हैं, 'मुसलमान शायद दश से कुछ ही जियादा थे' । शायद अपनी या अपने आगे पीछे की कुरसी की गिनती की है, नहीं मुसलमान बेशक सौ के लगभग थे, पर कांग्रेस के विरोधी दस भी न थे । जाहिरा केवल तीन थे, शायद दो एक गुप्त भी हों । आगे चलिए । 'अनुमान दो सौ आदमी जमा थे' । वाह ! ऐनक लगाने पर भी यह हाल ! इसके आगे श्री पंडित जी के परमोत्तम हृदयग्राही लेक्चर पर खूब उखाड़ पछाड़ की है जिसका उत्तर देना निरा समय खोना है । बुद्धिमान इतने ही से विचार सकते हैं कि कांग्रेस के विरोधी सत्य को कहाँ तक आदर देते हैं । उन्हीं के एक पत्र प्रेरक, जो लखनऊ के हैं, इस पर तो बिगड़ते हैं कि उक्त पंडित जी ने 20 ता० को लेक्चर दिया, उसमें कुरआन की आयतें पढ़ीं । पर इसका बयान उड़ाए जाते हैं कि एक मुसलमान ने भरी भीड़ में बुरी तरह पर गायत्री पढ़ी ।

यदि नियत देखी जाय तो पं० जी ने केवल एकता की पुष्टि के लिए कुरान शरीफ का प्रमाण दिया था । इसमें यदि श्री मुहम्मदीय धर्म की अप्रतिष्ठा होती तो शेष रजाहुसेन खाँ साहब (जो उस दिन सभापति थे) और 'अवध पंच' के एडिटर मुंशी सज्जाद हुसेन सा० इत्यादि सज्जन जो वहाँ बैठे थे अवश्य अप्रसन्न होते, क्योंकि वे भी मुसलमान ही हैं । पर शायद कांग्रेस के विरोधी कांग्रेस के अनुकूल मुसलमानों को मुसलमान नहीं समझते । क्या आलमे तसबीर इसी पर कहता है कि 'मुसलमानों ने हिंद ने० कां० की मुखालफत में निहायत इत्तिफाक जाहिर किया ।' परमेश्वर ऐसे अनक्यबर्द्धकों को सुमति दे जो निज धर्म ग्रंथ के वचन कोई प्रमाणार्थ कहें तो भी अपनी तौहीने महजबी समझते हैं और दूसरों के धर्म वाक्य को खुद जलन के साथ कहने में नहीं लजाते । ऊपर से राजा प्रजा दोनों का हित चाहने वालों

को दोष लगाते हैं, पर स्वयं न्यायशील ब्रिटिश सिंह के राज्य में अपने 'सुस्त और कमजोर हाथों से काम लेना' चिताते हैं। न जाने इसमें क्या लोक या परलोक का लाभ समझे हैं।

खं० 4, सं० 10 (15 मई ह० सं० 4)

दबी हुई आग

यदि किसी ठौर पर आग लगे, धधक उठै तो हम अनेक उपाय से तुरंत उसे बुझा सकते हैं। पर जो आग किसी वस्तु में दबी हुई सुलग रही हो और कोई उसे बतलाने वाला न हो तो उस अग्नि से अधिक भय है। आजकल परमेश्वर की दया से हमारे धर्म रूपी भवन के अग्निवत् ईसाई मत प्रत्यक्ष प्राबल्य तो शांत होने के लगभग है, पर अभी ईसाइयों की एक कार्रवाई ऐसी फैली हुई है कि यदि उसका उपाय अभी से कमर बाँध के न किया जायगा तो एक दिन दबी हुई आग की भाँति वह महा अनिष्ट करैगी। अभी पचास वर्ष भी नहीं हुए कि हमारे अभाग से भारत में ईसाईपन की आग पूरे जोर-शोर के धधक रही थी।

माइकेल मधुसूदन दत्त, कृष्णमोहन बनुरजी, नीलकंठ इत्यादि विद्यावानों का स्मरण करके हमको आज तक खेद होता है कि हाय यह लोग यदि हमारे समाज से बहिष्कृत न हो जाते तौ कितना उपकार न करते। पर हाय कुछ समय ही ऐसा दुस्समय था कि लोग पढ़ने लिखने के साथ ही पादरियों के जाज्वल्यमान अग्निसमूह में स्वाहा हो जाते थे। परमेश्वर ने बड़ी दया की कि स्वामी दयानंद, बाबू केशवचंद्र, मुंशी कन्हैयालाल आदि पुरुषरत्नों को उत्पन्न कर दिया, जिनके बचनरूपी बरुणास्त्रों से क्रिस्तानी की भयानक अग्नि बहुत कुछ शांत हो गई।

अब अधिकतः यह संभव नहीं है कि पढ़े-लिखे, प्रतिष्ठित, कुलीन``भेड़ों में शामिल हो के दुर्दैव साहब के दस्तरख़ान में धर दिए जायँ। हम एकबार अनेक विद्वानों के मतानुकूल लिख चुके हैं कि हजरत ईसा एक पूजनीय पुरुष थे और उनके उपदेश भी मानव जाति के महाहितकारक हैं। पर ईसाई हो जाना या यों कहो कि पादरियों के मायाजाल में फँस जाना ऐसा अनिष्टकारक है कि मनुष्य देशहित और जाति-हित से सर्वथा बंचित हो जाता है।

हमारे ईसाई भाई जिस जाति और जिस देश के भए-उपजे हैं, उससे न उन्हें कुछ ममता रहती है न प्रेम, फिर उनसे क्या आशा की जाय। इस बात को हम्हीं नहीं समझते, ईश्वर के अनुग्रह से सहस्रों लोग समझने लगे हैं। यह बात अब समझदारों की समझ में आना दुर्लभ है कि महात्मा मसीह ने मुक्ति का ठेका ले लिया है। विश्वास की महिमा से तो ईसा क्या हम चौराहे की ईंट पूजने वालों की भी प्रतिष्ठा करते हैं, पर मजबाद में हिंदुओं से अब पादरी साहबों का जीतना डबल रोटी का गुस्सा नहीं है! ऊपर से पादरी लोग हमारे ईसाई भाइयों का पक्ष नहीं लेते। बहुत से मसीही दाने 2 को मुहताज हैं। इससे और भी सर्वसाधारण की अश्रद्धा हो गयी है। पर छोटे 2 कोमल प्रकृति वाले नासमझ बालकों

को बचाना हम हिंदू मुसलमानों का परम कर्तव्य है। उन्हें, परमेश्वर न करे, पादरियों की चिकनी चुपड़ी बातें असर कर जायँ तो हमारी नई पौध निकम्मी हो जायगी।

यही दूरदर्शिता सोच के अनेक सज्जन मिशन स्कूल में अपने लड़कों को नहीं पढ़ाते। क्योंकि वहाँ और पुस्तकों के साथ इंजील भी अवश्य पढ़नी पड़ती है। हम इंजील को बुरा कदापि नहीं कहते, वुह भी एक धर्म का ग्रंथ है, पर उसके पढ़ने बाले यदि अन्य धर्म के द्वेषी न हों ! पर हम खेद के साथ प्रकाश करते हैं, कहीं 2 मिशन स्कूलों में चंदन लगाना और गंगा नहाना निंदनीय गिना जाता है।

अभी हाल ही में मद्रास के एक मिशनरी साहब ने अपना जूता दिखा के बिचारे आर्य बालकों से कहा था, 'यह तुम्हारे देवता हैं'। भला ऐसे 2 अनर्थ देख सुन के किसको मिशन स्कूलों की शिक्षा से घृणा न होगी ? महा अभागी वुह नगर है, जहाँ मिशन स्कूलों के सिवा दूसरा स्कूल न हो। हम अपने कानपुर की इस विषय में प्रशंसा करते हैं कि यहाँ बालकों की शिक्षा मिशन ही पर निर्भर नहीं है ! लोग गवर्नमेंट स्कूल और जुबली स्कूल के आछत अपने सन्तान को हिंदू धर्म का अश्रद्धालु बनावें तो दूसरी बात है, पर सुभीता परमेश्वर ने दे रखा है कि धर्म में बाधा न डालो और राजभाषा भी पढ़ा लो।

हमारी समझ में हर शहर के लोगों को चाहिए कि अपने 2 यहाँ कम से कम एक पाठशाला ऐसी अवश्य स्थापित करें जिसमें केवल हिंदू मुसलमानों का अधिकार रहे और अन्य शिक्षा के साथ धर्म तथा नीति भी सिखाई जाय। इससे क्रेशचानिटी की प्रत्यक्ष आग का रहा सहा प्राबल्य भी जाता रहेगा। पर एक दबी हुई आग ऐसी पड़ी है जिस पर कोई ध्यान नहीं देता। अभी उसका बुझाना सहज है, नहीं पीछे बड़ी भारी हानि करेगी ! स्कूलों में बहुधा स्याने लड़के भेजे जाते हैं और वहाँ की आग भी धधकती हुई है। इससे इतना डर नहीं है पर महाजनी पढ़ाने वाले भइया जी के यहाँ सदा बहुत ही छोटे लड़के पढ़ते हैं, वहाँ ईसाइयों का घुसना किसी तरह ठीक नहीं।

लड़के तो लड़के रहे, बहुधा गुरूजी स्वयं नहीं जानते कि इन महापुरुषों से क्या हानि संभव है ! ईसाई साहब वहाँ बिन रोक टोक कह सकते हैं कि "लड़का तो लड़का मास्टरन के उड़ाई ला"। वहाँ ईसा को भेड़ों ने यह लीला फैला रक्खी है कि प्रायः सब महाजनी शिक्षकों को दो चार रुपया महीना देते हैं, और बहुत सी मीठी 2 बातों में उन्हें फुसला के प्रति सप्ताह में दो या एक दिन हिंदू बालकों को पादरिहाई शिक्षा देने जाया करते हैं। कभी 2 छोटी 2 तसवीरें, कभी किताबें, कभी मिठाई आदि बाँटते हैं, जिससे नादान बच्चे और भी मोहित होके लालच के मारे और भी ध्यान देके उनकी बातें सीखें और अपनी रीति नीति, धर्म कर्म, देव पित्रादि को तुच्छ समझने लगें।

मैंने स्वयं देखा है कि जिन बालकों के माता पितादिक नीच जाति के हिंदू को छूके न्हाते हैं उन बालकों को गोद में बिठाके करंटे साहब ने मुँह चूमा ! लड़के विचारे को तो यह तालीम दी गई है कि सब एक माँ-बाप से पैदा हुए हैं, जात पात मानना पाप है। और तालीम भी किसी यूरोपवासी ने नहीं दी कि वुह हमारे आचार से अज्ञात हो, बरंच उन साहब ने शिक्षा दी है कि जिनके माता पिता, भंगी चमारादि नीच थे ! भला शिक्षा देने वाला यह और शिक्षा यह कि—"माला लक्कड़, ठाकुर पत्थर, गंगा निरबक पानी। रामकृष्ण सब झूठे भैया चारों वेद कहानी।" तो बतलाइए इसका असर हमारे दुधमुँहे बच्चों के जी पर कैसा 2 अनर्थ न मचावैगा ! लड़कपन की सीखी बातों का संस्कार जन्म भर बना रहता है, यह बात सब जानते हैं। क्या यह उपदेश, यह ईसा के गीत, यह ईसाइयों का मिथ्या प्रेम, हमारी नई पौध के हक में छिपी हुई आग नहीं है ?

हमारी समझ में सब बातों से पहिले इसके बुझाने का यत्न होना चाहिए । हम अपने देश हितैषी भाइयों से आशा करते हैं कि जहाँ मेलों और बाजारों में ईसाइयों का मुकाबिला करते फिरते हैं वैसे महाजनी पढ़ाने वालों को भी समझावें कि दो चार रुपए के लालच में वह अनर्थ न करें । कभी 2 लड़कों के सामने भी करंटे साहबों को शास्त्रार्थ में निरुत्तर करते रहें जिसमें लड़कों को उनकी पोल पाल मालूम होती रहे ।

लड़कों के मातापितादि को भी समझावें कि जहाँ चार आने, आठ आने महीने देते हैं, वहाँ दो चार पैसे भैया जी को और दे दिया करें, जिससे उन्हें क्रिस्तानी धन का घाटा भी न पड़े और प्रसन्नतापूर्वक उन्हें अपने यहाँ न आने दें । यदि इतने पर भी उन्हें लोभदेव न छोड़ें तो लड़कों को वहाँ भेजना बंद कर दें ! बस यही उपाय है जिससे यह अनर्थकारिणी दबी हुई आग बुझ जायगी ! नहीं तो याद रहे कि खजूर की ईंटें ऊपर 2 नहीं जातीं ।

एक दिन वह अवश्य आवैगा कि जिस नई पौध के लिए हम अनेक पत्र, अनेक पुस्तकें, अनेक सभा, अनेक लेक्चर, अनेक प्रीच करते हैं, जिस नई पौध से हमें बड़ी 2 आशा है, वह नई पौध इस दबी हुई आग में झुलस के रह जायगी और हमारा इस काल का सारा परिश्रिम व्यर्थ होगा ! स्वर्ग में भी हमारी आत्मा पछतायेगी कि "समय चूक फिर का पछिताने ।"

खं० 4, सं० 12 (15 जुलाई, ह० सं० 4)

कनौज में तीन दिन

गत मास में श्री स्वामी भास्करानंद जी के साथ तीन दिन के लिए कनौज जाना पड़ा था । यद्यपि कलकत्ता, बंबई, मद्रास सब मँझाए बैठे हैं, पर यह नगर हमारा मुख्य नगर है । हम किसी दशा में, कहीं क्यों न हों पर कनौजिया हैं । हम कान्यकुब्ज हैं तो फिर कान्यकुब्जपुर से ममता क्यों न रखें । यदि जात्याभिमान कोई वस्तु है तो हम यह कहने से नहीं रुक सकते कि कनौज हमारा है हम कनौज के । किसी समय हमारे पूर्वज विश्वामित्र बाबा, कश्यप शांडिल्य, भरद्वाजादि बाबा जगत के शिरोमणि थे । वे इसी कान्यकुब्ज नगर रूपा खानि के रत्न थे ।

हम इन दिनों दुनिया के कूरा-करकट हैं तो भी इसी घूरे के करकट हैं जिसका नाम कनौज है । यद्यपि अदृष्ट के पवन ने हमें इधर-उधर फेंक दिया है पर हमारे दिमाग से कनौज की बू कहाँ जाती है । इन भारत के गिरे दिनों में भी कनौज का इत्र (अतर) दूर 2 तक सराहा जाता है, फिर कनौज की बू हमारे दिमाग से कैसे दूर हो । बरसों पीछे जो कोई अपने नगर में आता है उसको हर्ष अवश्य होता है एवं अपने आत्मीय को दुर्दशाग्रस्त देख के शोक भी होता है । फिर कनौज जात्रा में हमको हर्ष शोक क्यों न होता । हम आशा करते हैं कि हमारे पाठकगण इस जात्रा का बृतांत पढ़ के मनोरंजन के

अतिरिक्त कई एक उपदेश भी ग्रहण करेंगे ।

हमारे प्रिय मित्र हरिशंकर बर्म्मा एवं श्यामसुंदर बर्म्मा तथा कबिबर गदाधर के कारण रेल के तीन घंटे तो ऐसे आनंद से बीते कि मीरासराय स्टेशन पर उतरने को जी न चाहता था । वह मार्ग में हरियाली का दृश्य, जल की वृष्टि, कबिता की छटा, यारों का जमघटा, हम तो हमीं हैं अन्य जात्रियों को भी मस्त कर रहा था । रेल से उतरे तो इक्कों पर चढ़े । डाक्टर श्री दुबरीप्रसाद जी से भेंट कर आगे बढ़े । कुछ ही दूर चल के कनौज के खंडहर शुरू हुए जिन्हें देख के अनुराग ओ बिराग ने हृदयांगण में द्वन्द्व युद्ध मचाया । कभी तरंग आती थी । धन्य यह अवसर कि पुरखों की पुन्य भूमि का दर्शन हो रहा है । कभी यह छंद स्मरण होने से कि 'जलता है आज क्या खसो खाशाक में मिला, वुह गुल जो एक उम्र चमन का चिराग था । गुजरूँ हूँ जिस खराषे में कहते हैं वाँके लोग । है चंद दिन की बात यह घर था यह बाग था ।' संसार से जी हट जाता था ।

जब मुख्य नगर में आए तो धर्म भगवान ने कहा, तीर्थ में सवारी पर न चलो । प्रेमदेव ने कहा, यह तो महातीर्थ है । यहाँ बे अदबी 2 बस उतरे । उस पुन्य भूमि की धूलि मस्तक पर धारण कर प्रसन्नतापूर्वक मित्रों से संलाप करते फर्शी नामक मुहल्ले में आ पहुँचे जहाँ ठहरना था । प्रियंवर स्यामसुंदर का स्थान खाने-पीने उठने-बैठने सोने-जागने का सब दिव्य सामान । यहाँ के सुख का क्या कहना । ऊपर से श्री मास्टर देबीदीन जी आर्य की धर्मनिष्ठता एवं दृढ़चित्तता, डाक्टर दुबरीप्रसाद जी की उद्योगशीलता, श्रीयुत बाबू विश्वेश्वरनाथ की सहृदयता, श्रीयुत लाला काशीप्रसाद जी का प्रेम देख के अकथनीय आनंद प्राप्त हुवा । इस बात से और भी संतोष हुवा कि यहाँ अभी तक पुरानी मर्यादा बनी है । पुरुष मिलनसार हैं, स्त्रियाँ लज्जावती हैं । यह और भी सौभाग्य का विषय है कि मुसलमान सज्जन सुलह पसंद एवं हिंदुओं के दुख-सुख में साथी हैं । दूसरे दिन गोरक्षा पर प्रताप मिश्र औ स्वामी जी के व्याख्यान शुरू हुए ।

व्याख्यान का अधिक हाल लिखने की आवश्यकता नहीं है, केवल इतना हम कहेंगे कि स्वामीजी महाराज की भाषण शक्ति अवश्य ऐसी ही श्लाघ्य है कि एक प्रकार की जादू कहना चाहिए । इससे अधिक प्रत्यक्ष प्रमाण और क्या होगा कि श्रीमुख के उपदेशों से समझदार बधिकों को भी दया उत्पन्न हो जाती है । हसनू कसाई ने गोबध छोड़ दिया ! सच पूछो तो उन हिंदुओं के मुँह पर थूक दिया जो ऊपर से धर्मात्मा रूप कहते हैं पर भीतर 2 बूचरों का लेन देन करते हैं, गोरक्षा के लिए पहिले तो शरमाशरमी चंदा लिख देते हैं पीछे से बहाने सोचा करते हैं जिसमें देना न पड़े । धिक ! ऐसे हिंदुओं की अपेक्षा हसनू प्रशंसनीय है जिन्हें स्वामी जी के बचनों का असर हुआ, पर इन नीचों को बड़े 2 रिषियों तथा निज मत के आचार्यों के वाक्य असर नहीं करते ।

सच है "फूलै फलै न वेंत जदापि सुधा बरषें जलद । मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिले बिरंचि सम ।' कनौज में एक बात देख के और भी प्रसन्नता हुई कि हिंदी कविता के समझने वाले और उसका आनंद लेनेवाले कानपुर लखनौ आदि बड़े 2 नगरों से अधिक हैं । 'ब्राह्मण' संपादक के एक दिन "बाँ बाँ करि तृण दाबि दाँत सौं दुखित पुकारत गाई है" इस लावनी को तनक शोक मुद्रा में गाया था, इस पर सैकड़ों की आँखें डबडबा आई थीं । बहुतों के आँसू ही निकल पड़े थे । यह बात हमारे नगर में कम है क्योंकि लोग हिंदी के रसिक कम हैं ।

पंडितवर पुत्तूलाल मिश्र और श्री हरिशंकर शास्त्री भी कान्यकुब्जपुर के सूर्य-चंद्रमा कहने योग्य हैं,

उच्चकुल और श्रेष्ठ विद्या वाले लोग हर कहीं होंगे, पर धर्म्म कार्य में कटिबद्ध और सभ्यता सौजन्यादि गुणविशिष्ट बहुत थोड़े दृष्टि पड़ते हैं । 'विद्या ददाति विनयं' का ठीक नमूना हमें इन्हीं दोनों व्यक्तियों में देख पड़ा । हम आशा करते हैं कि यह दोनों महात्मा कनौज गोशाला तथा गोरक्षणी सभा के कामों से सब लोगों को सदैव प्रोत्साहित रखेंगे । हमने सुना है कि कई लोग कचियाते हैं । यदि ईश्वर न करे कहीं ऐसा ही हुआ हो हमें इन्हीं मिश्र जी से और त्रिपाठी जी से अधिक उलहना होगा क्योंकि यह भी कनौजिया हैं और खास कनौज में कोई सदनुष्ठान हो हुवा के रह जाय तो अचम्भा है और उनके लिए अधिक लज्जा है जिनके नाम से कनौज का संबंध हो ।

(अपूर्ण)

खं० 5, सं० 1,2 (15 अगस्त, सितंबर ह० सं० 4)

काम

'हिंदीप्रदीप' के संपादक विद्या, बुद्धि, वय और स्नेह आदि की रीति से हमसे ऐसे श्रेष्ठ हैं कि सनातन शिष्टाचार (श्रेष्ठ रिषियों का आचार) के अनुसार हम उन्हें अहंकारपूर्वक गुरु वा पिता समझ सकते हैं । उन्होंने एक बार मन के वर्णन में अपने कलम की कारीगरी दिखाई थी, और हमारे आर्य्य कवियों ने काम का नाम मनोभव अर्थात् मन का पुत्र लिखा है, अतः हम अपने निज अधिकार (रुतबा दर्जा) के अनुसार काम का बखान करते हैं । काम का अर्थ चाहे स्त्री संबंध समझिये, चाहे क्रिया मानिए, चाहे कामना या इच्छा, चाहे फारसी में गरज (जैसे खुदकाम का अर्थ है खुदगरज), सब की उत्पत्ति मन से है और मन का ईश्वर के साथ बहुत गहिरा संबंध है । इसी मूल पर भगवान कृष्णचंद्र के पुत्र प्रद्युम्न को कामदेव का अवतार कहते हैं और शास्त्रों में लिखा है कि ईश्वर से मन की उत्पत्ति है, और मन से काम की उत्पत्ति है, एवं सब कोई जानता है कि ईश्वर के रूप, गुण, स्वभाव सब अनंत हैं कि उनका वर्णन असंभव है ।

फिर भला ईश्वर के नाती काम का वर्णन क्या सहज होगा ? यदि अनंत न कहिये तौ भी महा दुष्कथ्य तो हई है । नहीं तो कहिये, देखें कहाँ तक कहोगे । जितनी वस्तु भूगोल खगोल में देख पड़ती है । सब ईश्वर अथवा मनुष्य के काम हैं । जितनी बातें आप कहते, सुनते, विचारते हैं, सब काम है । करना, कहना, सुनना, बिचारना स्वयं काम हैं । काम से खाली कहीं कोई नहीं । जो मनुष्य, जो जीव, जो पदार्थ आपके समझ में निकम्मे हैं, वे भी, यदि मान ही लीजिये कि सचमुच निकम्मे हैं, तौ भी, निरर्थक पड़े ही रहते हैं, पृथ्वी का थोड़ा-सा भाग ही रोके हैं । क्या पड़ा रहना और रोकना काम नहीं हैं ? फिर काम से शून्य कौन है, क्या है ? सबसे अच्छी बातें, जिनको रिषियों ने मनुष्य जन्म रूपी वृक्ष का फल माना है, जिनके लिए बड़े 2 लोग ईश्वर से याचना करते हैं, वे अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष हैं । और सबसे बुरी सर्वथा त्याज्य बातें भी काम, क्रोध, लोभ, मोह हैं ।

इसमें भी विचार के देखो, अर्थसंचय, अर्थभोग, धर्म्माधर्म्म, कल्पमोक्षसाधन, मोक्षप्राप्ति, क्रोध करना, मोह करना, सब काम ही के भेद हैं, एक प्रकार के काम ही है । और तो और व्याकरण की रीति से काम अर्थात् क्रिया (Verb) के बिना कोई वाक्य ही नहीं बन सकता । फिर भला काम के बिना 'क्या बने बात जहाँ बात बनाए न बने' । जब कि जन्म लेना, खाना पीना, सोना जागना, चलना फिरना, अंत में मर जाना, फिर शरीर का कृमिवत् भस्म होना, जीवन का नर्क स्वर्गादि भोगना, सब काम ही हैं तो फिर कैसे कहें कि दुनिया में किसी भाँति, कभी, किसी को, काम से छुटकारा है ।

हम दुनियादार हैं, हमारी बातें जाने दो, महात्मा मुनि लोग दुनिया के सब झगड़े छोड़ के, बन में जा बैठते हैं, उनका दुनिया छोड़ना और बैठ रहना भी काम ही है । खैर, हठतः कह दीजिए कि नहीं है, भगवद्भजन, धर्मसाधन, योगाभ्यास यह सब क्या है ? बहुतेरे झूठमूठ कह देते हैं, काम से छुट्टी पावैं तो ऐसा करैं । वाह ! भला काम से किसे छुट्टी है ? हमारे शरीर की उपज काम ही से है । शरीर स्वयं काम का विकार है । फिर भला कहीं अँगूठी सुवर्ण से छुट्टी पा सकती है ? हम तो हमीं हैं, ईश्वर स्वयं सर्वशक्तिमान अर्थात् सब काम कर सकने वाला है । हम लोग प्रेम सिद्धांती उसे 'कोटि काम कमनीय' मानते हैं तो हमारे शुष्कवादी वेदांती भाई भी उसे पूर्णकाम अथवा निष्काम कहते हैं ।

वाह रे काम ! सर्वथा निर्लेप, निरंजन, नारायण को भी न छोड़ा ! हमारी समझ में नहीं आता कि शिव जी ने कामदेव का नाश क्यों किया ! संसार की उत्पत्ति, पालन, प्रलय, भक्तों की मनोर्थ पूर्ति, पार्वती जी का विवाह, गणेश जी का जन्म, सब बात तो बनी ही हैं, फिर भोला बाबा की इस लीला में क्या गुप्त भेद है ! काम के भेद भी परमात्मा के भेद से कुछ ही कम हैं । भला काम, बुरा काम, मजेदार काम, भद्दा काम, मोटा काम इत्यादि काम का स्वरूप कोई नहीं कह सकता कि कैसा है । पर काम सब जानते हैं । काम बनता है, काम बिगड़ता है, काम चलता है, काम अटकता है, काम पड़ता है, काम आता है, काम होता है, काम लगता है, काम छुटता है, काम बढ़ता है, काम निकलता है, काम फैलता है, काम निपटता है, काम जमता है, काम उखड़ता है इत्यादि, कहाँ तक कहें, एक न एक काम सभी को जगतकरता ने सौंप रखा है ।

किसी का काम खुशामद, किसी का स्वार्थपरता, किसी का लोकनिंदा, किसी का परधनहरण, किसी का जातिद्वेश, किसी का कपट, किसी का बेशरमी, किसी का डरपोकनापन, किसी का शुकलोचनत्व (तोताचश्मी), किसी का लहू लगा के शहीदों में मिलना । अस्तु, ऐसे गंदे काम वालों का नाम लेके कौन मुँह गंदा करे । कौन खरी कह के बैरी बने । इससे हमें प्रेमाशक्ति, ईश्वरभक्ति, काव्यरसिकता, सरलता, सहृदयता, स्वधर्माभिमान, देशममता, जातिहितैषिता, निजभाषाभावुकता, जगतमित्रतादि कामों में तत्पर रहने वालों की स्तुति प्रिय हैं, जिसमें अपना मन शांत हो, वाणी पवित्र हो तथा दूसरों को उपदेश हो, सत्कर्म में रुचि हो सिद्धांत यह कि 'कोऊ काहू में मगन कोऊ काहू में मगन' ।

जड़ चेतन, पशु पक्षी, कीट पतंग, सभी काम में संलग्न हैं तो हम भी संसार से बाहर नहीं हैं । हम भी नित नयी बातें बना के तुम्हें रिझाने का काम मुड़िआए हैं । तुम मानो न मानो, कुछ हमारे कहे पर चलो न चलो, तुम्हें यखतियार है । हम अपने काम से न चूकेंगे, तुम्हारी तुम जानो तुम्हारा काम जाने, पर इतना याद रहे कि अपना काम देखे रहोगे तो सब तरह अच्छा है, नहीं तो निकम्मे कहलाओगे ।

खं० 5, सं० 2 (15 सितंबर ह० सं० 4)

प्रतापचरित्र

इस नाम से निश्चय है कि पाठकगण समझ जायँगे कि प्रतापनारायण मिश्र का जीवन चरित्र है पर साथ ही यह भी हास्य करेंगे कि जन्म भर में स्वांग लाए तौ कोढ़ी का। प्रताप मिश्र न कोई विद्वान, न धनवान, न बलवान, उसके तुच्छ जीवनवृतांत से कौन बड़ी मनोरंजना व कौन बड़ा उपदेश निकलेगा। हाँ, यह सच है। पर यह भी बुद्धिमानों को समझना चाहिए कि परमेश्वर का कोई काम व्यर्थ नहीं है। जिन पदार्थों को साधारण दृटि से लोग देखते हैं वे भी कभी 2 ऐसे आश्चर्यमय उपकारपूर्ण जँचते हैं कि बड़े 2 बुद्धिमानों की बुद्धि चमत्कृत हो रहती है। एक घास का तिनका हाथ में लीजिए और उसकी भूत एवं वर्तमान दशा का विचार कर चलिए तो जो 2 बातें उस तुच्छ तिनके पर बीती हैं उनका ठीक 2 वृतांत तो आप जान ही नहीं सकते, पर तौ भी इतना अवश्य सोच सकते हैं कि एक दिन उसकी हरीतिमा (सब्जी) किसी मैदान की शोभा का कारण रही होगी।

कितने बड़े 2 रूप-गुण-बुद्धि-विद्यादि-विशिष्ट उसके देखने को आते होंगे, कितने ही छुद्र कीटों एवं महान् व्यक्तियों ने उस पर बिहार किया होगा, कितने ही क्षुधित पशु उसे खा जाने को लालायित रहे होंगे, अथवा उसे देख के जाने कौन डर गया होगा कि इसे शीघ्र खोदो नहीं तो वर्षा होने पर घर कमजोर कर देगा; सुख से बैठना कठिन पड़ेगा। इसके अतिरिक्त न जाने कैसी मंद प्रखर वायु कैसी अपघोर वृष्टि, कैसी कोमल कठोर चरण प्रहार का सामना करता 2 आज इस दशा को पहुँचा है। कल जाने किसी आँखों में खटके, न जाने किस ठौर के जल व पवन में नाचे, न जाने किस अग्नि में जल के भस्म हो इत्यादि।

जब तुच्छ वस्तुओं का चरित्र ऐस-ऐसे भारी विचार उत्पन्न करता है तो यह तो एक मनुष्य पर बीती हुई बातें हैं। सारग्राही लोग इन बातों से सैकड़ों भली-बुरी बातें निकाल सैकड़ों लोगों को चतुर बना सकते हैं। सच पूछो तो विद्या, जिसके कारण बड़े 2 विद्वान जन्म भर दूसरे कामों से रहित होके केवल विचार करने व ग्रंथ लिखने में संलग्न रहते हैं, जिसके कारण मर जाने पर भी हजारों वर्ष तक हजारों बुद्धिमान उनकी महिमा गान करते हैं, उस विद्या का मूल बालकों के और पागलों के विचार हैं। हरी 2 डाल में लाल 2 पीले 2 फूल कहाँ से आये, पीला और नीला मिल के हरा क्यों बन जाता है, इत्यादि प्रश्नों का ठीक 2 उत्तर सोच के निकालना ही पदार्थ विद्या है।

फिर मनुष्य कहाँ जन्मा, क्या 2 किया, क्या देखा, किस 2 से कैसा 2 बर्ताव रखा, इन बातों का वर्णन क्या लाभ शून्य होगा ? विद्या जानकारी का नाम है, फिर क्या मनुष्य का वृतांत जानना विद्या नहीं है ? हमारी समझ में तो जितने मनुष्य हैं सबका जीवन लेखनीबद्ध होना चाहिए। इसका बड़ा लाभ एक यही होगा कि उसकी भलाई को ग्रहण करके, बुराइयों से बच के दूसरे सैकड़ों लोग अपना भला कर सकते हैं। हमारे देश में यह लिखने की चाल नहीं है इससे बड़ी हानि होती है। मैं उनका बड़ा गुण मानूँगा जो अपना वृतांत लिख के मेरा साथ देंगे, जिसके अनेक मधुर फल लेखकों को यदि न भी मिलें तौ भी बहुत दिनों तक बहुत-से लोग कुछ लाभ उठावेंगे।

देशभक्तों के लिए यही बात क्या थोड़ी है। इसमें कोई गुण व दोष घटाने-बढ़ाने का व कोई बात छिपाने का विचार नहीं है। सच्चा 2 हाल लिखूँगा। इससे पाठक महोदय यह न समझें कि किसी पर

आक्षेप व किसी की प्रशंसादि करूँगा । यदि किसी स्थान पर नीरसता आ जाय तौ भी, आशा है क्षमा कीजिएगा, क्योंकि यह कोई प्रस्ताव नहीं है कि लेखशक्ति दिखाऊँ । यह जीवनचरित्र है ।

अपना जीवनचरित्र लिखने के पहिले अपने पूर्व पुरुषों का परिचय देना योग्य समझ के यह बात सच्चे अहंकार से लिखना ठीक है कि हमारे आदि पुरुष भगवान विश्वामित्र बाबा हैं ! जिनके पिता गाधि महाराज और पितामह कुशिक महाराजादि कान्यकुब्ज देश के राजा थे । पर हमारे बाबा ने राज्य का झगड़ा छोड़छाड़ के निज तपोबल से महर्षि की पदवी ग्रहण की और यहाँ तक प्रतिष्ठा पाई कि सप्त महर्षियों में चौथे रिषि हुए । कश्यप, अत्रि, भारद्वाज, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि, वशिष्ठ यह सप्तर्षि हैं ।

राज्य छोड़ने पर भी राजसी ढंग नहीं छोड़ा ! यदि सातों रिषियों की मूर्ति बनाई जाय तो क्या अच्छा दृश्य होगा कि तीन रिषि इस पार्श्व में तीन उस पार्श्व में होंगे और बाबा मध्य में ! निज तपोबल से उन्होंने स्वर्ग में बहुत से तारागण एवं पृथिवी पर बहुत से अन्न और पशु भी उत्पन्न किए थे ! यह बात अन्य मतावलंबी अथच आजकल के अंग्रेजीबाज न मानें तो हमारी कोई हानि नहीं है क्योंकि सभी के मतप्रवर्तक और वंशचालकों के चरित्रों में आश्चर्य कर्म पाए जाते हैं, फिर हमीं अपने बाबा की प्रशंसा में यह बातें क्यों न मानें ।

ईश्वर सर्वशक्तिमान है, वह अपने निज के लोगों को चाहे जैसी सामर्थ दे सकता है । भगवान कृष्णचंद्र का पर्वत उठाना, महात्मा मसीह का मुरदे जिलाना, हजरत मुहम्मद का चन्द्रमा काटना इत्यादि यदि सच हैं तो हमारे बाबा का थोड़ी-सी सृष्टि बनाना भी सत्य है । यदि उन बातों का गुप्तार्थ कुछ और है तो इस बात का भी गुप्तार्थ यह है कि जगत के अनेक पदार्थों का रूप, गुण, स्वभाव आदि पहिले 2 उन्होंने सबको बतलाया था इसी से उस काल के लोग उन पदार्थों को विश्वामित्रीय सृष्टि अर्थात् विश्वामित्र की खोजी और बताई हुई सृष्टि कहने लगे ! यही बात क्या कम है ! भगवान रामचंद्रजी को हमारे बाबा ने धनुर्वेद और योगशास्त्र भी सिखाया था । यदि आजकल हमारे भाई आकिन, माँझगाँव आदि के मिश्र इस महत्त्व पर कुछ भी ध्यान दें, तनिक भी विचार करें कि हम किनके वंशज हैं और अब कैसे हो रहे हैं तो क्या ही सौभाग्य है ।

इनके उपरांत कात्यायन और किल के सिवा और किसी महर्षि का नाम हमें नहीं मिलता जिन्हें हम अपने पुरुखों में बतलावें । हाँ परमनाथ (या पवननाथ) बाबा का अनुमान होता है कि तीन ही चार सौ वर्ष के लगभग हो गए हैं । वह बड़े यशस्वी थे । उनके साथ हमारे कुल का बहुत घनिष्ठ संबंध है ! कान्यकुब्जपुर (कन्नौज) छोड़ के विजयग्राम (बैजेगाँव) में कौन बाबा, किस समय, क्यों आ बसे थे इसका पता नहीं मिलता क्योंकि हमारे यहाँ इतिहास एवं जीवनचरित्र लिखने की चाल बहुत दिन से नहीं रही । यदि किसी भाई के यहाँ शृंखलाबद्ध नामावली न हो तो उसका मिलना कठिन है ।

अतः हम अपने अगले पुरुखों के साथ इससे अधिक अपना विवरण नहीं लिख सकते कि विश्वामित्र बाबा के वंश में कात्यायन बाबा के गोत्र में परमनाथ बाबा के असामी (वंशज) हैं । उनके जिले में पूर्व की ओर पाँच कोस पर बैजेगाँव नामक स्थान है, वहाँ के हम मिश्र हैं । यद्यपि अब बैजेगाँव एक साधारण-सा गाँव है पर अनुमान होता है कि किसी समय वह बड़ा दर्शनीय स्थान, विद्वानों (मिश्रों) का गाँव, होगा । उसके निकट वृहस्थल (बेथर) और उससे कुछ ही दूर पर विग्रहपुर नामक नामों में प्रकट होता है कि इस प्रांत में किसी बीर पुरुष ने अपना पराक्रम दिखाया होगा पर यह बातें अभी तो अनुमान

मात्र हैं, कोई पुष्ट प्रमाण सहित लिखें तो बड़ा उपकार होगा !

हमारी कुलदेवी गार्गी, कुलदेवता बूढ़े बाबू, कुलपुरोहित सत्य शुक्ल, यजुर्वेद, धनुरउपवेद, शिव इष्ट देवता हैं। हमारे पिता श्री संकटाप्रसाद मिश्र, पितामह श्री रामदयाल मिश्र, प्रपितामह सेवकनाथ मिश्र, बृद्धपितामह श्री सबसुख मिश्र हैं। इनके आगे कौन महात्मा थे यह नहीं मालूम। हम समझते हैं कि बहुत ही कम लोग होंगे जो बृद्धपितामह के पिता का नाम जानते होंगे फिर हमारा ही क्या दोष है जो न लिख सके ! हमारे पितामह रामदयाल बाबा के एक भाई शिवप्रसाद बाबा थे, वुह दूसरे घर में रहते थे। उनके पुत्र जयगोपाल काका और रामसहाय काका हमारे पितृचरण से बड़े थे और हित भी बहुत करते थे। जयगोपाल काका के पुत्र रामकृष्ण दादा भी पिताजी के हितैषी और उदार पुरुष थे। उनके दो पुत्र शिवरतन (यह भी व्यवहारकुशल और पिताजी के भक्त थे) दूसरे रामभरोसे हैं जिनसे भाईचारा मात्र है। रामसहाय काका के केवल एक कन्या (अनंतदेवी) थी वह विधवा स्वर्गवासिनी हुई अतः उनका वंश उन्हीं से समाप्त हुआ। जयगोपाल काका के दूसरी स्त्री से गुरदयाल, शिवदयाल, गौरीशंकर। उनमें से शिवदयाल दादा का वंश नहीं है। उक्त दोनों भाइयों का वंश है, पर अधिक स्नेह संबंध न होने के कारण उनकी कथा लिखना कागज रँगना मात्र है।

अतः हम अपने निज बाबा रामदयाल मिश्र से आरंभ करते हैं। इनके दर्शन हमने नहीं पाए क्योंकि हमारे पितृचरण केवल नौ वर्ष के थे जब उन्होंने परलोकजात्रा की थी। सुनते हैं कि वुह कवि थे पर काव्य देखने में नहीं आया। भारत के अभाग्य से नगरों में तो काव्यरसिक और कवियों के सहायक मिलते ही नहीं, जो अपना रुपया उगा के उत्तमोत्तम कविता का प्रकाश किया करते हैं। उन्हें तो अभागे भारतीय हतोत्साह कर ही देते हैं।

यदि एक साधारण गाँव में एक साधारण गृहस्थ का परिश्रम लुप्त हो गया तो आश्चर्य ही क्या है। भगवान तुलसीदास, सूरदासादि को हम कवियों में नहीं गिनते। वे अवतार थे कि उन्होंने जमीन की छाती पर लात मार के अपनी शक्ति दिखाई है, नहीं तो कवि, पंडित, प्रेमी, देशभक्त यह तो दुनिया से न्यारे रहते हैं, इन्हें दुनियादार क्यों पूछने लगे ? हमें शोच है कि अपने बाबा की कविता नहीं प्राप्त कर सकते क्योंकि पिताजी नौ वर्ष की आयु में पितृहीन हुए, 14 वर्ष की आयु में उन्हें गाँव और घर छोड़ के कुटुंब पालनार्थ परदेश आना पड़ा। ऐसे कुसमय में कविता-संग्रह करना कैसे संभव था ? इससे हमें अपने पिता ही का ठीक-ठीक चरित्र थोड़ा-सा लिखने की सामर्थ्य है।

हमारे पितृचरण के दो बड़े भाई और थे। 1. द्वारिकाप्रसाद काका, यह निस्संतान स्वर्ग गए, 2. यदुनंदन काका, इनका विवाह मदारपुर के सामवेदियों के कुल में हुवा था। इस नगर में परम प्रतिष्ठित श्री प्रयागनारायण तिवारी स्वर्गवासी हमारे दादा थे क्योंकि हमारी चाची उनके चाचा श्री द्वारिकाप्रसाद त्रिपाठी की कन्या थीं। उनके एक पुत्र अम्बिकाप्रसाद दादा थे, वुह हमारे पितृचरण के बड़े भक्त थे पर चौदह वर्ष की अवस्था में परलोक सिधारे। हमारी दोनों चाची भी पिताजी से बड़ी प्रीति करती थीं पर एक चाची का हमें दर्शन नहीं हुवा। दूसरी चाची सदा पुत्र की भाँति हमारे जन्मदाता को जानती थीं। पर हमारे अभाग्य से हम तीन वर्ष के थे तभी परमधाम जात्रा कर गईं। यह श्री रामानुजस्वामी के सम्प्रदाय की थीं क्योंकि इनके पितृकुल का यही धर्म था।

इसी से हमारे घर में बहुत-सी रीतें हमारी चाची के पितृकुल की प्रचारित हुईं। मेरा नाम भी उसी ढंग का हुवा ! हमारे पिता नौ वर्ष के थे तब निज पिता से वियुक्त हुए थे। फिर थोड़े ही काल में उन

की माता भी बैकुंठ गई । अतः हमको यह लिखना एक गौरव है कि हमारी चाची के हम भी वात्सल्यपात्र थे हमारे पिता भी । यह महात्मा बाल्यावस्था में पिता माता का वियोग, घर की निर्धनता के कारण जगत चिंता में उसी समय फँस गए जिस समय खेल कूद के दिन होते हैं ।

विजय ग्राम से डेढ़ कोस मवैया गाँव है, वहाँ एक पं० दयानिधि (बाबा) रहते थे । उनसे पढ़ने लगे । वर्ष दिन पढ़ा, फिर एक पेड़ पर से गिरे, पाँव टूटा नहीं पर लड़खड़ाने लगा इससे कई महीने पड़े रहे, फिर कानपुर चले आए । यहाँ यों शिवप्रसाद जी अवस्थी और रेवतीराम जी त्रिपाठी (प्रयागनारायण जी के पिता) ने उन पर बड़ी कृपादृष्टि रक्खी । कुछ दिन पीछे अवध के बादशाह श्री गाजीउद्दीन हैदर के दरोगा जनाब आजमअली खाँ साहब के दीवान श्री महाराज फतेहचंद जी के यहाँ नौकर हुए और अवध प्रांत के इब्राहीमपुर नामक गाँव में काशीराम के बाजपेयी वंश में विवाह किया । हमारी माता श्री मुकताप्रसाद जी बाजपेयी की कन्या थीं । यह ब्याह और यह नौकरी इन्हें ऐसी फलीभूत हुई कि (अपूर्ण प्रकाशित)

खं० 5, सं० 2, 3, 4 (15 सितंबर, अक्टूबर, नवंबर ह० सं० 4)

सब की देख ली

परमेश्वर न करे कि किसी को परीक्षा का सामना पड़े नहीं तो घर 2 मिट्टी के चूल्हे हैं । यह जमाना भारत के गिरे दिनों का है, जिसको परीक्षा में न उतरना पड़े उसके धन्य भाग ! साधारण पुरुषों की हम नहीं कहते, जो लोग देशहित का बाना बाँधे हैं, जिनकी जिह्वा व्याख्यान देने के समय घंटों रेल की अंजन हो जाती है, जिनकी लेखणी अखबारों के कालम रँगते समय पृथ्वी और आकाश को एक कर डालती है, उन संपादकों और पत्र प्रेरकों की कथा भी विचित्र ही है ।

यद्यपि हम भी उन्हीं में से एक हैं और औवल नंबर के बेफिक्रे गिने जाते हैं, पर हाँ यह अहंकार के साथ दावा करते हैं कि और बातों में चाहे जो हो पर दोस्ती का हक निभाने और कृतज्ञता दिखाने में भी न चूके हैं न चूकेंगे ! जिन्हें काम पड़ा है उन्होंने देख लिया, जिन्हें जब इच्छा हो देख लें कि हम उक्त दो बातों में चूकने वाले नहीं हैं । बेमुरौवती, छँटापन और तोताचश्मी पहिले दूसरी ही ओर से आरंभ हुई होगी, पर हमें ईश्वर ने इन ऐबों से आँख तक पाक रक्खा है और पूर्ण भरोसा है कि सदा पाक रक्खेगा । इसी शेखी पर हम कई एक विषयों में मुँहफट्ट होके कहेंगे कि सबकी देख ली ।

यह बात किसी से छिपी नहीं है कि हिंदुओं को देशहित, सहृदयता, निजता आदि गुण सिखलाने और हिंदी का असली गौरव दिखलाने में श्री हरिश्चन्द्र ने अपना तन मन धन खो दिया था । अब परमेश्वर की इच्छा से उनके साथ हमारा दैहिक संबंध नहीं रहा, पर उनकी कृतज्ञता न करना मनुष्य से दूर है । यही समझ के यहाँ के कई एक उत्साही पुरुषों ने "श्री हरिश्चन्द्र पुस्तकालय" स्थापित किया

है जिससे सर्वसाधारण को उनका स्मरण भी होता रहे और नाना भाँति की पुस्तकें एवं पत्र देखने का सुभीता भी रहे जो पढ़े लिखे लोगों के लिए जी बहलाने का एक जरिया है। पर यह सब समझदार जानते हैं कि ऐसे बड़े 2 काम बिना बहुत से लोगों की सहायता से नहीं हो सकते। यही समझ के जाने 2 बड़े 2 संपादकों, ग्रंथकारों और देशहित के मरीजों को पत्र लिखा था।

कोई हमारा निज का लाभ नहीं है, बहुत से लोग सहायक होंगे तो बहुत ही से लोगों का हित भी है, पर और सहायता तो दूर रही 'सार सुधानिधि', 'प्रयाग समाचार', 'भारतवर्ष' और 'मित्र' के सिवा किन्हीं साहब ने उसका विज्ञापन भी नहीं छापा ! हमारे प्रेमास्पदवर श्री बा० भगवानदास तथा बाबू रामदास और बा० रामकृष्ण खत्री तथा दो-चार निज मित्रों के सिवा पुस्तक और धन की क्या कथा है पत्र का उत्तर भी बाजेबाजों ने नहीं दिया। हाय, जो लोग भारतेंदु जी के जीवनकाल में उनके परम प्रेमी बनते थे, उनके गोलोक प्रयाण में कागज काले करते थे, आज भी जिन्हें निज भाषा, निज धर्म, निज देश ही का आल्हा गाते सुनाते हैं, उनके किए यदि सड़ी मड़ी बातें न हो सकें तो क्यों न कहिए कि सबकी देख ली।

खं० 5, सं० 3 (15 अक्टूबर ह० सं० 4)

जुवा

मनुष्य तो मनुष्य ही है, बैल भी इस नाम से काँपता है ! छोटा सा कीड़ा इसी नाम की बदौलत सुंदरी स्त्रियों की सुंदरता और प्रेमपात्र बच्चों की सुघरता तथा निद्रा मिट्टी में मिला देता है। फिर न जाने दिवाली में लोग क्यों ऐसे बौखला जाते हैं कि दिन रात जुवा जुवा, हुवा हुवा किया करते हैं। यों देखो तो पेट भर रोटी नहीं है, कमर पर लँगोटी नहीं है पर उनसे भी पूछो तो कोई कहता है 'सौ हारे', कोई कहता है 'पचास हारे' ! धन्य री धन्य परंपरा ! मनु जी जो हमारे शास्त्रकारों के शिरोमणि हैं, हँसी के लिए भी इसका खेलना वर्जित करते हैं, पर वुह मनु जी से भी बढ़ गए जो कहते हैं दिवाली में न खेले तो गदहा का जन्म पाता है।

बाजे 2 बुद्धि के शत्रु शिव, युधिष्ठिर, बलदेव, नल आदि का नाम लेके कहते हैं कि वे खेले हैं तो हम क्यों न खेलें ! सच हैं, युधिष्ठिरादि के से सभी काम कर चुके हैं तो एक यही क्यों रह जाय ! ऐसी ही समझ ने बुद्धि हर ली है नहीं तो पुराणों में जिनको प्रमाण मान के आप जुवा की लत अपने पीछे लगाते हैं उनमें दो बातें हैं, एक इतिहास, दूसरी आज्ञा और हम युधिष्ठिरादि के बचनों को मानने वाले हैं न कि उनके निज चरित्रों में दखल देने वाले। यदि बड़ों से कोई भूल हो तो उसका अनुकरण हमको श्रेयस्कर नहीं है। वेद का वाक्य है कि "यान्यस्माकं—सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि ना इतराणि" अर्थात् बड़े लोगों के अच्छे काम हमें सीखना चाहिए न कि जुवा आदि बुरे काम। उन्होंने

यदि खेला तो उसका फल भी क्या पाया ?

शिवजी ने अपने स्त्री पुत्रों में झगड़ा फैलाया। नल ने राज्य खोया। युधिष्ठिर ने भारत का सर्वनाश ही करा दिया ! बलदेव जी ने रुक्म (कृष्णचंद्र जी के साले) का प्राण लिया। जब कि बड़े बड़ों की यह गति जुवा के पीछे हुई तो तुम कौन जग जीतने की आशा रखते हो। हम तो यही कहेंगे कि उन्होंने हमें जुवा की बुराई दिखलाने के ही लिए खेला था। यह बात भी प्रसिद्ध है कि बड़े जो कुछ करें सो न करना चाहिए। उन्होंने खेला है पर हमें खेलने की आज्ञा कहीं नहीं दी। यदि कहीं किसी पुराण अथवा उपपुराण में प्रगट वा प्रच्छन्न आज्ञा हो भी तो उसके पात्र बिचारना चाहिए।

हमारी दृष्टि में ऐसा वचन नहीं आया पर यह कहते हैं कि राजा को योग्य है। खैर राजाओं के लाखों का धन होता है, वे हजारों रु० दूसरों को दे सकते हैं। वे खेलैं पर तुम्हें परमेश्वर ने आँखें दी हैं, तुम्हें क्या सूझी है कि दस पंद्रह की तौ नोकरी करौ, दो चार सौ अपने पराए लगाकर रूजगार करो, पर हारने के समय चार 2 से नसाय देव !

भला वर्ष दो वर्ष खाने कपड़े में कष्ट उठाए बिना अथवा अपने दीन आश्रितों को सताए बिना यह गढ़ा क्यों कर पूरा हो सकता है। बुद्धिमानों ने इसे सब दुर्गुणों का घर कहा है सो बहुत ठीक है। घर से चलते ही जुवारियों को यह विचार होता है कि सबका धन बिना परिश्रम, बिना उस धन के स्वामी का कुछ काम किए मेरे हाथ आ जाय। खेलने के समय चाहें जैसा मित्र बैठा हो उसे भी यही कहेंगे, 'बेईमानी करते हो' 'रोए देते हो' इत्यादि। जब इसका भूत चढ़ता है तब दिन रात मन वचन कर्म से इसी में संलग्न रहते हैं।

यों तो सभी पर्व आमोद प्रमोद करने के लिए नियत किए गए हैं, क्योंकि गृहस्थों को बारहो मास गृहधंधों की चिंता चढ़ी रहती है; और चिंता शरीर की शोषण करने वाली है इससे हमारे दयालु पूर्वजों ने प्रत्येक मास में एक दो दिन ऐसे नियत कर दिए हैं जिनमें निश्चिंत हो के भगवद्भजन या और किसी रीति से आत्मपोषण किया जाय। उसमें भी तो होली, दिवाली विशेष हैं जिनमें लड़के, बूढ़े, धनी, दरिद्री, विद्वान, मूर्ख, स्त्री, पुरुष सभी यथासामर्थ दिल खुश कर लेते हैं। पर बिचारे जुवारियों की दशा पर खेद है कि अपनी बुद्धि से चार 2 दिन खाना और सोना अपने ऊपर हराम कर लेते हैं। खास पर्व के दिन बाजे 2 घरों में दिया जलाना और खील मिठाई खिलौना आदि से कुटुंब को तथा दीपश्राद्ध से पित्रों को एवं पूजन से देवताओं को प्रसन्न करना दूर रहा उलटा स्त्रियों पर इसलिए डंडेबाजी होती है कि 'गहना क्यों नहीं उतार देती' ! बाजे 2 इतने में भी नहीं संतुष्ट होते तो चोरी तक करके धन लाते हैं, पर दिन रात छै ! छै !! छै !!! हौंकने में कोताही नहीं करते। यदि दैवयोग से जीत गए तौ यह कहना तौ व्यर्थ है कि वुह जीतना जिसमें पराई आत्मा कलपा के अपनी जेब भरे, अनुचित है, पर इसमें संदेह नहीं कि हराम का धन भले काम में नहीं लग सकता।

प्रत्यक्ष व हेर फेर के साथ वुह उन्हीं के घर जायगा जिनसे देश का सत्यानाश होने में कुछ न कुछ सहायता होती है। यह भी नहीं कि इन्हीं तीन चार दिनों या इसी महीने में खेल छुट्टी हो जाय। जीतने पर अधिक लालच और हारने पर घटी पूरी करने की उमंग में बाजे 2 बारामासी द्यूतकार होने के लिए भी इसी शुभ दिन में आरंभ कर देते हैं जिसका फल बदनामी, निर्धनता, चोरी की लत, न्यायी हाकिम के यहाँ झाड़बाजी, बड़ा घर, ईश्वर के यहाँ दंड इत्यादि बने बनाए हैं ! वरंच हमारा तो यह सिद्धांत है कि अपनी बुरी आदतों का गुलाम हो जाना ही महा नर्क है ! और यह बड़े 2 बुद्धिमानों ने दृढ़ता

से सिद्ध कर दिया है कि बुरे कर्म पहिले बहुत थोड़े जान पड़ते हैं पर धीरे 2 मन में स्थिर हो के अनेक बुराइयों को उत्पन्न करके सर्वनाश का कारण होते हैं ।

फिर भला जुवा को सब बुराइयों का उत्पादक कहें तो झूठ है ? पाप का बाप लोभ प्रसिद्ध है और उसी का मूल कारण जुवा है जिसका सर्वोत्तम फल यह है कि सहज में पराया धन हाथ में आवे, फिर इसकी बुराइयों का ओर छोर क्या हो सकता है ? अतः जहाँ तक हो बुद्धिमानों को इससे सदा बचना चाहिए । क्या होली क्या दिवाली बुरा काम सदा सब ठौर बुरा ही है !

हमारे कानपुर ही की एक सच्ची कथा है कि एक बनिया साहब खेल में तन्मय हो रहे थे, घर से खबर आई कि लड़का मर गया । उत्तर दिया कि फिर हम क्या चल के जिला लेंगे ? डाल आओ, हमें फुरसत नहीं है । भला ऐसे परम निर्मोही महर्षियों को तौ हम क्या कहें ब्रह्माजी भी नहीं समझा सकते । पर हमारे पाठक कुछ भी इसकी ओर से मुँह फेरेंगे तो उन्हीं के लिए अच्छा है ।

खं० 5, सं० 4 (15 नवंबर ह० सं० 4)

प्रश्नोत्तर

अमूर्तिवादी उवाच– 'हम नहीं जानते आप लोग कैसे मूर्ख हैं कि एक जड़ पदार्थ को समझ लेते हैं कि सर्वशक्तिमान जगदीश्वर है ।' प्रतिमाप्रेमी उवाच– 'साहब यदि हम पत्थर के टुकड़े ही को ईश्वर जानते होते तौ बाहर जाती समय ठाकुरद्वारे में ताला कभी न लगाते क्योंकि सर्वशक्तिमान की आँखों के आगे से चोर चहार को कोई वस्तु उठा ले जाने की सामर्थ्य नहीं है । इससे यह तो प्रत्यक्ष है कि हम जड़ को कभी चैतन्य नहीं समझते ।

रहा यह कि हम मूर्ख हैं । बड़े 2 रिषि मुनि, पीर पयगम्बर हो गए किसी ने यह न बताया कि ईश्वर का रूप गुण स्वभाव बस इतना मात्र है । जहाँ बड़े-बड़ों की यह दशा है वहाँ हमारी क्या चलाई । हम तो मूर्ख हई हैं, 'जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं । कहौ तूल केहि लेखै माहीं ?' पर आश्चर्य और आक्षेप के लायक तो यह है कि आपको ईश्वर मालूम होता है !

साधारण स्त्रियों और छोकड़ों की सी अकिल भी नहीं रखते (हम तो अपने पूज्य परमात्मा को सर्वान्तर्यामी मानते हैं, पर प्रतिमापूजन के विरोधियों की बातें सुन 2 ऐसी शंका हो सकती है) क्योंकि जब हम उनमें से (स्त्री आदि में से) किसी को चाहते हैं, पर लोक लाज से, डर से सब ठौर, सब बात, सब प्रकार की बातें कहने-सुनने में असमर्थ होते हैं इस दशा में बहुधा ऐसा होता है कि जब हमारा प्रेमपात्र किसी निज संबंधी के साथ दिखाई देता है तब हम अपने किसी साथी से कहते हैं कि यार तुम्हारे तो दर्शन ही नहीं होते ! क्या नाराज हो ? हम कई दिन से तरस रहे हैं, इत्यादि । यह बातें यद्यपि दूसरे से कही जाती हैं पर हमारा प्रणयभाजन भली भाँति समझ लेता है कि हम पर बौछार है । पर अफसोस

कि आपका ईश्वर इतना भी नहीं समझता कि यह मूर्ति को, बरंच मूर्ति के मिस, हमें पूज रहा है ! हम तो ऐसे ईश्वर को दूर ही से दंडवत करेंगे (ईश्वर हमारे प्रेम के आधार हैं, वुह हमारे सब संकेत समझते हैं) ।

खं० 5, सं० 7 (15 फरवरी ह० सं० 5)

समझने की बात

यह बात ठीक है कि हमारे पूर्व पुरुष बल, बुद्धि, विद्या, धन, धैर्यादि की पराकाष्ठा को पहुँचे और बड़े 2 काम अकेले कर लेते थे । इसका प्रमाण पुराणों ही में नहीं बरंच पुरानी बस्तियों में प्रत्यक्ष भी कुछ 2 दिखाई देता है । इससे उनके मुँह से यह कहावत शोभा देती थी कि 'सिंह को किसी की सहायता न चाहिए', क्योंकि जिस समय में समर्थ व्यक्तियों की संख्या अधिक थी उस समय एक मनुष्य सब कुछ कर सकता था ।

दूसरे की मदद माँगना क्या जरूरी था । पर अब वुह समय नहीं । अब कहने मात्र को उनके बंशज हैं; किसी करतूत के योग्य नहीं हैं । समय का फेर, ईश्वर की इच्छा, कर्मों का फल, चाहे जो कहिए पर इसमें संदेह नहीं है कि हमारे दिन गिरे हुए हैं । हम रिषियों के वंशज बन के केवल उनकी बिडम्बना मात्र करते हैं, कुछ कर धर नहीं सकते । अतः हमारे मुख से यह कहना शोभा नहीं देता कि साझे की खेती गधा भी नहीं खाता । इस कहतूत का गूढ़ अर्थ कुछ ही क्यों न हो पर है हमारे लिए हानिकारक !

जहाँ हमने शास्त्रों का पठन पाठन एवं शस्त्रसंचालन छोड़ दिया है, वहाँ इस कहावत को भी छोड़ देना चाहिए । आपके इस कहने से छुटकारा न होगा कि यह हमारी चिरकालिक कहावत है । जब कि आपने सहस्रों लाभदायक पुरानी बातें छोड़ दीं तब एक लोकोक्ति को छोड़ना कोई बड़ी बात नहीं है ।

अँगरेजों के यहाँ ऐसे मनहूस मसले का बर्ताव नहीं है, इससे वे कोई छोटा सा काम भी होता है तो बहुत से लोग थोड़ी 2 सहायता करके उसे कर उठाते हैं और भली भाँति उसका फल भोगते हैं । पर हमारे यहाँ छोटे बड़े, दिहाती शहराती सबके मुख पर दिन रात यही कहावत रक्खी होती है कि साझे की खेती गधा भी नहीं खाता ।

इसी को कहते 2 सुनते 2 लोगों के संस्कार ऐसे बिगड़ गए हैं कि कोई काम करते हैं तो अकेले ही मरा पचा करते हैं । कष्ट, हानि सब सहते हैं पर पीछे से अपना सा मुँह ले के रह जाते हैं । रुजगार, व्यवहार, देशोपकार, सुरीतिसंचार, कोई काम हो यदि बहुत से लोग मिल के किया करें तो परिश्रम कम हो, पर समझने वाला चाहिए । अँगरेज ऐसा ही करके लाखों के वारे न्यारे करते हैं । हमारे नीतिकार ऐसे भी बहुत-से उपदेश कर गए हैं कि 'अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्य साधिनी', 'सात पाँच की लाकरी एक जने का बोझ' इत्यादि, पर इन पर कोई ध्यान नहीं देता ।

जानते सब हैं पर उदाहरण कोई नहीं दिखाता। पाठक ! कोई काम ऐसा कर तो उठाओ। इसका मजा थोड़े ही दिनों में पाइएगा। पर बातों से कुछ न होगा, कुछ करने ही से होगा। देखें तो कौन साहब आगे कदम बढ़ाते हैं। हम भी उसमें शरीक होने को तैयार हैं। पर आप सोचिए तो कि क्या कीजिएगा। इस मास में सोच रखिए नहीं तो हमी बतावेंगे।

खं० 9, सं० 7 (15 फरवरी ह० सं० 5)

ठगों के हथखंडे[1]

ठग वे कहलाते हैं जिनके कपड़े-लत्ते, चिहरे-मुहरे से यह कोई न कह सके कि यह नीति, धर्म एवं भलमंसी के विरुद्ध कुछ भी करते होंगे। बातचीत भी उनकी ऐसी सभ्यतापूर्ण होती है कि हर कोई ठगे जाने के पहिले उन्हें बड़ा साधुस्वभाव समझता है। प्रत्यक्ष में अपने नगर के दो-एक प्रतिष्ठित पुरुषों से ऐसे लोग हेलमेल भी बनाए रखते हैं पर उनकी गुप्त लीला ऐसी होता है कि दूसरे का धन, मान, उचित प्रतिष्ठा, स्वास्थ्य (तंदुरुस्ती), धर्म, चाहे जो नाश हो जाय पर उनका स्वार्थ सिद्ध होता रहे।

यद्यपि हमारी नीतिवती सर्कार ने हमारे अनिष्टकारकों के दमन करने में बड़े 2 बंदोबस्त कर रखे हैं पर इतनी करतूतें हमारी सर्कार के कानों तक बहुत कम पहुँचती हैं, इससे सर्वसाधारण की बड़ी हानि होती है। पराया झगड़ा अपने शिर कौन ले। थोड़ी-सी बात के लिए हौव 2 में कौन पड़े। अदालत में बहुधा ऊपरी कर्मचारियों की बदौलत झूठ का सच, सच का झूठ हो जाता है। घर के धंधे छोड़कर दौड़-धूप करनी पड़ेगी। जिनकी हम शिकायत करते हैं उनके साथी जबरदस्त हैं। सर्कार तो जब न्याय करेगी तब करेगी, पहिले वही लेव-देव कर डालेंगे !

यही विचार हमें सच कहने से रोकते हैं। इसके सिवा सब कोई कानून नहीं जानता और उन्हों (ठगों) ने अपने बचाव की सूरत निकाल रक्खी होगी, ऐसी ही ऐसी बातें सोच के लोग पेट मिसूसा मार रह जाते हैं पर हमें सत्य का विश्वास एवं सर्कार से न्याय की आस है, इससे सर्वसाधारण के हितार्थ ठगों के हथखंडे, जो आँखों देखे और विश्वासियों से सुने हैं, धीरे 2 प्रकाश करेंगे। कभी तो कोई सुने ही गा ! और कुछ न होगा तो हमारे पाठकगण ऐसे लोगों के मायाजाल से बचे रहेंगे, यही कहाँ का थोड़ा है। यह हथखंडे बहुत प्रकार के होते हैं और सब लोग सब बातें नहीं जान सकते इस्से जहाँ तक हमें मालूम है हम लिखेंगे, जो और लोग जानते हों वे 'ब्राह्मण' या और किसी पत्र में सच्चाई के साथ प्रकाशित करते रहें तो देश का बड़ा उपकार हो।

एक यह हथखंडा है कि जहाँ किसी ग्रामीण बैपारी को देखा कि माल बेंचे हुए रुपया लिये बाहर जा रहा है वहीं दो यारों ने उसका पीछा किया। एक ने तो मुलम्मे का कोई गहना किसी थैली या पोटली

1. कई अंकों में प्रकाशित प्रस्तुत लेख के उपलब्ध अंश यहाँ संकलित हैं।

में बाँधा और बैपारी के आगे 2 कुछ अंतर से चला तथा दूसरा उसके पीछे हो लिया । जब शहर से कुछ दूर पहुँचे और देखा कि इधर-उधर कोई नहीं है तो आगे वाले ने अपने गहने वाला वस्त्र ऐसे मजे से राह में डाल दिया मानो गिरने की उसे खबर ही नहीं है, और चला गया । अब बैपारी साहब ने उसे पड़ा हुआ देखा और उठा लिया । खोलते हैं तो सोना पड़ा मिला है ! इस खुशी का क्या कहना ! इतने में दूसरे ठग भाई ने उसके पास झट आके कहा, 'क्या है जी ? वाह, यह तो सोने की है ! यह तो 50 रुपये से कम नहीं है । सुनते हो, तुमने परा पाया है, उठाते बखत हमने देखा है । इससे इसमें आधे का साझी हमैं भी करो नहीं तो यह शहर है, यहाँ तुम्हारी कुछ न चलैगी और हम तुम्हें फँसा देंगे ।' ऐसे 2 साम, दाम, दंड, भेद से उसके साझी बन गये अथवा आप ही ने उसे उठा लिया । चोर बैपारी से कहा, 'देखो वह आदमी (जो जा रहा है) इसे गिरा गया है । भाई उसको न बतलाना, चलो हम-तुम साझी सही ।'

संक्षेप यह कि ऐसी पट्टी पढ़ा के उसके सुखमना बने ! अब थोड़ी दूर चल के; 'कहो कौन बाजार में बेचने जायँ ! यह शहर है, यहाँ के लोग बड़े काँइयाँ होते हैं, उनके साथ मुड़ धुन कौन करेगा । गाँव भी हम जल्दी जाया चाहते हैं, इससे अच्छा होगा या तो आधे दाम हमसे ले लेव, चीज दे देव । पर रुपया हमारे पास नहीं है, शहर चलो तो फलाने (किसी अमीर का नाम) के यहाँ दिला दें, या चलो हमारे गाँव तक, वहाँ दे देंगे । नहीं तो तुम्हीं यह चीज ले लेव । है तो 50 रुपये की आधे दाम 25 रुपये होते हैं पर तुम्हें हम 20 रुपए ही की दे देंगे । अरे हाँ, कौन खटपट में पड़े ।' अब पाठकगण सोच सकते हैं, शहर लौट जाने तथा दूसरे गाँव जाने में एक तो तकलीफ दूसरे प्राप्ति···

एक हथखंडा यह है कि कोई लम्बे-चौड़े नाम की सभा स्थापन कर ली जिसका उद्देश्य लिखने मात्र के लिए देशहित अथवा मनोरंजन हो, जिसमें नई अवस्था के अनजान देशहितैषी एवं कौतुकी (शौकीन) फँसते रहें और एक अथवा दो नियम ऐसे नियत कर लिए जिनसे दूसरों को कुछ कहने-सुनने का ठौर न रहे, यथा—यदि पाँच वा सात सभासद भी बने रहेंगे तो सभा तोड़ी न जायगी और जो सभासद सभा से निकल जायँगे उनका फिर किसी वस्तु पर अधिकार न रहेगा तथा जो पदार्थ सभास्थान की शोभा के लिए अथवा सभासदों के आराम के लिए कोई वा कई मेम्बर लावेंगे उसका मूल्य सभा संबंधी पिछला ऋण वर्तमान सभासदों को देना होगा अथच अधिकारियों की बात में सभासदों को बोलने का तब तक अधिकार न होगा जब तक सभी सभ्य एक मत न होंगे, इत्यादि ।

यद्यपि इस प्रकार के नियम दूषित नहीं हैं पर दुष्ट प्रकृति वाले इनमें भी अपनी चाल यों चलते हैं कि सभास्थान अपने तथा किसी निज संबंधी के घर पर नियत कर देते हैं और चार-पाँच मेम्बर ऐसे बना लेते हैं जिनमें विद्या, योग्यता, उदारतादि गुण चाहे एक न हो पर हों कोई अपने ही नातेदार भैयाचार और जहाँ तक हो मुखियापन इन्हीं में रहे । जैसे चचा प्रेसीडेण्ट है तो भतीजा सेक्रेटरी है । मामा कोषाध्यक्ष है तो भान्जा पुस्तकाध्यक्ष है । साला प्रतिनिधि सभाध्यक्ष है तो बहनोई कार्याध्यक्ष है, इत्यादि । कहने-सुनने को छोटे-मोटे अधिकार दो-एक बाहर वालों को भी दे दिए । बस, सभा घर में है, सब सामग्री (असबाब) अपने हाथ में है । जितने लोगों से सभा कायम रह सकती है वे घर के ही हैं, बिश्रब्ध भोलेभालों के ठगने का ठान ठना सभा में होता हुवाता कुछ नहीं, पर चन्दा हर महीने देते जाव । बाजार से कोई वस्तु मैनेजर साहब चाहे घर के लिए भी लावें पर सभा की है । अतः सभासदों को दूने-चौगुने दाम देना चाहिए ! जब कभी महीनों में अंतरंग अधिवेशन (प्राइवेट मीटिंग) होगा तो बरसों के ऋण का भी कुछ 2

सभासदों के माथे मढ़ा जायगा क्योंकि जो सभासद निकल गये हैं वे बेईमान थे इससे वर्तमान ही सभासदों का आसरा है । बस इस रीति से कुछ दिन सभ्य बने रहो, चन्दा इत्यादि सब देते रहो, सामान बनवाने के लिए रुपया दे देकर सभामंदिर के स्वामी का घर भरते रहो । यदि बरस, दो बरस में कोई बहिरंग कार्य हो तब उत्साह दिखलाने को और भी अधिक देना, पर अन्त में इसका नतीजा यह होना है कि एक न एक दिन कोई न कोई झगड़ा खड़ा करके आज मैं, कल तुम, परसों अन्य, सभा से निकाल दिया जायगा अथवा आप ही घर बैठ रहेगा और असबाब सभा के अध्यक्ष, सेक्रेटरी अथवा मैनेजर के बाप का हो जायगा । इस रीति से बहुतेरे बहुतों को ठगा करते हैं ।

हमारे पाठकों को चाहिए कि इस प्रकार की चालबाजियों से सावधान रहें और यदि एक आध बार ठग गये हों तो अपने मित्रों तथा सर्वसाधारण को उक्त ठगों के नाम ग्राम की सूचना दे दिया करें जिसमें दूसरे लोग धोखा न खायें । इस प्रकार के वंचक बहुधा कुछ पढ़े-लिखे शिष्टी के भेष में हुवा करते हैं । अतः ऐसों की करतूत बहुधा दो-एक बेर ठगाए बिना नहीं जान पड़ती, पर तौ भी जहाँ उपर्युक्त चाल-ढाल की सभा हो वहाँ कभी 2 ऐसा ही रंग होता है, एवं वहाँ के उन आने-जाने वालों से कुछ 2 भेद मिल सकता है जो कभी सभासद थे पर अब नहीं हैं, अथवा हैं भी तो अफसरों के संबंधी वा गहिरे मित्र नहीं हैं ।

खं० 5, सं० 9, 10 (15 अप्रैल, 15 मई ह० सं० 5)
खं० 6, सं० 3 (15 अक्टूबर ह० सं० 5)

समय का फेर

अभी वह लोग बहुत से जीते हैं जो सन् 57 के बलवे के दस पाँच बरस पहिले का हाल अपनी आँखों देखा बतलाते हैं । और उनमें से अधिकांश लोग ऐसे हैं जिनकी बातें विश्वास करने के योग्य हैं पर इस वर्तमान काल के लोगों को वे बातें बहुधा कहानी-सी जान पड़ती हैं, क्योंकि उस जमाने और इस जमाने से इतना फरक है कि बुड्ढे लोग उसे सतयुग कहते हैं और इसे कलयुग मानते हैं ।

हमारे एक वृद्ध मित्र का कथन है कि भैया तुम्हीं लोग कहो कि इन दिनों देश की दशा सुधरने लगी पर हमारी समझ में सिवाय इसके कि तुम्हें बातें बनाने का अधिक अभ्यास हो गया और अठएँ, दसएँ दिन थोड़े-से नौसिखियों को इकट्ठा करके आपस की बकवास निकाल डालते हो, यह बातें तो बेशक, हमारी जवानी में न थीं, पर जो आनंद हमने भोगा है, वह तुम्हें सपने में भी दुर्लभ है । तुमने देखा होगा कि ओमर बनियों के यहाँ ब्याह में बरातियों को जो सीधा (भोजनसामग्री) दिया जाता है उसमें धेला-कौड़ी घी के लिये देते हैं । इस बात को तुम लालच अथवा दरिद्रता समझ के हँसते होगे पर हम सौगंध खा के कहते हैं कि हमारी जवानी में धेले का घी एक आदमी के लिये बहुत होता था ।

यह प्रत्यक्ष देख लो कि हममें अब भी वह बल और पौरुष है कि तुम्हें हम तुम्हें नहीं समझते। इसका कारण यही है कि हमने 18 या 20 रुपए मन घी और रुपए का 22 तथा 20 सेर दूध ऐसा खाया है जैसा तुम्हें डेउढ़े दूने दामों पर भी मिलना कठिन है । भैया, यह उसी खिलाई-पिलाई का फल है कि हम साठा सो पाठा बने हैं । जिन रोगों से तुम बारहो मास घिरे रहते हो उनका हमने कभी नाम भी नहीं सुना था । तुम अपनी सभाओं में बाल्यविवाह बाल्यविवाह झींखा करते हो पर हम लोगों के भी ब्याह बारह ही तेरह बरस की अवस्था में होते थे तौ भी निर्बलता क्या है, यह हम जानते भी नहीं । क्योंकि लड़काई में ब्याह होता था तो क्या हुवा, गौना तो सात वर्ष, पाँच वर्ष अथवा कम से कम तीन वर्ष ही में होता था ।

इसके सिवा हम अपने बड़े-बूढ़ों की लाज से अपनी स्त्री के साथ खुल के बात भी बहुत कम करते थे । इसके सिवा धर्म का डर और अपने जमाने की चाल के अनुसार अपने अड़ोस-पड़ोस, गाँव-देश की स्त्रियों को उनकी उमर देख के किसी को चाची, किसी को दीदी, किसी को बिटिया कहते थे और सचमुच वैसा ही मानते थे । हम तो न भी मानते पर यह डर था कि हम बुराई करेंगे तो कोई मूँड़ काट लेगा या मारते 2 अधमरा कर डालेगा । वेश्याओं के यहाँ लोकलाज के मारे न जाते थे । कोई देख लेगा या सुन पावेगा तो नौधरीं होगी । यही सब बातें थीं कि हमारा बल अब भी तुमसे अधिक है।

यह बातें तुम में कहीं नहीं । तुम चाहते कि हम अपनी बबुआइन को लेके सैर करने पावें तो मानो बैकुंठ मिल जाय । गाँव नगर की स्त्रियाँ तुम्हारे हिसाब कुछ हैं ही नहीं । यदि घर की सनातन रीति के मारे मुँह से चाची, बहिनी इत्यादि कहते भी हो तो जी में यह जरूर समझते होगे कि न हमारे चाचा की विवाहिता है न हमारे बाप की बेटी है, फिर डर ही क्या है, कोई जान ही जायगा तो क्या होगा, अदालत के वास्ते सुबूत ही क्या है, और हो भी तो क्या फाँसी हो जायगी ?

वेश्या के यहाँ जाना तुम अमीरी और जिंदादिली समझते हो । धिक्कार है इस बुद्धि को ! यदि परमेश्वर करे देश में यही चाल चल जाय कि ब्याह 24-26 वर्ष में हुआ करे तौ भी तुम में वह लक्षण नहीं हैं कि तुम्हारा बूता बना रहे ! बल की रक्षा के सिवा धन का यह हाल था कि बाँगरमऊ की अद्धी, लखनऊ की छीटें, कनौज का गाढ़ा, ढाके की मलमल इत्यादि हमारे कपड़े ऐसे थे कि कम से कम बरस दिन तक तो टसकाए न टसकते थे । बरंच गरीब गुरबा के कपड़े की यह दशा थी कि एक गाढ़े का थान ले लिया, दो वर्ष धोती पहिनी फिर रँगा के रजाई बनवा ली । तीन-चार वर्ष की फिर छुट्टी हुई । भला यह तो बताओ तुम्हारे लंकलाट और तंजेब के अंगरखे कै महीने चलते हैं ?

अभी बरतनों पर गुसैयाँ की दया है । अधिकतर देशी ही हैं, जो टूट-फूट जाने पर भी ताँबे-पीतल के भाव बिकी जाते हैं । पर तुम्हारी कुबुद्धि ने काँच के गिलास और लंप इत्यादि भी भक्ति उपजाय दी है जिनमें दाम तो दूने-चौगुने लगते हैं पर फूट जाने पर शायद 5) की लंप एक रुपये को भी न बिके । कहाँ तक कहें, सबसे तुच्छ जूता होता है, सो अमीर लोग भी 3, 4 का पहिनते थे और टूट जाने पर नौकरों को उठा देते थे । वह पहिन पहिना के रुपए बारह आने भर चाँदी उसमें से निकाल लेते थे, पर तुम्हारे पाँच रुपए के बूट में बताओ तो कितनी जरी होगी ?

रुजगार की यह गति थी कि हमारी देखी हुई बात है, लखनऊ, फर्रुखाबाद, मिरजापुर आदि में कंचन बरसता था । पर हाय आज धूल उड़ती है, और राम न करे यही हाल कुछ दिन और रहा तो यह शहर के नाम से पुकारे जाने योग्य रहेंगे, क्योंकि स्त्री का पति है पुरुष और पुरुष का पति रुजगार।

उसका इस जमाने में कहीं ठीक ही नहीं है ।

आगे सौ पचास रुपए लगा के छोटा-मोटा धंधा कर उठाता सो भी चैन से दिन बिताता था । पर आज हम देखते हैं जो हजारों अटकाए बैठे हैं वे खींझते रहते हैं । हजारों गरीब लोग केवल एक लढ़िया से घर भर का पालन करते थे । उनका रेल ने सर्वनाश कर दिया । हजारों अनाथा, विधवा, पिसौनी-कुटौनी कर खाती थीं, उनकी रोटी पनचक्कियों ने हर ली । हजारों कोरी कम्बल, खेस गजी गाढ़ा बना के निबाह कर लेते । उन्हें सत्यानास में मिलाने को पुतलीधर खड़े हुए हैं । विपत्ति आती है तो एक ओर से नहीं आती । उधर विदेशियों का यह दाँव है कि अन्न और जल भी हम इनके हाथ बेंचा करें और इधर हिंदुस्तानियों की यह इच्छा है कि मट्टी और हवा भी विलायत से आवे तो खरीदना चाहिए, दाम चाहे जो लगे ।

रुपया हिंदुस्तान में अब नहीं रहा । मुसलमानों ने सात सौ बरस राज्य किया, उसमें भी बाजे 2 बादशाहों ने हजारों आदमी मार डाले, सैकड़ों नगर लूट लिए, तौ भी अन्न वस्त्र सबको मिली रहता था । पर इस सुराज्य में सौ ही बरस के बीच यह दशा हो गई है कि देश-भर में चौथाई से अधिक जन केवल एक बेर खा पाते हैं, सो भी पेट भर नहीं । तिस पर भी जिनको रामजी ने खाने भर को दिया है उन्हें अपने धन की ममता नहीं है । बिलायती मट्टी भी (चीनी के बर्तन दवात आदि) प्यारी लगती है, अपने यहाँ का सोना भी अखरता है । जिसके घर में देखो सारा सामान तौ भी रुपए में बारह आने भर सामग्री विलायत ही की बनी पावोगे, जिसमें दाम तो एक 2 के चार लगे हैं पर ठहरतीं देशी की अपेक्षा आधे दिन भी नहीं और तनक बिगड़ जाने पर स्वाहा !

इस सत्यानाशी पसंद की कथा कहाँ तक कहें, केवल दो-एक बातों से समझ लेना चाहिए । शरीर की रक्षा के लिए वैद्य और औषधि का काम पड़ता है, उसमें भी अच्छे से अच्छे वैद्य को एक रुपया भेंट (सो भी मुलहिजे में काम चले तो और भी अच्छा) पर डाक्टर साहब को सूरतदिखौनी चार रुपया (न दें तो नालिश करके ले लें) । दवाई का यह हाल है कि वैद्यराज मोती की भसम दें तो मूली-गाजर-सा भाव करेंगे पर अँगरेजी दुकान से मशक का पानी भी कम से कम आठ आने का उठा लावेंगे । सौंफ, धनियाँ, ककड़ी, खीरा के बीज आदि की ठंडाई थोड़े दाम में बने, रुचिकारक हो, कई छोटे-मोटे रोगों का नाश करे, सो तो काटती है पर सज्जी, नींबू आदि का वीर्यनाशक पानी, छत्तिसों जात की उच्छिष्ट, बोतल से भरा हुआ चार पैसे को भी सस्ता है । जहाँ ऐसी समझ है वहाँ धन कैसे बचे और देशियों को अपनी विद्या बढ़ाने का उत्साह कहाँ से हो । फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि देश ने तरक्की की है और कर रहा है ।

तरक्की तो विलायत ने की है, यहाँ तो चारों ओर से सारी बात नाश हो रही है और हिंदू बीच में बैठा हुआ नाश होने के कारणों को सहायता पहुँचा रहा है । अगले अमीरों को यह ध्यान न रहता था कि जो लोग हमारे पास आ बैठते हैं उनका किसी रूप से कुछ उपकार होता रहना चाहिए, पर आजकल के धनिकों में बिरला ही होगा जिसे अपने आश्रितों का कुछ विचार रहता हो, नहीं तो खुशामद और सेवा कराने के लिए तो अमीर हैं, कोई प्रशंसा में कविता बना दिया करे या समाचारपत्रों में तारीफ छपवा दिया करे तो और भी अच्छा (बरंच बाजे 2 अमीर प्रगट वा प्रच्छन्न शब्दों में इस बात की फरमाइश भी किया करते हैं) । दून की लेने और गरीबों को धमकी देने में भी राजा करण का अवतार है पर जो कोई यह चाहे कि इनके धन तथा बचन से कुछ मेरा भला होगा वह बिचारा बज्र मूर्ख चाहे न भी हो पर गरजमन्दी

के सबब बावला तो हई है ।

आगे मालिक को अपने नौकरों का यहाँ तक ममत्व होता था कि सदा उसके दुख-सुख में साथी रहते थे । इसी कारण तीन-चार रुपए के नौकर आनंद से जीवन बिताते थे और निमकहराम को बहुत बुरी गाली समझते थे । पर अब के मालिकों को यह बिचार सदा रहता है कि अमुक को दस रुपया मासिक देना पड़ता है । यदि उसके स्थान पर कोई पाँच रु० का आदमी मिल जाय तो अति उत्तम हो । योग्यता को क्या अंचार धरना है ? इसी से नौकरराम भी यह समझे रहते हैं कि मुरदा चाहे बिहिश्त जाय चाहे दोजख, हमें अपने हलुए माँड़े से काम है । जब तक जिस रीति से बने अपनी टही जमाते रहो फिर तो एक दिन यह होना ही है कि यह कहेंगे हर तरफ ।

जनमभर का देना न इन्होंने हमारा लिया है न हमने इनका । हाय, वह दिन कहाँ गए जिनमें छोटे 2 रोजगारी और साधारण 2 कर्मचारी भी यह आशा रखते थे कि जिस दिन परमात्मा की दयादृष्टि तथा मालिक की लहर-बहर हुई उसी दिन हमारा सारा दुख-दरिद्र टल जायगा ।

अब तो हम देखते हैं कि किसी को संतुष्टता हई नहीं । छोटे धंधेवालों का तो कहना ही क्या है, बड़े-बड़े कोठीवाले हाथ पर हाथ धरे बैठे रहते हैं । यह तो बहुधा सुन लीजिए कि आज फलाने बिगड़ गये, आज ढिकाने का दिवाला निकल गया, पर यह बरसों में सुनने ही में नहीं आता कि फलाने 2 रुजगार में बन बैठे । यों ही नौकरी करने वालों की कौन कहे, उनकी जड़ तो धरती से सवा हाथ ऊपर (अधड़ में) रहती ही है, जो रईस कहलाते हैं, जिनके यहाँ दस-बीस जने नौकरी करते हैं, वे स्वयं हाय 2 में फँसे रहते हैं ।

करें क्या बिचारे, आमदनी आगे की-सी रही नहीं, खर्च कम करें तो चार जने उँगली उठावें, पुरुखों का नाम धरा जाय । 'संपति थोरी पति बड़ी यहै बिपति इक आय' । ज्यों-त्यों भरमाला बाँधे बैठे रहते हैं । पता लगावो तो ऐसा बिरला ही अमीर होगा जो कर्ज में न डूबा हो । लोगों की नीयत का यह हाल है कि आगे कौन किसके यहाँ से कितना रुपया कब उधार ले आता है, कब दे आता है, कोई जानता भी न था । लेनेवाला समझता था कि न देंगे तो पाँच पंच में मुँह कैसे दिखावेंगे । मर के भी परमेश्वर के यहाँ देना पड़ेगा । ऋणहत्या न मुच्यते । इससे चाहे जो हो लहनदार से पीछा छुड़ा ही लेना चाहिए । यहाँ तक कि बाप-दादे के हाथ की बीसियों बरस का देना निपटा के जो गया कर आता था वह समझ लेता था कि अब सुचित हुए ।

इसी भाँति लहनदार समझता था कि फलाने भलेमानस हैं, जब उनके पास होगा बेईमानी न करेंगे, चार जने के आगे थुक्का-फजीती से क्या फायदा; भाग का होगा तो मिली रहैगा, नहीं तो पुरखुले में एक 2 सौ 2 मिलेंगे और जौ हमीं अगले जनम के ऋणी होंगे तो उरिण हो गए । पर इस जमाने में पुरुषों का कर्ज तो कौन देने आता है (बरुक गया गदाधर पूर्वजन्म इत्यादि पाखंड समझे जाते हैं) खास अपने हाथ का लिखा तमस्सुक तीन बरस बीत जाने पर रद्दी कर देते हैं । गवाही को झूठा बताते हैं । बीच में माँगने वाला माँगे तो आँखैं दिखलाते हैं ।

मुकद्दिमा होने पर बारिस्टर ढूँढ़ते हैं जिसमें कोई राह निकल आवे औ जमा हजम हो जाय । इधर पाने वाला जिस समय उधार देता है तभी सोच लेता है कि बियाज का छियाज जोड़ के एक 2 के छः 2 लेने चाहिए । यदि कोई सूरत निकल आवे तो इसका घर और जेवर भी हाथ लग जायगा कहीं किसी तरह 15 दिन को बड़े घर भेज सकें तो सदा आँख नीची रखैगा । भला इन नीयतों से कभी किसी

का भला हुआ है ?

अविश्वास इतना फैल गया है कि हम अपनी जवानी में अमुक सज्जन से हजारों का गहना-गुरिया माँग लाते थे और दे आते थे, हमारे घर की सारी चीजें सदा आज इसके यहाँ पड़ी हैं कल उसके यहाँ पड़ी हैं पर कभी एक चाँदी के छल्ले की भी भूल न पड़ी। पर आजकल तो किसी को कुछ दे दीजिए, यदि मार न रखेगा तो भी अस्तव्यस्त अवश्य ही कर देगा और जो किसी के यहाँ कुछ माँगने जाओ तो दी हुई वस्तु के अवयवों की गिनती करेगा, चार जनों के सामने लिख लिखा के देगा तथापि जी में समझेगा कि किसी प्रकार कुछ भी बिगड़े तो एक 2 के दो 2 लेना चाहिए, ऊपर से कायल करना चाहिए। इस कलजुगहापन का कारन यह है कि सभी लोग अपनी और पराई इज्जत एक समझते थे पर अब जिसे देखो अपनी 2 पड़ी है, दरिद्र दिन 2 बढ़ता जाता है, लोगों के दीन-धरम का ठिकाना नहीं है, फिर किसका कौन होता है ? तुम लोग एका 2 चिल्लाया करते हो पर हम जानते भी न थे कि एका किसे कहते हैं। तिस पर भी अपने गाँव की लड़की जहाँ ब्याही होती थी वहाँ के कुएँ का पानी न पीते थे।

किसी का समधी दमाद आता था तो उसे अपना निज संबंधी समझ के तन, मन, धन से सेवा में हाजिर रहते थे। गाँव में जिसके यहाँ बरात आती थी उसे आटे की तो चिंता ही न होती थी, सभी भलेमानस दस 2, पाँच 2 सेर पिसवा के भेज देते थे। घी, दूध जिसके यहाँ होता था वह पहुँचा देता था, बरंच कभी 2 रुपये की जुरूरत पड़ने पर भी कोई कानोंकान न जानता था, लड़की वाले के यहाँ पहुँच जाता था। इसी से एक-दूसरे के लिये जी देने को तैयार रहता था। क्या तुम भी ऐसा करते हो कि छाती ठोंक 2 के लेकचर ही देना जानते हो।

गाढ़ा समय अपने पर राँध पड़ोसी हेती ब्यौहारी की धूल न उड़ावौ यही गनीमत है। काम पड़ने पर अपने पास से देना दूर रहा दूसरे की गाँठ न टटोलो यही बहुत है। इसी से कोई तुम्हारे किसी अवसर पर भी साथ नहीं देता। कौन साथ दे, कहीं एक हाथ से ताली बजती है।

और सुनो, अगले दिनों में सब भलेमानस ही न होते थे। बेहाड़े फक्कड़ भी बहुत से थे, जिन्हें कमाने-धमाने की कुछ फिकर न रहती थी, पुरुखों की कमाई अथवा जजमानी प्रोहिती की आमदनी से गुजारा चला जाता था। हर घड़ी दो-चार टेलुहों को लिये गपशप हाँका करते थे या चंग बजाया करते थे। साँझ-सबेरे बूटी छानने तथा गाँजा-चरस उड़ाने के सिवा कुछ काम न रखते थे !

आम लोग उनकी सोहबत को अच्छा न समझते थे पर हमारी जान में इस जमाने के भलेमानसों से उनकी जिंदगी लाख दरजे अच्छी थी क्योंकि उनको अपने कुल के आचार का इतना ध्यान रहता था कि ब्राह्मण-क्षत्री का लड़का चाहे जितना बिगड़ जाय पर नशा वही खाता-पीता था जो उसकी जाति में चला आया हो। इसके विरुद्ध इन दिनों (जिसे तुम सुधरा हुआ समय कहते हो) कहो जितने बाजपेयी और उनसे भी बढ़ के संन्यासी हम दिखला दें जो जाहिरा में तो बड़े 2 पाखंड रचते हैं पर छिप 2 के होटलों में छत्तिसों जाति साथ एक ही गिलास में मदिरा पीते और सब खज्ज-अखज्ज खाते हैं तथा इस कपट रीति से सारे मित्रों और नातेदारों का धरम लेते हैं।

यह बात उन फक्कड़ में लाख कोस न थी। इसके सिवा बंधुभाव उनमें इतना था कि यद्यपि बहुधा किसी को कुछ माल न गिनते थे तौ भी अपने पड़ोस के तथा जाति के वृद्ध पुरुषों को, जिन्हें चचा, ताऊ इत्यादि कहते थे, उनका इतना संकोच करते थे कि वे नाराज हो के चाहे जैसी कहनी-अनकहनी कह

लें पर उत्तर देना कैसा, आँखें सामने न करते थे तथा जिन्हें अपना मित्र, संगी, भाई, हितैषी इत्यादि मानते थे उनके लिये जान तक देने को तैयार रहते थे। बरंच विचार के देखो तो उनके फक्कड़पन का उद्देश्य ही यह पावोगे कि अपने तथा अपनायत वालों के साथ विरोध करनेवाले को जैसे बने वैसे नीचा दिखाये रहना। क्या यह उत्तम गुण इस काल के भद्र पुरुषों में भी है ?

हम तो देखते हैं नई उमर के पढ़े-लिखे लोग पड़ोसी बुड्ढे की क्या सगे बाप की भी झिड़की, अपना सौभाग्य समझ के, आदर के साथ नहीं सहते एवं चाहे जैसा गहिरा मित्र अथवा उपकारी क्यों न हो पर उसकी बात अटकने पर टालमटोल ही करते हैं। सामर्थ्य होने पर भी किसी आत्मीय के धन, मानादि की रक्षार्थ अपने लिये थोड़े फँसाव में डालना भी बेवकूफी समझते हैं। सच है नई 2 अक्लि के आगे पुरानी बातें बेवकूफी तो हई हैं। पर याद रखो, जिस बेवकूफी से अपने धन, धर्म, एकता, प्रतिष्ठा, बल, बड़ाई का अनुका बना रहे वह बेवकूफी ऐसी समझदारी से लाख बिस्वा अच्छी है जिससे ऊपर वाली सभी बातों पर पानी फिरता है। जैसा इस समय में देख पड़ता है कि आगे के बेवकूफ, भले-बुरे, खोटे-खरे चाहे जैसे थे पर अपनी बात निभाने के लिए किसी हानि तथा कष्ट से मुँह न मोड़ते थे !

साधारण लोग भी कहा करते थे कि बात और बाप एक है पर आजकल के अक्लमंदों ने इसके विरुद्ध यह कहावत निकाली है कि मर्द की जबान और गाड़ी का पहिया फिरता ही रहता है। यह बात कहते ही नहीं हैं बरंच सौ में नब्बे प्रत्यक्ष दिखा देते हैं कि आज उसी से दाँतकटी रोटी है कल उसी से हड़परई की ठहर जायगी। मुँह से मित्र,. भाई, चचा क्या कहते बाप बना लें पर जी यही रहता है कि किसी तरह इसको छकाना चाहिए। अपनी जमाना चाहिए। आगे के लोग कही हुई का और भी अधिक ध्यान रखते थे। सब बहुधा करते थे, भाई सुफेदी पर स्याही चढ़ा के धरम तौ न छोड़ैंगे। चार जनों के आगे झूठा बनने से मर जाना अच्छा है। पर अब बड़े-बड़ों से चाहे जो लिखवा लो पर काम पड़ने पर सिवा टाले वाले के कुछ न देखौगे।

लोकलज्जा तौ कोई बात ही नहीं रही। अपने जी में जो जैसा चाहे समझा करे, कोई मुँह पर कहने थोड़ी आवैगा। बस छुट्टी हुई। इसी भाँति परलोक का भी खयाल है। अगले लोग समझते थे कि और बातों में चाहे जो करना पड़े पर गऊ ब्राह्मण के बीच में बेईमानी करैंगे तो नर्क में भी ठौर न मिलेगा। अब इसके विरुद्ध ब्राह्मणों की निंदा करना बाजे 2 समुदायों का धार्मिक कृत्य हो गया है और उनका धन हरना कुशूलधान्य, मान हरना बुद्धिमत्ता एवं येनकेनप्रकारेण नीचा दिखाये रहना परम चातुर्य है। तथा गौवें बोल नहीं सकतीं इससे और भी दुर्दशा सहती हैं। सैकड़ों ब्राह्मण बैश्य उन्हें प्रत्यक्ष वा हेर-फेर के साथ बधिकों के घर पहुँचाते हैं। बीसियों धर्मध्वजी उनकी रक्षा के बहाने चंदा समेट 2 अपना पेट भरते और अपनी दुराशा की पूर्ति करने वाले समुदाय के आगे भेंट धरते रहते हैं।

यह हम नहीं कह सक्ते कि आगे छल, कपट, अधर्म, अन्याय का कहीं लेश न था। नहीं, अच्छे-बुरे लोग सतयुग तक में थे, पर तौ भी दुराचार और कुव्यवहार की एक हद्द थी जिसका उल्लंघन करना वे लोग भी अच्छा न समझते थे जिनका निर्वाह ही बुरी रीति पर निर्भर था। यहाँ तक कि डाकू और लुटेरे भी ब्राह्मणों, दुर्बलों और अबलाओं को बचा देते थे। पर अब तौ हम देखते हैं स्वतंत्रता की धुन ऐसी समाई है कि किसी को ईश्वर और धर्म का कुछ डर ही नहीं रहा। यद्यपि स्वतंत्रता गधे के सींगों के समान कहने ही मात्र को है, वास्तव में अस्तित्व इतना ही रखती है कि धाय धूप के

महँगा-सस्ता, मोटा-महीन, खा-पहिन लो और रात को सो रहो। इतने में बहुधा कोई प्रत्यक्ष बाधा न पड़ेगी। पर इतने ही पर लोगों के दिमाग इतने ऊँचे चढ़ गए हैं कि मानो अब इन्हें कुछ करना ही नहीं है। कोई इनके ऊपर ही नहीं। कोई अभाव रहा ही नहीं। नहीं तो जिसके पुरखों की सहस्रों वर्ष की प्रगट एवं प्रच्छन्न पूँजी नाश हो गई हो और बची-खुची भी सैकड़ों द्वार से दिन 2 नष्ट हो रही हो उसे निश्चिंत हो बैठना चाहिए ? सौ काम छोड़ अपने उद्धार का मार्ग न ढूँढ़ना चाहिए ? पर क्या कीजिए यहाँ तो जो कोई सुधार की युक्ति बताता है वही सहायता पाने के स्थल पर नक्कू बनाया जाता है, उसी के विरुद्ध उद्योग किये जाते हैं अथवा स्वयं कहता कुछ है, करता कुछ है। इन्हीं लक्षणों से हमें जान पड़ता है कि सब समय का फेर है जिसके मारे अवनति होती जाती है पर तुम लोग उन्नति समझते हो। नहीं तो जो सुख, सम्पत्ति, सुचाल हमारे देखे हुए काल में थी वह अब नहीं रही तो उन्नति कैसी। हाँ यह कहो कि परमेश्वर की बड़ी 2 बाँहें हैं, उन्हें सब सामर्थ है, वे चाहेंगे तो कभी दिन फेर देंगे पर आज तो सब कुछ देख-सुन, सोच-समझ के यही कहते बनता है कि समय का फेर है॥ शुभमस्तु॥

खं० 5, सं० 10, 11 (19 मई, जून ह० सं० 5)
खं० 6, सं० 8, 9, 10 (15 मार्च, अप्रैल, मई ह० सं० 6)

एक

इस अनेकवस्त्वात्मक विश्व का कर्त्ता, धरता, भर्ता, हर्ता परमेश्वर एक है ! उसके मिलने का मार्ग प्रेम ही केवल एक है। आदिदेव श्रीगणेश जी के दाँत एक है। अंकशास्त्र का मूल एक है ! सत्पुरुष की बात एक है ! उनका वचन यही है कि बात और बाप एक है। परमपूजनीय स्त्री के पति एक है। दिन का प्रकाशक दिवाकर एक है। रात में भी यावत तेजधारियों का राजा निशानाथ एक है। सबकी उन्नति का कारण दृढ़ोद्योग एक है। सबके नाश का मूल आलस्य एक है। जहाँ तक बिचार करते जाइए यही सिद्ध होगा कि तीन काल और तीन लोक में जो कुछ है सब एक ही तंत में बँधा है ! कोई बात बिचारना हो, जब तक एक चित्त होके, एकांत में बैठ के, न बिचारिएगा कभी न विचार सकिएगा।

यदि किसी एक पदार्थ को अनेक भागों में विभक्त कर डालिए तो उसका नाम, रूप, गुण कुछ भी न रहेगा। सौ रुपए का लेंप है, यदि उसके प्रत्येक अवयव को अलग 2 कर दीजिए तो किसी अंग का नाम चिमनी है, किसी खंड का नाम कुप्पी है, कोई भाग बत्ती कहलाता है, कोई तेल बोला जाता है। ल्यंप कहाने के योग्य कोई अंश न रहेगा। वह सुंदरता भी जाती रहेगी। एक टुकड़ा काँच किसी चिलम-सा है, एक चपटा गोला-सा है। बत्ती अलग लत्ता-सी पड़ी है, तेल अलग, दुखियों के से आँसू बहा 2 फिरता है।

मुख्य काम अर्थात् अंधकार मिटाना तो सर्वथा असंभव है। यदि एक 2 अवयव को भी अनेक खंड

कर डालिए तो और भी दुर्दशा है। जिसे महफिल की शोभा समझते थे वुह राह में फेंकने योग्य भी न रहेगा (ऐसा न हो किसी को गड़ जाय) और आगे बढ़िए तो धूल ही हाथ लगेगी। इस छोटे-से उदाहरण को सामने रख के संसार भरे की वस्तुओं को देख जाइए, यही पाइएगा कि एक का अनेक होना ही नाश का हेतु है। इसके विरुद्ध छोटे से छोटा राई का दाना और बड़े से बड़ा पर्वत अपनी बोली में यही कह रहा है कि अनेक परमाणुओं का एक हो जाना ही अस्तित्व की सफलता है! एक की सामर्थ्य यह है कि एक औ एक ग्यारह होते हैं।

यदि देशकालादि की सहायता न पावैं तौ भी दोनों बने बनाए हैं! उन एक और एक में एक और मिल जाय तो एक सौ ग्यारह हो जायँगे अथवा इक्कीस तथा बारह नहीं तो हारै दरजे तीन तौ हई। फिर न जाने आप एक को क्यों नहीं दृढ़ता से चाहते। असंख्य तक गिन जाइए अंत में यही निकलेगा कि सब एक की माया है। हमारे यहाँ पंचपरमेश्वर प्रसिद्ध है सो बहुत ठीक है।

पाँच मनुष्य एक मत हो के जिस बात को करें उसे मानो सर्वशक्तिमान आप कर रहा है। ऐसा कोई काम नहीं है जो बहुतों की एकता से न हो सके। चारि जने चारिहू दिशा से एकचित ह्वै कै मेरु को हलाय कै उखारें तो उखरि जाय पर जिसके भाग सुख नहीं है उसके समझ में, एकता क्या है, कभी आवैहीगा नहीं। समझ में भी आवैगा तौ बर्ताव में लाना कठिन है। नहीं तो जमात से करामात होती है। आपके पास विद्या, बल, धन, बुद्धि कुछ भी न हो पर एका हो तो सब हो सकता है। वह देश धन्य है जहाँ एक्य की प्रतिष्ठा हो। बहुत-से लोग एक हो के पाप भी करें तो भी पुण्य फल पावैंगे। बहुत लोग एक हो के मर जायँ तो भी अनैक्यदूषित जीवन से अच्छा है।

एक का वर्णन एक मुँह से हम कहाँ तक करें। एक तो भगवान का नाम है—एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति और वह सर्वसामर्थी। फिर भला उसके किए क्या नहीं होता? उसकी श्रीमुख आज्ञा है कि 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज'। शास्त्रार्थ की बड़ी गुंजाइश है पर हम तो प्रत्यक्ष प्रमाण से कह सकते हैं कि आप एक हो के देख लीजिए कि सब कुछ हो सकता है या नहीं। पाठक! क्या तुम्हें सदा 'ब्राह्मण' के मस्तक पर एक का चिह्न देख के उसका महत्त्व कुछ अनुभव होता है? तौ फिर क्यों नहीं सब झगड़े छोड़ के सत चित्त से एक की शरण होते? क्यों नहीं एक होने और एक करने का प्रयत्न करते?

खं० 5 सं० 11 (15 जून ह० सं० 5)

सोश्यल कान्फरेन्स

जैसे राजनैतिक विषयों के संशोधनार्थ नेशनल कांग्रेस की आवश्यकता है वैसे ही सामाजिक सुधार के निमित्त सोश्यल कान्फरेन्स की भी आवश्यकता है। पर परमेश्वर की दया से हमारी जातीय महासभा

ने तो पाँच वर्ष में बहुत कुछ (आशा से अधिक) योग्यता प्राप्त कर ली और निश्चय है कि यों ही उत्तरोत्तर वृद्धि करती रहेगी । इसके द्वेषियों ने जब प्रसिद्ध किया कि यह केवल बाबू कांग्रेस अथवा हिंदू कांग्रेस है तब इसने एक से एक प्रतिष्ठित मुसलमानों को संग लेके दिखला दिया कि यह कथन निरा निर्मूल है । जब यह उड़ाया कि सर्कारी कर्मचारियों में से कोई इसका सहानुभूति करनेवाला नहीं है तब अबकी बार श्रीमान् सर डब्ल्यू बेडर बर्न महोदय ने सभापति के आसन को शोभित करके इस कुतर्क की भी जड़ काट दी ।

पारसाल जब इसके विपक्षी बरसात के मेढकों की भाँति ऐसे बढ़े थे कि जान पड़ता था कि कुछ होने ही न पावेगा तब महासमाज ने—'जस 2 सुरसा बदन बढ़ावा, तासु दुगुन कपि रूप दिखावा'—का उदाहरण दिखला दिया । अबकी बार रुपये के अभाव से बहुतेरे द्वेषी दाँत बाते थे और हितैषी भी चिंता में थे कि चालीस सहस्र मुद्रा प्रति वर्ष व्यय के लिये न मिलेगी तो काम चलना कठिन है । पर बंबई में आध घंटे के बीच तिरसठ हजार रु० इकट्ठे हो गये । इससे प्रत्यक्ष हो गया कि कांग्रेस 'सर्वेषामपिदेबानान्तेजोराशिसमुद्भवाम्' दुर्गा ही नहीं बरंच क्षण भर में सारे दुःख-दरिद्र हरनेहारी लक्ष्मी भी है । इन लक्षणों से विश्वास होता है कि एक दिन इसके समस्त उद्देश्य सफल होके राजा-प्रजा दोनों का वास्तविक हितसाधन करेंगे और इसके कारण महात्मा ब्रैडला एवं ह्यूम बाबा की सत्कीर्ति भारत और इंगलैंड में सूर्य-चन्द्रमा की स्थिति तक कृतज्ञता के साथ गाई जायगी । पर समाज संशोधनी महासभा, (जो गत दो वर्ष से कांग्रेस ही के मंडप के नीचे अंतिम दिन एकत्रित होती है) जो इसकी सगी बहिन है, अभी निरी भोली है ।

यद्यपि इसके संचालक भी वही लोग हैं जो जाति सभा के शक्तिदाता हैं पर यतः समाज का सुधारना राजकाज के संशोधन से भिन्न विषय है और सब बातों की पूर्ण योग्यता प्रत्येक पुरुष में नहीं होती । अतः सोश्यल कान्फरेन्स की कृतकार्यता के लिये वर्तमान प्रणाली हमारी समझ में ठीक नहीं है और इसी कारण इसके लिये दूसरे मार्ग का अवलम्बन अत्यावश्यक है । समाज में किसी नवीन बात का प्रचार करना उन सज्जनों को अधिक सुखसाध्य होता है जिनके चरित्र समाज की रीति-नीति से विरुद्ध न हों तस्मात जो लोग विलायत हो आए हैं अथवा यहीं रह के खानपानादि में बिलायत वालों का अनुसरण करते हैं व सामाजिक धर्म छोड़ के विदेशी धर्म ग्रहण कर लिया है वे अपनी विद्या, बुद्धि एवं लोकहितैषी के लिये चाहे जैसे समझे जायँ पर समाज की दृष्टि में आदर नहीं पा सक्ते अथच उनके बड़े 2 विचार पढ़े-लिखे लोगों के चित्त को चाहे जैसे जचैं पर समाज में प्रचलित होना निरा असंभव चाहे न हो किंतु महा कठिन अवश्य है ।

इसके अतिरिक्त यह भी बहुत ही सत्य है कि जिन बातों की ओर जिस प्रतिष्ठा के लोग चलाया चाहें सुख से नहीं चल सक्तीं । इन उपर्युक्त बातों पर पूरा ध्यान दिये बिना कान्फरेन्स कभी फलवती न होगी । यह यद्यपि कांग्रेस की बहिन है और प्रभाव भी उसी का-सा रखती है पर स्वभाव इसका अन्य प्रकार का है । यह कांग्रेस की भाँति हिंदू-मुसलमान-क्रिस्तानादि सब धर्म के लोगों का एक होना नहीं चाहती । इसे केवल इतना ही अभीष्ट है कि हिंदू हिंदुओं की रीति-नीति सुधारें, मुसलमान मुसलमानों की चाल-ढाल ठीक करें । इनके कामों में वे हस्तक्षेप करें न उनकी बातों में ये बोलें । क्रिस्तानों के विषय में हमें कुछ वक्तव्य नहीं है क्योंकि उनके यहाँ इंगलैंडीय जाति का-सा बर्त्ताव है जिसमें बाल्यविवाहादि कुरीतियाँ हुई नहीं ।

फारसियों के सामाजिक व्यवहार का हमें पूरा ज्ञान नहीं है इससे कुछ कह नहीं सक्ते। रहे हमारे हिंदू-मुसलमान भाई, उनके विषय में हम प्रणपूर्वक कहते हैं कि अपनी ही जाति के उन लोगों के विचारांश का आदर न करेंगे जो भोजनाच्छादनादि में प्रथकता रखते हैं फिर भला दूसरों की तो क्यों मानने लगे। अबकी बार कान्फरेन्स की कार्य प्रणाली से अधिकतर लोग प्रसन्न नहीं हुए। इसके बड़े कारणों में से एक तो यह था कि सत्यानंद स्वामी और पंडिता रामाबाई ने हिंदुओं के विषय में वक्तृता की जब कि आर्यसमाजी, जो वेद को भी मानते हैं और खाद्याखाद्य का भी विचार रखते हैं, वे ही समाज में पूर्णरूपेण आदरणीय नहीं हैं, मूर्ति पुराणादि के न मानने कारण दुरदुराये जाते हैं तो उपर्युक्त स्वामीजी तथा पंडिताजी की बातें किसी को क्या रुच सकती थीं। दूसरा कारण यह था कि चार रिजोल्यूशन पास हुए चारों में 'मारूँ घुटना फूटै आँख' का लेखा था। पहिला रिजोल्यूशन था कि 14 वर्ष की अवस्था तक दूल्हा-दुलहिन का संग न होने पावे। यदि कोई इस नियम के विरुद्ध चले वह सर्कार से दंडित किया जावे। हम पूछते हैं सर्कार किस 2 के घर में पहरा बिठलावैगी ? माता-पिता इस अवस्था में ब्याह ही न करें तो ऐसा अनर्थ क्यों हो ? सर्कार की दुहाई देने का क्या काम है ?

दूसरा प्रस्ताव यह था कि यदि कोई पुरुष समाज संशोधन का प्रण करके और इस सभा का मेम्बर हो के नियम विरुद्ध चले तो दंड पावै। खैर यह एक मामूली बात है, कोई विशेषता नहीं है। तीसरा प्रस्ताव 1956 वाले विधवा विवाह आईन के सुधार पर था। यह निरा व्यर्थ था। अच्छे हिंदू-मुसलमान अभी विधवा विवाह के समर्थक ही नहीं हैं। जो इने-गिने हैं भी वे समाज में सम्मानित नहीं हैं। और यदि बाल-विवाह की प्रथा उठ जाय तो विधवा-विवाह की बड़ी आवश्यकता ही न रहे। फिर यह कुसमय की रागिनी छेड़ना समय की हत्या करना न था तो क्या था ? सच तो यह है कि मरे हुए पति की सम्पत्ति अन्यगामिनी बिधवा को दिलाने के लिये सर्कार का आश्रय लेना देश में दुराचार के आधिक्य में सहाय देना है। इसमें समाज का क्या भला होगा ?

चौथा प्रस्ताव अति ही विचित्र था, अर्थात् बिधवा होने पर जब तक स्त्री पंचों और मजिस्ट्रेट के सामने अपने केश कटवाने की सम्मति न दे दे तक तक उसके बाल न काटे जायँ। यदि कोई उसकी इच्छा के बिना ऐसा करे तो राजनियम का अपराधी हो। वाह री नई सभ्यता ! भारतीय विधवा न ठहरी बीरांगना ठहरी ! इसमें उसे कष्ट क्या होता है ? हानि क्या होती है ? सड़ी 2 बातों के लिये कानून बनवाने से देश का क्या हित होगा ? जो बातें प्रजा स्वयं कर सक्ती है उनमें राजा को हाथ डालना कहाँ की नीति है ? यदि यही सुधार है तो अगले वर्ष एक विचार होगा कि ब्याह के समय लड़कों को रंगीन कामा पहिनना पड़ता है इससे वे लिल्ली घोड़ी का-सा स्वाँग बन जाते हैं, व स्कूल के पढ़ने तथा कोट-पतलून पहनने वाले लड़कों की रुचि के विरुद्ध है, इससे कानून बनना चाहिए कि जब तक लड़का कई लोगों के सामने मजिस्ट्रेट के आगे सम्मति न प्रकट करै तब तक माता-पिता उसे झंगवा पहिना के स्वाँग न बनावैं नहीं सजा पावेंगे।

भला ऐसी बातों से समाज का कौन-सा अभाव टल जायगा ? हमारे राजनीतिक प्रतिनिधियों को चाहिए कि इस विषय में चुने 2 पंडितों और मौलबियों को उत्तेजना दें कि वे प्रत्येक समुदाय के मुखिया लोगों को इस ओर झुकाते रहें कांग्रेस की भाँति समय 2 पर ठौर यतद्विषयक व्याख्यान दिये जायँ। समाचारपत्रों में लेख लिखे जायँ। चंदा एकत्र किये जायँ। छोटी 2 पुस्तकें थोड़े मूल्य पर वितरित हों। अवसर पर नगर 2 समूह 2 से प्रतिनिधि भेजे जाया करें। तब कुछ हो सकेगा। नोचेत् जो बात

कांग्रेस ने पाँच वर्ष में प्राप्त कर ली है वह कान्फरेन्स को पचास वर्ष में भी दुर्लभ रहेगी ।

स्मरण रहे कि समाज को जितना संबंध ब्राह्मणों तथा मौलवियों से है उतना गवर्नमेंट से कदापि नहीं है। गवर्नमेंट यदि कुछ लोगों को या धन को एकत्र किया चाहै तो बीस उलझाव पड़ैंगे, बीस वाद-बिवाद उठैंगे, तब कहीं जबरदस्त का ठेंगा शिर पर समझ के लोग सहमत होंगे । पर यदि हमारें पंडित महाराज आज्ञा कर दें कि अमुक दिन अमुक पर्व है, उसमें अमुक स्थल पर स्नान-दानादि का महात्म होगा, फिर देख लीजिये ठीक समय पर उसी ठौर कितनी प्रसन्नता से कितने लोग तथा कितना कुछ इकट्ठा हो जाता है। यह प्रत्यक्ष महिमा देखकर भी जो लोग विप्र बंश का आश्रय न लेकर अन्यान्य रीतियों से समाज के सुधार का यत्न करते हैं वह भूलते नहीं तो करते क्या हैं ?

इस विषय में जितनी शीघ्रता और सुंदरता के साथ ब्राह्मणों के द्वारा कार्य सिद्धि होगी उतनी गवर्नमेंट एवं तत्स्थापित कानून द्वारा कभी न हो सकेगी । यों बात 2 में पराधीनता का प्रेम फसफसाता हो तो और बात है । इसके निमित्त यदि आदरणीय पंडित अयोध्यानाथ जी, मान्यवर पंडित मदनमोहन मालवीय महोदय, श्रीमान पं० दीनदयालु तथा भारतधर्म महामंडल एवं विप्र बंश महोत्सव के अन्यान्य उत्साही सद्व्यक्ति कटिबद्ध होंगे और तन, मन, धन से उद्योग करैंगे तभी कुछ हो सकेगा, नहीं तो कान्फरेन्स में सदा खिलवाड़ ही होता रहेगा । हम इन सज्जनों से अनुरोधपूर्वक विनय करते हैं कि शीघ्र इस ओर दत्तचित हों । इसमें कांग्रेस का भी बहुत भारी उपकार संभावित है । हमें पूर्ण आशा और महान अभिलाषा है कि उपर्युक्त महानुभावों के प्रसाद से आगामी वर्ष में कान्फरेन्स को भी सर्वगुणसंपन्ना देखेंगे ।

खं० 6, सं० 6 (15 जनवरी, ह० सं० 6)

दो

दकार की दुरूहता हमारे पाठकों को भली भाँति विदित है और यह शब्द उसी में और एक तुर्रा लगा के बनाया गया है । इससे हमें यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह भी दुःख दुर्गुणादि का दरिया ही है । क्योंकि सभी जानते हैं— 'नहिं विष बेलि अमिय फल फरहीं', पर इतना समझ लेने ही से कुछ न होगा । बुद्धिमान को चाहिए कि जिन बातों को बुरा समझे उन्हें यत्नपूर्वक छोड़ दे किंतु यतः संसार की रीति है कि जब कोई जानी-बूझी बात को भी चित्त से उतार देता है तो उसके हितैषियों को उचित होता है कि सावधान कर दें ।

इसी से हम भी अपना धर्म समझते हैं कि अपने यजमानों को यह दुर्गतिदायक शब्द स्मरण करा दें, क्योंकि 'ब्राह्मण' के उपदेश केवल हँस डालने के लिये नहीं हैं वरंच गाँठ बाँधने से अपना एवं अपने लोगों का हित साधने में सहारा देने के लिये हैं । फिर हम क्यों न कहें कि 'दो' पर ध्यान दो

और उसे छोड़ दो । इस वाक्य से कहीं यह न समझ लेना कि वर्ष समाप्त होने में केवल तीन मास रह गए हैं इससे दक्षिणा के लिये बार 2 दो 2 (देव 2) करते हैं । हाँ, इस विषय पर भी ध्यान दो और हमें ऋण हत्या से शीघ्र छुड़ा दो तो तुम्हारी भलमंसी है, पर हम यद्यपि अपना माँगते हैं अपने पत्र का मूल्य माँगते हैं, तो भी पाँच वर्ष में अनुभव कर चुके हैं कि देने वाले बिन माँगे ही भेज देते हैं और नादिहंद सहस्र बार माँगने, सैकड़ों चिट्ठी भेजने पर भी दोनों कान एवं दोनों आँख बंद ही किए रहते हैं । इससे हमने इस दुष्ट 'दो' के अक्षर को बोलना ही व्यर्थ समझ लिया है ।

हाँ, जो दयावान हमारे इस प्रण को पूरा करने में सहायता देते हैं अर्थात् 'दो 2' कहने का अवसर नहीं देते उनको हम भी धन्यवाद देते हैं । पर इस लेख का तात्पर्य 'दो' शब्द का दुष्ट भाव दिखलाना और यथासाध्य छोड़ देने का अनुरोध करना मात्र है न कि कुछ माँगना-जाँचना । यदि तनिक भी इस ओर ध्यान दीजिएगा कि 'दो' क्या है तो अवश्य जान जाइएगा कि इसको मन, वचन, कर्म से त्याग देना ही ठीक है । क्योंकि यह हई ऐसा कि जिससे कहो उसी को बुरा लगे । कैसा ही गहिरा मित्र हो पर आवश्यकता से पीड़ित हो के उससे जाचना कर बैठो अर्थात् कहो कि कुछ (धन अथवा अन्य कोई पदार्थ) दो तो उसका मन बिगड़ जायगा । यदि संकोची होगा तो दे देगा किंतु हानि सह के अथवा कुछ दिन पीछे मित्रता का संबंध तोड़ देने का विचार करके ।

इसी से अरब के बुद्धिमानों ने कहा है—अल् कर्ज मिकराजुल मुहब्बत । जो कपटी वा लोभी वा दुकानदार होगा तो एक 2 के दो 2 लेने के इरादे पर देगा सही पर यह समझ लेगा कि इनके पास इतनी भी विभूति नहीं है अथवा बड़े अपव्ययी हैं । यदि ऋण की रीति पर न माँग के यों ही इस शब्द का उच्चारण कर बैठो तो तुम तो क्या हो भगवान की भी लघुता हो चुकी है— 'बलि पै माँगत ही भयो बावन तन करतार' ।

यदि दैवयोग से प्रत्यक्षतया ऐसा न हुवा तो भी अपनी आत्मा आप ही धिक्कारेगी, लज्जा कहेगी— 'को देहीति बदेत् स्वदग्धजठरस्यार्थे मनस्वी पुमान्' । यदि आप कहें, हम माँगेंगे नहीं, देंगे, अर्थात् मुख से दो 2 कहेंगे नहीं किंतु कानों से सुनेंगे, तो भी पास की पूँजी गँवा बैठने का डर है । उपदेश दीजिएगा तो भी अरुचिकर हुवा तो गालियाँ खाइएगा, मनोहर होगा तो यशःप्राप्ति के लालच दूसरे काम के न रहिएगा । इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिल सक्ते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि 'दो' का कहना भी बुरा है, सुनना भी अच्छा नहीं । हमारी गवर्नमेंट सब बातों में परम प्रशंसनीय है पर इस बात में बदनाम है कि सदा यही कहा करती है, यह टिकट दो, यह लाइस्यन्स दो, इसका चंदा दो, इसका महसूल दो । और हम यद्यपि डर के मारे देते हैं पर दिन 2 दरिद्री अवश्य होते जाते हैं अथच यदि हमारे कोई 2 भाई कहते हैं कि हमें भी यह अधिकार दो, वह आज्ञा दो, तो अनेक हाकिमों की रुष्टता के पात्र बनते हैं तथा अनेक एंगलोइंडियन पत्रों को सर्कार से ताने के साथ कहते हुए सुनते हैं और भी इन ढीठ काले आदमियों को विद्या दे, बुद्धि दे, बोलने दो । कहाँ तक कहें यह 'दो' सबको अखरते हैं ।

चाहे जिस शब्द में 'दो' को जोड़ दो उसमें भी एक न एक बुराई ही निकलेगी । दोख (दोष) कैसी बुरी बात है । जिसमें सचमुच हो उसके गुणों में बट्टा लगा दे, जिस पर झूठमूठ आरोपित किया जाय उसकी शांति भंग कर दे । दोज़ख (नर्क अथवा पेट) कैसा बुरा स्थान है जिससे सभी मतवादी डरते हैं, कैसा वाहियात अंग है जिसकी पूर्ति के लिए सभी कर्तव्याकर्तव्य करने पड़ते हैं । 'दोत्' कैसा तुच्छ

संबोधन है जिसे मनुष्य क्या कुत्ते भी नहीं सुनना चाहते । दोपहर कैसी तीक्ष्ण वेला है कि ग्रीष्म तो ग्रीष्म, शीत ऋतु में भी सुख से कोई काम नहीं करने देती । दोहर कैसा बेकाम कपड़ा है कि दाम तो दूने लगें पर जाड़े में जाड़ा न खो सके, गरमी में सह्य न हो सके । हाँ, दोहा एक छंद है जिसे कवि लोग बहुधा आदर देते हैं, सो भी जब उसमें से दो की शक्ति हनन कर लेते हैं । इससे यह ध्वनि निकलती है कि जहाँ दो होंगे वहाँ उनका भाव भंग ही कर डालना श्रेयस्कर होगा । इसी से ईश्वर ने हमारे शरीर में जो 2 अवयव दो 2 बनाये हैं उनका रूप-गुण-कार्य एक कर दिया है । यदि कभी इस नियम में छुटाई-बड़ाई इत्यादि के कारण कुछ भी त्रुटि हो जाती है तो सारी देह दोषपूर्ण हो जाती ।

हाथ, पाँव, आँख, कान इत्यादि यदि सब प्रकार एक से हों तभी सुविधा होती है । जहाँ कुछ भी भेद हुआ और दो का भाव बन रहा वहीं बुराई है । इससे सिद्ध है कि नेचर हमें प्रत्यक्ष प्रमाण से उपदेश दे रहा है कि जहाँ दो हों वहीं दोनों को एक करो, तभी सुख पावोगे । ऋषियों ने भी इसी बात की पुष्टि के लिए अनेक शिक्षाएँ दी हैं । स्त्री का नाम अर्द्धांगी इसीलिये रखा है कि स्त्री और पुरुष परस्पर दो भाव रखेंगे तो संसार से सुख का अदर्शन हो जायगा । इनकी रुचि और उनकी और, उनके विचार और इनके और होने से गृहस्थी का खेल ही मट्टी हो जाता है— 'खसम जो पूजै द्योहरा, भूत पूजनी जोय । एकै घर में दो मता कुशल कहाँ ते होय ।' इससे इन दोनों को परस्पर यही समझना चाहिए कि हमारा अंग इसके बिना आधा है । अर्थात् इसकी अनुमति बिना हमें कोई काम करने के लिए अपने तईं अक्षम समझना उचित है ।

प्रेम सिद्धांत भी यही सिखाता है कि सीताराम, राधाकृष्ण, गौरीशंकर, माता-पिता आदि पूज्य मूर्तियों को दो समझना अर्थात् यह विचारना कि यह और है वह और है, इनका महत्त्व उनसे कुछ न्यूना-धिक है, महापाप है । फारसी में दोस्त का शब्द भी यही द्योतन करता है कि दो का एक रहना ही सार्थकता है । नहीं तो 'दो' बहुवचन है, उसके साथ स्त=अस्त क्रिया न होनी चाहिए थी । व्याकरण के अनुसार स्तंद=अस्तंद वा हस्तंद होना चाहिए । पर नहीं, बहुवचन की क्रिया होने से द्वैतभाव प्रकाश होता इससे यही उचित ठहरा कि शरीर दो हों तो भी मन, वचन, कर्म एक होना चाहिए । इसी से कल्याण है । नहीं तो जहाँ दो है वहीं अनर्थ है । संसार को हमारे पूर्वजों ने दुःखमय माना है— 'संसारे रे मनुष्या बदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किंचित्' । इसका कारण यही लिखा है कि इसका अस्तित्व द्वंद्व पर निर्भर है । अर्थात् मरना और जन्म लेना जब तक रहता है तब तक शांति नहीं होने पाती । इससे यत्नपूर्वक इन दोनों (जन्म-मरण) से छूट जाय तभी सदा सुखी अर्थात् मुक्त होता है । हमारे प्रेमशास्त्र में भी यही उपदेश है कि इस द्वंद्व (मरण जीवन) में से एक का दृढ़ निश्चय कर ले वही निर्द्वंद्व अर्थात् जीवनमुक्त होता है । या तो प्रेम समुद्र में डूब के मर जाय अर्थात् सुख-दुख, हानि-लाभ, निंदा-स्तुति, स्वर्ग-नर्कादि की इच्छा, चिंता, भय इत्यादि से मृतक की नाईं सरोकार न रक्खे, या प्रेमामृत पान करके अमर हो रहे । अर्थात् दुःख, शोक, मरण, नर्कादि को समझ ले कि हमारा कुछ कर ही नहीं सकते । बस इसी से सब लोक-परलोक के झगड़े खतम हैं ।

यदि इन शास्त्रों के बड़े 2 सिद्धांतों में बुद्धि न दौड़े तो दुनिया में देख लीजिये कि जितनी बातें दो हैं अर्थात् एक-दूसरी से सर्वथा असम्बद्ध हैं उनमें से एक रह जाय तो कभी किसी को दुख न हो । या तो सदा सुख ही सुख हो तो जी न ऊबे या सदा दुख ही दुख बना रहे तो न अखरे— 'दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना' सदा लाभ ही लाथ होता रहे तो क्या ही कहना है । नोचेत् सदा हानि ही

हानि हो तो भी चिंता नहीं । आखिर कहाँ तक होगी ? इसी प्रकार संयोग, वियोग, स्तुति, निंदा, स्वतंत्रता, परतंत्रता इत्यादि सबमें समझ लीजिये तो समझ जाइएगा कि दो होना ही कष्ट का मूल है। उनमें से एक का अभाव हो तो आनंद है अथवा जैसे बने वैसे दोनों को एक कर डालने में आनंद है । भारत का इतिहास भी यही सिखलाता है कि कौरव-पांडव दो हो गये अर्थात् एक-दूसरे के विरुद्ध हो गये इसी से यहाँ की विद्या, वीरता, धन, बल सब में घुन लग गया । यदि एक रहते तो सारा महाभारत इतिश्री था । अंत में पृथिवीराज जयचंद दो हो गए इससे रहा सहा सभी कुछ स्वाहा हो गया । यदि अब भी जहाँ 2 दो देखिये वहाँ 2 सच्चे जी से एक बनाने का प्रयत्न करते रहिये तो दो साथ ही सारे दोष, दुर्भाव, दुख दूर हो जायँगे । नहीं तो दो जो कुछ है सो हम दिखला ही चुके। इनसे जो कुछ होता है सो यदि समझ में आ गया हो तो आज ही से अपने कर्तव्य पर ध्यान दो नहीं तो इस दाँताकिटकिट को जाने दो ।

खं० 6, सं० 9 (अप्रैल ह० सं० 6)

अब बातों का काम नहीं है

हिंदी ही अक्षर सब अक्षरों से सहज और शुद्ध है । हिंदी ही भाषा सब भाषाओं से उत्तम है । विशेषतः हिंदुओं का सच्चा गौरव, सच्चा लौकिक-पारलौकिक सुख-सौभाग्य इसी पर निर्भर है । इन बातों को हम और हमारे सहयोगी गण एक बार नहीं सौ बार सिद्ध कर चुके हैं इससे बार 2 लिखना-पढ़ना व्यर्थ है । यदि किसी को इसके विरुद्ध हठ हो तो आवै हम शास्त्रार्थ के लिये कटिबद्ध हैं । पर इन बातों से क्या ? यह तो छोटे 2 बच्चे भी जानते हैं कि सब देश के मनुष्यों ही की नहीं बरंच जीव-जंतुओं की भी एक स्वतंत्र बोली होती है और सबको अपनी बोली से ममता भी होती है । सुग्गा मैना पेट के लिये मनुष्यों की-सी बोली सीख लेता हैं पर अपने सजातियों में तथा विजातियों में भी अपना आंतरिक भाव प्रकाश करने के लिये अपनी ही बोली का अवलंबन करते हैं ।

खेद है यदि खुशामदी, स्वार्थतत्पर, हृदयशून्य हिंदू चिड़ियों से भी बह जायँ । अन्याय है यदि गवर्नमेंट ऐसे बज्र मूर्खों पर भी दया न करे जो डर और खुशामद के मारे अपनी मातृभाषा के गले पर छुरी फिरते देख के भी कुछ न टसक सकें । हे हिंदुओं ! हम जानते हैं कि तुम्हें अपनी भाषा का रत्ती-भर मोह नहीं है, नहीं तो 'सारसुधानिधि' एवं 'भारतेंदु' आदिक उत्तमोत्तम पत्र बंद न हो जाते । हिंदी का एकमात्र दैनिक पत्र 'हिंदोस्थान' तथा सुलेखमय सच्चे रत्नों का एक मात्र भंडार 'हरिश्चंद्र कला' इस दशा में न होती कि केवल अपने स्वामी ही के धन से चले । पर इन बातों का भी इतना शोच नहीं है ।

अभी तक आशा थी कि आज नहीं तो दश वर्ष में तुम्हें बोध होगा, तब नागरी देवी की महिमा

जानोगे और इसके लिए तन, मन, धन निछावर करने में अपनी प्रतिष्ठा समझोगे। किंतु अब हमारी आशा के गले पर छुरी रख दी गई है। इससे हमें अनुभव हो रहा है कि दस ही बीस वर्ष में तुम्हारी भाषा का नाम न रहेगा और तुम्हारे सर्वनाश का अंकुर दिखाई देने लगेगा।

इससे मानो चाहे न मानो पर हम चिता देना धर्म समझते हैं कि यदि अपने संतान का कुछ मोह हो, अपनी जाति का कुछ भी चिह्न बनाये रखना चाहते हो तो शीघ्र इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की कुमंत्रणा के रोकने के उपाय करो। नहीं तो याद रक्खो कि जहाँ वर्तमान काल के वृद्ध और युवक मरे वहीं हिंदी स्थान में हिंदूपन की गंधि भी न रह जायगी। कई पत्रों से विदित हुआ है कि वहाँ की यूनिवर्सिटी ने हिंदी को सातवीं क्लास तक में नहीं रक्खा। इस घोर अत्याचार की इसके अतिरिक्त और क्या मनसा हो सक्ती है कि संस्कृत कठिन है, उसे अपने बच्चों को पढ़ावेगा कौन, अरबी हिंदुओं के है क़िस काम की ? झख मारेंगे, फारसी पढ़ावेंगे।

एक तो अंग्रेजी ही विदेशी भाषा है, बहुत सहज में आ जाती है, उसके साथ एक और विदेशी भाषा फारसी ठूँस दी गई, जिससे लड़कपन ही से परिश्रम के मारे दिमाग कमजोर हो जाय, बुद्धि उकसने न पावै, दिन-रात दूनी चिंता सिर पर सवार रहे, आँखों की ज्योति और देह का बल जन्म भर क्षीण ही बना रहे, ऊपर से अपने धर्म-कर्म, आचार-व्यवहार का दमड़ी-भर ज्ञान न होने पावे, रँजे-पुँजे घर के हों तो जन्म भर इश्क के बंदे बने रहें, नहीं तो पेट की गुलामी करते 2 मर मिटें, देश, जाति, राजा, प्रजादि के कुछ संबंध न रहे बस। यह पढ़ाई का फल है ! यह विश्वविद्यालय की करतूत है !

इसके लिये हम उसके प्रबंधकर्त्ताओं को दोष नहीं दे सक्ते, क्योंकि सर सैयद अहमद को हिंदुओं की पीर तभी तक थी जब तक अलीगढ़ कालेज के लिये चंदा उघाना था। पंडित लक्ष्मीशंकर की स्वभाषा, निज जाति और अपने देश की ओर जो कुछ ममता है वह काशी पत्रिका ही से प्रत्यक्ष है और वहाँ अपना बैठा ही कौन है ? हिंदू और हिंदूपन का जिसे कुछ मोह हो उसी से इस विषय की आशा कर सक्ते हैं। उसी को इसके लिये उत्तेजना दे सक्ते हैं और कुछ सिद्धि न हो तो उसी से शिकायत कर सक्ते हैं। सो वहाँ एक भी नहीं। अकेले पंडित आदित्यराम हैं सो उनकी कोई सुनता नहीं। बस चलो छुट्टी हुई। हाँ, जिन्हें अपने प्यारे बालकों की भलाई-बुराई की ओर ध्यान तथा निजत्व का ज्ञान हो उन्हें चाहिए कि उक्त विद्यालय की मंत्री सभा के भरोसे पर न भूलें, अपने हिताहित को आप बिचारें और शीघ्र वहाँ हिंदी के पुनरस्थापन का प्रयत्न करें।

इस विषय में प्रयाग हिंदू समाज चाहती है कि समस्त आर्य सभा, धर्म सभा तथा अन्यान्य सभायें एवं देश के शुभचिंतक गण अपने 2 नगर में इसका आंदोलन करें और गवर्नमेंट को प्रार्थना पत्र भेजें अथवा किसी स्थान पर नगर-नगरोत्तर के प्रतिनिधि एकत्रित होके बृहत् सभा के द्वारा राजा और प्रजा से विनती करें और भली भाँति समझावें कि हिंदी के बिना हिंदुओं के सर्वनाश की संभावना है। पर हम कहते हैं, अब बातों का काम नहीं है। जब घर में आग लगे तब बहुत सोच-विचार करना ठीक नहीं। शीघ्र पानी लेके दौड़ना ही श्रेयस्कर है।

सभा वा मेमोरियल जो कुछ करना हो शीघ्र कीजिये, शीघ्र हिंदू समाज के मंत्री मुंशी काशीप्रसाद को अपनी 2 सम्मति दीजिए और सम्मति ही नहीं तन-मन से साथ दीजिए। तथा यह भी समझे रहिये कि गवर्नमेंट केवल मेमोरियल से न पसीजेगी। कचहरियों में हिंदी जारी कराने के लिए, ऊँची क्लासों में हिंदी पढ़ाने के लिए, हिंदी में मिडिल पास करने वालों को सरकारी नौकरी से वंचित न रखने के लिये

मेमोरियल भेज के तथा बड़े 2 प्रमाण दे के देख लिया गया है कि सरकार कुछ ध्यान नहीं देती, जान-बूझ के भी न जाने क्यों हिंदू प्रजा का दुख-सुख नहीं सुनती, इससे दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिए कि जब तक कार्यसिद्धि न होगी तब तक कभी चुप न होंगे। एक बार सुनवाई न होगी तो सौ बार, सहस्र बार निवेदन करेंगे। प्रार्थनापत्रों के मारे इस खंड के चीफ तथा प्राइवेट सेक्रेटरी महाशयों के महल भर देंगे।

द्वार पर प्रार्थकों की भीड़ तथा मेमोरियल का ढेर इतना लगाये रहेंगे कि निकलने-पैठने को राह न रहे। इधर नगर 2, गाँव 2 में रोवैंगे, भीख मागैंगे और अपनी मातृभाषा की धूम मचाये रहैंगे। हिंदूमात्र को समझावैंगे कि लड़के पास हों चाहे न हों पर हिंदी अवश्य पढ़ाओ। तभी कुछ होगा। तभी एक बड़ा समुदाय एवं गवर्नमेंट स्वयं हमारी सहायक हो के मनोरथ पूर्ण करेगी। पर जिन्हें हिंदी की कुछ भी कलक हो उन्हें– 'काल्हि करंते आज कर, आज करंते अब्ब' और– 'प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजंति'–इन दो बचनों को गाँठ बाँध के, मजबूती से सेतुआ कमर बाँध के पीछे पड़ जाना चाहिए। क्योंकि अब तो बातों का काम नहीं है, काम में जुट जाने का काम है। हो सके तो हिंदी की रक्षा के लिए उद्यत हो जाइए नहीं तो हिंदूपन का नाम लीजिए। आखिर एक दिन मिटना है, आज ही सही।

खं० 6, सं० 10 (15 मई ह० सं० 6)

अष्ट कपारी दारिद्री जहाँ जायँ तहँ सिद्धि

यह कहावत हमारे यहाँ बहुत दिन से प्रसिद्ध है और ऐसी प्रसिद्ध है कि लड़के, बूढ़े, पढ़े, अनपढ़, स्त्री, पुरुष सभी जानते हैं। पर खेद है कि देश के अभाग्य ने जहाँ सब उत्तम बातों का मूल नाश कर दिया है वहाँ ऐसे 2 उपर्युक्त उपदेशों पर ध्यान देने की बुद्धि भी खो दी है। नहीं तो इस कहतूत में (जिसे लोग बहुधा दूसरे का उपहास करने में प्रयुक्त करते हैं) ऐसी अच्छी शिक्षा है कि संसार का कोई काम इस पर चलने से कभी रुक ही नहीं सक्ता और किसी व्यावहारिक वस्तु के अभाव से उत्पन्न कष्ट की संभावना ही नहीं रहती।

इस प्रकार की लोकोक्तियाँ बड़े 2 बुद्धिमानों के अनुभूत सिद्धांत हैं पर उनमें से बहुत-सी प्राचीन इतिहासों के मूल पर बनी हैं, जैसे– 'घर का भेदिया लंकादाह', और बहुतेरी अलंकारिक रीति पर वर्णित हैं, यथा– 'जो गुड़ खाय सो कान छिदावे'। इससे उनके अक्षरार्थ मात्र से गूढ़ार्थ समझना कठिन होता है, अतः यदि सर्वसाधारण लोग उनका अनुसरण न कर सकें तो कोई आक्षेप का विषय नहीं है। उनके लिये हमें अपनी तथा अपने सहयोगियों की लेखनी से उलहना है जो स्वयं समझती है और दूसरों को समझा सक्ती है किंतु समझाने की ओर ध्यान न दे के देश की आंतरिक दशा सुधारने में बहुत-से विघ्न बने रहने देती है। पर ऐसे 2 मसलों पर ध्यान न देने के लिये हम देशी मात्र पर दोष लगावैंगे जिनका समझना कुछ कठिन नहीं है।

केवल अक्षरों से अर्थ निकल आता है और बर्ताव में लाने से अपना तथा पराया भी बहुत-सा हित हो सक्ता है । फिर भी लोग जान-बूझ के हाथ पर रक्खे हुए अमूल्य वाक्य रत्नों का तिरस्कार करते हैं । उपर्युक्त उपाख्यान ऐसा ही है जिसको सब लोग सहज में समझ जाते हैं पर ध्यान न दे के अनेक ठौर अनेक हानि सहते हैं । कौन नहीं जानता कि अष्ट कपारी उस मनुष्य को कहते हैं जो बेकाम बैठना कभी न पसंद करता हो और कैसा ही उलटा-सीधा, छोटा-मोटा, सहज-कठिन हो, समझे बिन समझें, निर्भय निस्संकोच निर्लज्ज भाव से मुड़ियाय लेता हो । अपनी बुद्धि तथा बल से न हो सके तो चाहै जिस श्रेणी के मनुष्य से सहायता मिलती हो उससे मित्र बन के, चेला बन के, सेवा करके, प्राप्त करने में न चूकता हो । तथा दरिद्री एक तो वह व्यक्ति कहलाता है जिसके पास धन न हो, दूसरे उसको कहते हैं जो यह सिद्धांत रखता हो कि जहाँ तक बस चले वहाँ तक, 'चमड़ी जाय दमड़ी न जाय' ।

घर कोई तुच्छ से तुच्छ वस्तु वृथा न जाने दे और बाहर की सड़ी से सड़ी चीज यदि माँगे-जाँचे, छल-कपट किये सेंत में मिले तो क्या ही बात है, नहीं कुछ स्वल्प मूल्य पर भी प्राप्त होती हो तो छोड़े नहीं । वास्तव में यह दोनों गण (अष्टकपारीपन और दरिद्रीपन) ऐसे हैं कि ग्रहण करने में कुछ कठिनाई नहीं है और काम बड़े 2 निकलते हैं । और यदि विचार के देखिये तो यह गुण ईश्वर को भी इतने प्रिय हैं कि वे त्रैलोक्य का स्वामी होने पर भी, लक्ष्मीपति होने पर भी, दीनबन्धु कहलाता है तथा कोई निज का काम न रहने पर भी सारे संसार के सृष्टि स्थिति संहारात्मक बखेड़े मुड़ियाये रहता है । बरंच पुराणों का तत्त्व समझिए तो जान जाइयेगा कि वेदोद्धार, दैत्यसंहार एवं प्रेमलीला बिस्तार के लिये मत्स्य, कच्छप, बरंच शूकर बनने तथा भिक्षा माँगने (वामनावतार) तक में बंद नहीं है । इसके अतिरिक्त जितने लोग जिस 2 बात में बढ़े हैं उन्होंने अपनी बढ़ती के पहिले इन्हीं दो गुणों में से एक अथवा दोनों को ग्रहण किया था । ऐसे उदाहरण सब देशों के इतिहास में बहुतायत से मिल सक्ते हैं कि अष्टकपारिता ही के कारण अनेक लोगों ने नीच दशा से उत्थान किया है । जो लोग इतिहासवेत्ता नहीं हैं उन्होंने भी बहुधा देखा अथवा विश्वासपात्रों से सुना होगा कि फलाने के घर में भून चबान का ठीक न था, टूटी लुटिया और सत्तर गाँठ की डोर बाँध के विदेश गये थे, वहाँ से चार-छः-दस वर्ष में इस दशा को प्राप्त हो आये ।

यदि पता लगाओ तो परदेश में उन्होंने कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवादि कामों के करने में किसी तरह की कसर न उठा रक्खी होगी, इसमें इतनी समुन्नति लाभ की । हम नहीं जानते कि ऐसे के सैकड़ों प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शाब्दप्रमाण विद्यमान होने पर भी हमारे देशभाई इधर क्यों ध्यान नहीं देते ? घर में थोड़ा-सा खाने-भर का सुभीता हुआ तो परदेश जाके उद्योग करने में मानहानि है । थोड़ी-सी विद्या सीख ली तो दस-पाँच की नौकरी करने में बबुआई बिगड़ती है । चार पुरवा की जमीदारी हुई तो हजार-पाँच सौ रुपये से कोई वस्तु बेचना-खरीदना नौधरी है ।

थोड़ी-सी प्रतिष्ठा मिल गई तो मोटा कपड़ा पहिनने से नाक कटती है । अपने हाथ से अँगरखे लगा लेने से जात जाती है । किसी सामर्थ्यवान से सहायता लेने में साख घटती है । वह क्यों ? कम-बख्ती ! अभाग्य ! बिगड़ने के लक्षण ! नहीं तो बड़े 2 सम्राट भी जब दूसरे देश पर अधिकार किया चाहते हैं तो जा के चढ़ाई ही नहीं कर देते अथवा राज परिकर ही से साम, दाम नहीं करते । एक-दो बार हारने पर जन्म भर लाज के मारे मुँह न दिखाने का शपथ नहीं खा बैठते । पर हमारे शेखीदार, लज्जावान भाई थोड़ी-सी बसुधा पर फूल के— 'बाँध मरैं कि टका बिकाय' का उदाहरण बन बैठते हैं ।

इसी के मारे अनेक घर तबाह हो गये पर किसी को कुछ परवा ही नहीं है । वही जब शिर पर आ पड़ती है तब सब कुछ करना पड़ता है, पर पहिले से 'सर्व संग्रह कर्तव्य कः काले फलदायकः' की तमीज ही नहीं । यद्यपि सैकड़ों वर्ष से दरिद्र देवता डेरा डाले हुए हैं, लाख को खाक कर चुके हैं और खाक को भी उड़ाने पर कटिबद्ध हैं, इससे जान पड़ता है कि यदि यही दशा रही तो सौ दो सौ वर्ष में सर्वस्वाहा की ठहर जायगी, तब स्वयं सबकी आँखैं खुलेंगी और हिताहित का मार्ग सूझेगा । क्योंकि दरिद्र की पराकाष्ठा में समझ बढ़ती है—Necessity is the mother of invention प्रसिद्ध है। 'सुखस्यानंतरं दुःखं दुःखस्यानंतरं सुखम्' हमारे महर्षियों का अनुभूत वाक्य है ।

पर यदि अभी से दूरदर्शिता से काम ले के अष्टकपारित्व और दरिद्रित्व का महत्व समझ रक्खा जाय तो आश्चर्य नहीं कि ईश्वर की दया से वह दिन ही न देखना पड़े । इसी आशा पर अगले लोग कह गये हैं और हम भी स्मरण दिलाये देते हैं कि 'अग्रशोची सदा सुखी' रहता है । अतः 'अष्टकपारी दारिद्रि जहाँ जायँ तहँ सिद्धि' के मर्म को समझिये, ध्यान दीजिये और आचरण कीजिये तो कुछ दिन में देखियेगा कि सारे दुःख-दरिद्र आप से आप दूर हो जायँगे ।

खं० 6, सं० 10 (15 मई ह० सं० 6)

'एकै साधे सब सधै, सब साधे सब जाय'

इस कहावत में दो उपदेश हैं । एक तो यह कि यदि सच्चे उत्साह से दृढ़ता के साथ एक पुरुष भी किसी काम को कर उठावै तो बहुत कुछ कर सक्ता है किंतु आंतरिक चाव के बिना अनेक लोग भी कुछ करना ठानते हैं तौ भी कुछ नहीं कर सक्ते, किया भी तो क्या न करने के बराबर । दूसरी शिक्षा यह है कि एक अथवा अनेक जने मिल के यदि प्रस्तुत कार्यों में से एक के लिए तन, मन, धन, बचनादि से जुट जायँ और जी में यह प्रण कर लें कि जो कुछ होगा सहैंगे पर इसको पूरा किए बिना कभी न रहेंगे, तो उसके पूर्ण होने में तो संदेह ही नहीं है ।

जो संदेह करे वह ईश्वर के अखंड मंगलमय नियम और अनेक बुद्धिमानों के अनुभूत सिद्धांत तथा अपने पुरुषार्थ की विडम्बना करता है । इससे हृदयवान व्यक्ति को मान ही लेना चाहिए कि जिस काम को अनेक लोग एक होकर करना विचारते हैं वह अवश्य होता है । बरंच उसके साथ 2 दूसरे कर्तव्य भी या तो सिद्ध ही हो रहते हैं अथवा उनमें की पूर्ति वाली कठिनता प्रायः दूर हो जाती है । इनमें से पहिले सिद्धांत के तो अनेक उदाहरण हैं ।

श्रीकृष्ण भगवान ने जिस समय गोवर्द्धन उठाया तो अकेले आप ही ने अपनी अँगुली पर उठा लिया क्योंकि वे दृढ़चित्तता के रूप, बरंच दृढ़ चित्त भक्तों के आराध्य देव हैं । किंतु जब दूसरे गोप-गोपियों ने उन्हें बालक समझ के लकुट और मंथन दंड से सहारा दिया तथा यह देख के भगवान ने भी हाथ ढीला

किया तो गिरिराज गिरने पर उद्यत हो गए । इस कथा में एक यह भी ध्वनि निकलती है कि जो पुरुष सिंह केवल अपने भरोसे किसी काम में हाथ लगाता है उसे सहारा दीजिए, पर यह न समझिए कि हमारे बिना यह क्या करेगा । यदि वह सच्चा साहसी है तो उसे ईश्वरीय सहायता प्राप्त है । हाँ, बाह्य साहाय्य ही की आवश्यकता होगी तो आपके साथी बहुत रहेंगे अतः आपका अहमिति प्रदर्शन व्यर्थ, बरंच आदि कर्ता के उत्साह भंग द्वारा कार्य नाश की शंका उपजाने के कारण हानिकारक है ।

इसी भाँति हम अपने प्राचीन ऋषियों का चरित्र देखते हैं तो अवगत होता है कि यद्यपि कभी 2 कहीं 2 पर उनका अट्ठासी 2 सहस्र का समूह एकत्र हो जाता था पर नित्य का लक्षण यही था कि 'एकाकी निस्पृहः शांतः पाणिपात्रो दिगंबरः' । किंतु एकांतवासी निश्चिंत शांतिमय लोगों ने संसार के लिए लोक-परलोक बनाने वाली वह अखंडनीय युक्तियाँ निश्चित कर दी हैं कि जिनकी अवज्ञा कभी किसी सहृदय की अंतरात्मा से हो ही नहीं सकती । वह सब बहुधा अकेले ही रहते थे और अनेकांश में अपने सहकालीन समुदाय की हाँ में हाँ न मिलाते थे । पर वास्तव में उन सबका उद्देश्य एक था । अर्थात् ईश्वर की महिमा का प्रचार एवं संसारियों के जीवन जन्म का सार्वदेशिक सुधार, बस । इसी से शास्त्र कह रहा है कि 'नैकोमुनिर्यस्यवचः प्रमाणम्' अर्थात् एक मुनि नहीं है जिसका वाक्य प्रमाण के योग्य हो । भावार्थ यह कि सभी मुनि वृन्द के बचन प्रमाण हैं ।

इसी प्रकार ईसामसी मुहम्मद इत्यादि सभी मान्य पुरुषों ने आरंभ में अकेले ही अपने 2 उद्देश्य की पूर्ति का अनुष्ठान कर उठाया था पर यावज्जीवन उसी में लगे रहने के कारण यहाँ तक साफल्य लाभ कर लिया था कि आज तक लाखों अंतःकरण साक्षी देते हैं और सदा देते ही रहने की अधिक संभावना है । इतने प्रमाण पा के हम क्यों न मान लें कि सच्चे जी से मजबूत कमर के बाँध के यदि एक पुरुष भी खड़ा हो जाय तो अपना मनोरथ अवश्य पूर्ण कर लेगा । यदि दैवयोग से सिद्धि में पूर्णता भी न हो तो भी इसमें कोई संदेह ही नहीं है कि जिस मूल को वह आरोपित कर जायगा उसमें आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, अवश्य ही यथेच्छ फल फलेंगे । पर होना चाहिए सच्चा उद्योगी, जिसका मुख ही नहीं बरंच रोम 2 दिन-रात 'या तो काम पूरा करेंगे या यत्न ही करते 2 मरेंगे' का मंत्र जपा करता हो ।

आज बरसों से हम सैकड़ों युवकों के मुँह भारत का उद्धार, देश की उन्नति, जाति का सुधार आदि शब्द सुन रहे हैं पर जब आँखें खोल के देखते हैं तो भारत का उद्धार कैसा, किसी भारतीय समुदाय का भी उद्धार नहीं देखते । देश की उन्नति कैसी देशीय सभी व्यक्ति एवं वस्तु दिन 2 अवनत होती जाती हैं । जाति का सुधार तो दूर रहा सुधार का गीत गाने वाले ही बहुधा किसी न किसी बिगड़ैलपन में फँसे हुए हैं । इन लक्ष्यों को देख के ऐसा कौन है जो न कह उठे कि हिंदुस्तान का सच्चा हितैषी इनमें से एक भी नहीं है ।

जो अपने को इस नाम से पुकारते हैं उनका भीतरी तत्व देखिए तो कोई नाम के चाहने वाले निकलेंगे, कोई दाम के आकांक्षी मिलैंगे । सच्चा उद्योगी यदि एक भी होता तो बहुत कुछ दिखाता । हाँ, आरंभ में राजा राममोहन राय, मुंशी कन्हैयालाल, अलखधारी बाबू हरिश्चंद्र भारतेंदु, स्वामी दयानंद सरस्वती आदि थोड़े-से पुरुषरत्न थे जिन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये निष्कपट भाव से जीवन बिता दिया, किसी दुःख किसी द्वेषी की कुछ भी भटक न की पर यतः उनके समय में चारों ओर पूर्ण अंधकार था इससे उनकी आयु केवल दीप-प्रज्वालन और सुपंथ-प्रदर्शन ही में व्यतीत हो गई ।

अब हमारे लिये उन्नति की राहें उनकी दया से खुली हुई हैं । पर यदि हममें से थोड़े लोग भी सच्ची उमंग के साथ उन मार्गों का अवलंबन न करेंगे तो चाहे लाख बकें उन्नति धाम में कभी न पहुँचेंगे । और उपर्युक्त महापुरुषों का वास्तविक तत्व समझकर सच्चाई के साथ निर्द्वन्द्व भाव में यदि एक भी उनका अनुसरण करे तो देखिए क्या होता है, क्योंकि 'एकै साधे सब सधै' । परंतु यों ऊपर मन से चाहे जितने लोग चाहे जिन बातों का हौरा मचाते रहें पर होना-हवाना कुछ नहीं बरंच व्यर्थ समय और धन की हानि होगी । क्योंकि 'सब साधे सब जाय' । इससे हमारे देशोन्नति चाहने वालों को चाहिए कि अपने कर्तव्य के हेतु पहिले भली भाँति आत्मसमर्पण में उद्यत हो जायँ, फिर देखेंगे कि कितने शीघ्र और कैसे आधिक्य के साथ कृतकार्यता लब्ध होती है तथा सहायता एवं सहायक आप से आप कितने आ मिलते हैं ।

अब रही दूसरी बात, अर्थात् एक काम के पूरा करने में पूरा उद्योग करने से अन्य कार्य स्वयं सिद्ध हो रहे हैं अथवा सिद्धि के निकटस्थायी हो जाते हैं । उसके लिए बहुत से उदाहरण देना केवल कागज रँगना है । प्रत्यक्ष ही देख लीजिए कि यदि कोई किसी वृक्ष की डाल 2, पत्ता 2 सींचना चाहेगा तो परिश्रम बहुत अधिक होगा एवं जल भी बहुत-सा वृथा बहाना पड़ेगा किंतु फल के स्थान पर वृक्ष ही सड़ जायगा । पर यह न करके केवल मूल का सेंचन करने में न उतना श्रम है न जल का व्यय और सिद्धि पूर्ण रूप से प्राप्त हो जायगी ।

बस इसी दृष्टांत पर दृष्टि रख के विचार लीजिए कि वह एक कौन-सा काम है जिस पर जुट जाने से भारत के समस्त दुख शीघ्र और सहज दूर हो सकते हैं । हमारी समझ में समाज का उद्धार राजनीति का सुधार और धर्म तथा सद्गुणों का प्रचार सब कुछ तभी हो सकता है जब पेट भरा हो ; और हेर-फेर के सब लोग सब प्रकार उपाय इसीलिए करते हैं जिसमें यहाँ का दरिद्र दूर हो और अन्न-वस्त्र जनित असुविधा जाती रहे । तभी कुछ हो सकेगा और इसका एकमात्र यत्न यही है कि यदि हम बाहर से कुछ लाकर घर में न डाल सकें तो घर की पूँजी तो यथासामर्थ्य बाहर न जाने दें; किंतु इसके निमित्त विदेश और विदेशियों का आसरा रखना व्यर्थ है ।

यदि सब लोग विलायत जा 2 कर अथवा यहीं वैसी शिक्षा पा 2 कर भाषा, भेष, भोजन, आचार, विचार आदि बदल 2 शुद्ध साहब बन बैठें और इस रीति से अपनी सार्वदेशिक उन्नति भी कर लें (यद्यपि यह संभव नहीं है) तो भी हिंदुस्तान और हिंदुस्तानियों का क्या भला होगा । हाँ, इंगलिस्तान ही वालों के चेलों की संख्या बढ़ जायगी । इसी प्रकार जो गवर्नमेंट सर्वदा सर्वभावेन केवल रुपये पर दृष्टि रखती है, प्रजा चाहे अकाल के मारे जाय चाहे कुरोग के बस प्राण त्यागे, परंतु वह धन के हेतु यहाँ के मरे जानवरों तक की हड्डियाँ तक उठा ले जाने में नहीं चूकती, धरती का बल कल नाश होता हो तो आज ही सही लाख हाव 2 करो पर स्वार्थ के अनुरोध से मदिरा ऐसे धन, बल, बुद्धि, मान, प्राण नाशक पदार्थ का प्रचार नहीं घटाया चाहती, उससे यह आशा करनी कि हमारी प्रार्थनाओं को सुन के हमें उचित अधिकार दान करके अपनी हानि करेगी, हम नहीं जानते कहाँ तक फलवती हो सकेगी । अरे बाबा, भला अपने ही हाथ से हो सकता है । अतः सबसे पहिले अपनापन समझो ।

अपना पेट अपनी करतूत से पालो । अपना तन, मन अपने भेष-भूषण भाव से अलंकृत करो । अपनी कौड़ी नाली में गिर पड़े तो भी दाँत से धरो । चाहे जैसा दुख-सुख, हानि-लाभ सहना पड़े पर अपना रंग-ढंग न छोड़ो । अपना अर्थ साधन करने से मुँह न मोड़ो और अपनों को अपना-सा बनाने में मन,

बचन, कर्म से अष्ट प्रहर लगे रहो । बस, यही एक काम है जिसका साधन करने से और सब बातें आप से आप सिद्ध हो जायँगी । क्योंकि अगले लोग कह चुके हैं कि 'एकै साधे सब सधै' । और यों न कहीं जाने से कुछ होगा न बातें बनाने से कुछ होगा । व्यर्थ की दौड़-धूप और हानि चाहे जितनी कर लीजिए किंतु फल इतना ही होगा कि 'सब साधे सब जाय' ।

खं० 7, सं० 9 (15 अप्रैल ह० सं० 7)

मित्र कपटी भी बुरा नहीं होता

गत मास में हमने दिखा दिया था कि छल कोई बुरा गुण नहीं है । यदि भली भाँति सीखा जाय और सावधानी के साथ काम में लाया जाय तो उससे बड़े 2 काम सहज में हो सकते हैं । इससे हमारे कई मित्रों ने सम्मति दी है कि हाँ बेशक इस युग के लिए वह बड़ा भारी साधन है अतः कभी 2 उसकी चर्चा छेड़ते रहना चाहिए । तदनुसार इस लेख में हम शीर्षक वाला विषय सिद्ध किया चाहते हैं । हमारे पाठकों को स्मरण रखना चाहिए कि बुरा यदि होता है तो शत्रु होता है, जिसकी हर एक बात से बुराई ही टपकती रहती है वह यदि निष्कपट होगा तो बन्दर की नाईं बहुत-सी खौंखयाहट दिखा के थोड़ी-सी हानि करेगा और कपटी होगा तो साँप की भाँति चिकनी-चुपड़ी सूरत दिखा के प्राण तक ले लेगा ।

इन दोनों रीतियों से वह हानिकारक है । इससे उसे मान लीजिए पर मित्र से ऐसा नहीं होता । वह यदि छली हो तो उसकी संगति से आप छल में पक्के हो जायँगे और ऐसी दशा में वह आपको क्या भुलावेगा आप उसके बाप को भुला सकते हैं । ऐसी गोष्ठी में बैठ के यदि आप बुद्धिमान हैं तो यह मंत्र सिद्ध किए बिना कभी नहीं रह सकते कि गुरू के कान न कतरे तो चेला कैसा ? हाँ, यदि आप ऐसे बछिया के बाबा हों कि ऐसी मुहब्बत से इतना भी न सीख सकें तो आपका भाग्य ही आप के लिए दुखदाई होगा, मित्र बिचारे का क्या दोष ? पर हाँ, यदि मित्र महाशय कपटी हों पर इतने कच्चे कपटी हों कि आपसे अपना कपट छिपा न सकें तो निस्संदेह बुरे हैं, पर अपने लिए न कि आप के लिए ! जिस समय आपकों विदित हो जायगा कि यह कपटी है उसी समय आप भलेमानस होंगे तो मित्रता को तिलांजलि दे के अपनी पूर्वकृत मूर्खता से सजग हो जायँगे । फिर बस आनंद ही आनंद है ।

यदि आपको गोस्वामी तुलसीदास के बचन की सुध आ जाय कि 'सेवक सठ नृप कृपन कुनारी । कपटी मीत सूल सम चारी ।' तो भाष्य हमारा कंठस्थ कर लीजिए कि सेवक और नारी तो क़ोई चीज ही नहीं है, जब चाहा निकाल बाहर किया, रहा नृप, उसकी भी क्या चिंता है, यदि हम कपट शास्त्र का थोड़ा-सा भी अभ्यास रखते होंगे तो अपने पक्ष में उसकी कृपणता रहने ही न देंगे । हाँ हमारा हथखंडा न चल सके तो अपने कच्चेपन पर संतोष कर लेना उचित है अथवा यह समझ के जी समझा लेना चाहिए कि राजा हैं ईश्वर का अंश, उस पर बश ही क्या ? रह गए अकेले मित्र जी, वह यदि कपटी

हों तो शूल के समान हैं । पर हमारे पक्ष में तो उनकी धार उसी क्षण कुंठित हो चुकी थी जिस समय उनका कपट खुल गया था । अब शूल हैं तो बने रहें हमारा क्या लेते हैं । बरंच हमारे हाथ में पड़े रहेंगे तो अपनी ही शोभा बना लेंगे ।

लोग समझेंगे कि यह ऐसे गुरूघंटाल के पास बैठने वाला है जिसके आगे किसी की कलई खुले बिना रहती नहीं । अथवा ऐसे सुशील का सुहबती है जो अपने साथ वालों के कपट जाल की जान-बूझ के भी उपेक्षा कर जाता है । इन दोनों रीतियों से उन मित्र जी को तो अच्छा ही है । किंतु इतना हमारे लिए भी भला है कि कुत्ता, बिल्ली के समान तुच्छ शत्रु हम लोगों को दो समझ के ऐसे ही डरते रहेंगे जैसे बिना घर वाले शूल से डरते हैं । पर हमारा जी नहीं चाहता कि जिसे मित्र का विशेषण दे चुके हैं उसे बार 2 शूल 2 कह के पुकारें । अस्मात् उसकी स्तुति में यह गीत स्मर्तव्य है कि— 'आव मेरे झूठन के सिरताज ! छल के रूप कपट की मूरति मिथ्यावाद जहाज !' यद्यपि जिस की प्रशंसा में भारतेंदु जी ने यह वाक्य कहा है वह कपटी मित्र नहीं है, वह जिसे मित्र बनाता है उसे तीन लोक और तीन काल में सबसे बड़ा कर दिखाता है, किंतु कपटियों (राक्षसों) को उच्छिन्न करके तब कहीं 'क्रोधोऽपि देवस्य नरेण तुल्यः' का उदाहरण दिखलाता है ।

इससे कहना चाहिए कि वह सभी का सच्चा हितू है कपटी कदापि नहीं और यदि कपट पर आ जाय तो महाराज बलि की नाईं हमारा भी सर्वस्व बात की बात में माँग ले और क्या बात कि हमारी भौंह पर बल आने दे । आ हा ! यदि वह हमसे कपट व्यवहार करें तौ हमारे समान धन्यजन्मा कहीं ढूँढ़े न मिले । अतः यह कोई भी नहीं कह सकता, सच्चाई के पुथले ऋषिगण तथा भव्य शास्त्र शिरोमणि वेद भी नहीं कह सकते कि वह मित्र कपटी है अथवा कपटी है तो कच्चा । अतः उसकी चर्चा तो हृदय ही में रहने दीजिए । इन संसारी मित्रों के उपकारों को देखिए जो अपनी कपट वृत्ति का भरमाला न छिपा सकने के कारण हमारी नजरों से गिर जाने पर भी अहित नहीं कर सकते ।

यदि कुछ भी गैरतदार हुए (आशा है कि होंगे, नहीं निरे बगरत होते तो कच्चे कपटी काहे को रहते) तौ मुँह न दिखावेंगे । यदि सामने आए तो आँखें नीची रक्खे हुए चाटुकारिता की बातों से प्रसन्न ही रखने की चेष्टा किया करेंगे और ऐसे लोग और कुछ न सही तौ भी थोड़ी-बहुत बनावटी खुशी उपजा ही देते हैं । इसका उदाहरण सामान्य नायिका हैं जिन्हें सभी जानते हैं कि वास्तव में किसी की नहीं होतीं, केवल अपना स्वार्थ साधन करने के निमित्त मिथ्या स्नेह प्रदर्शन करती रहती हैं । इसी से बहुधा बुद्धिमान जन भी उनके मोह जाल में ऐसे फँस जाते हैं कि अपनी सत्य प्रेमवती अर्द्धांगिनी तक को भूल जाते हैं । यह क्यों ? इसी से यह बिचारी अपने हृदय का सच्चा प्रेम भी प्रगट करना नहीं चाहती किंतु वे निर्मूल स्नेह को भी बड़ी चमक-दमक के साथ दिखा सकती हैं । फिर कौन कह सकता है कि स्नेह बनावटी भी मजेदार नहीं होता और जो स्वभाव का कपटी होगा वह मित्र बनने पर मिथ्या प्रेम अवश्य ही दिखावैगा ! विशेषतः अपना भेद खुल जाने की लाज दूर करने को और भी अधिक ठकुरसुहाती कहेगा । अथच ठकुरसुहाती बातें वह हैं जो ईश्वर तक को रिझा लेती हैं, मनुष्य तो है ही क्या ?

फिर हम कैसे मान लें कि कपटी मित्र बुरा होता है । बरंच सच्चा मित्र तो कभी हमारे वास्तविक हित के अनुरोध से हमें टेढ़ी-मेढ़ी सुना के रुष्ट भी कर देता है पर कपटीराम हमारे मुँह पर कभी कड़ी बात कहेंगे नहीं कि हमें बुरी लगे । यदि आप परिणामदर्शी हैं तो बन में जा बैठिए और राम जी का भजन करके जनम बिताइए जिसमें अक्षय सुख प्राप्त हो । पर हम तो दुनियादार हैं, हमारा काम तो तभी

चलता है जब कपटदेव की मूर्ति हृदय पट में संस्थापित किए हुए उनके पुजारियों की गोष्ठी का सुख उठाते हुए मजे में दिन बिताते रहें और इसमें यदि विचारशक्ति आ सतावै तो उसके निवारणार्थ इस मंत्र का स्मरण कर लिया करें कि "आकबत की खबर खुदा जाने, अब तो आराम से गुजरती है" और सोच देखिए तो ऐसों से आगे के लिए क्या बुराई है ।

बुराई की जड़ तो पहिले ही से हमारे मित्र ने काट दी है । हमने मित्रता के अनुरोध से जी में ठान रक्खा था कि यदि हमारे प्रिय बंधु को आवश्यकता आ पड़ेगी तो अपना तन, धन, प्राण, प्रतिष्ठा सर्वस्व निछावर कर देंगे और संसार में ऐसा कोई नहीं है जिसे जीवन भर में दस-पाँच बार किसी के सहाय की परमावश्यकता न पड़ती हो । तथा यदि हमारे मित्र को दस बेर भी ऐसा अवसर आ पड़ता एवं प्रत्येक बार न्यूनान्यून सौ रुपया भी व्यय होता तो हम सहस्र मुद्रा अवश्य ही हाथ से खो बैठते, शरीर और प्राण यदि पूर्णरीत्या न भी विसर्ज्जन करते, तथापि देह पर दो-चार घाव तथा मन पर कुछ काल के लिए चिंताग्नि की आँच अवश्य सहते एवं प्रतिष्ठा में भी बहुत नहीं तो इतनी बाधा तो पड़ी जाती कि कचहरी में झूठी गवाही देते, वकीलों की भौंहें ताकते, चपरासियों की झिड़की वा हाकिमों की डाँट सहते । नोचेत् जिनसे बोलने को जी न चाहे उनको भैया राजा बनाते, इत्यादि । पर मित्र जी ने सौ ही पचास रुपए में अपनी चालाकी दिखा के अपने चित्त की वृत्ति समझा के इन सब विपत्तियों से बचा लिया ।

अब हम उन्हें जान गए हैं, अतः अब उनके मनोविनोद अथवा आपदुद्धार के लिए हमारे पास क्या रक्खा है ? अब वह बला में फँसें तो हमारी बला से, वह अपने किए का फल पा रहे हैं तो हमें क्या ? हम क्यों हाय 2 में पड़ें । जैसे सब लोग कौतुक देखते हैं हम भी देख लेंगे । मुहब्बत तो हई नहीं, मुरौवत न मानेगी, सामना पड़ने पर, 'अरे राम 2 ! ऐसा दिन विधाता किसी को न दिखावै !' कह देना बहुत है, बस छुट्टी हुई । फिर भला ऐसे लोगों को कोई बुरा कह सकता है जो थोड़ी-सी दक्षिणा ले के बड़े 2 अरिष्टों से बचा लें और आप आपदा में पड़ के दूसरों के पक्ष में मनोरंजन अथवा उपदेश का हेतु हों ।

हाँ, प्राचीनकाल के सन्मार्ग प्रदर्शक अथवा जमपुरी के कार्य संपादक उन्हें चाहे जो कहें-सुनें किंतु हम तो उनमें से नहीं हैं । फिर हम क्यों न कहें कि मित्र कपटी भी बुरा नहीं होता, मिष्ठान्न विषयुक्त भी कड़ुवा नहीं होता; और हमारा लेख ऊटपटाँग भी बेमजा नहीं होता !

खं० 8, सं० 10 (मई, ह० सं० 8)

लड़ते हैं और हाथ में तलवार भी नहीं

हमारे पाठकों ने गत दो संख्याओं में कानपुर धर्म्ममंडल विषयक लेख देखे होंगे जिनमें सहयोगी 'आर्यावर्त' की कुछ बातों का उत्तर भी था । उनसे यदि सहृदय समाज को यह आश्चर्य हो तो असंभव

नहीं है कि 'ब्राह्मण' तो मतमतांतर के झगड़ों से सदा अरुचि रखता था, उसे दो-तीन मास से यह कैसी सनक चढ़ी है ! इस विचार के समाधानार्थ हम यह विदित कर देना उचित समझते हैं कि हमारा सिद्धांत प्रेम है, जिसकी स्तुति हमारा अंतःकरण निर्भयता के साथ यहाँ तक करता है कि 'ब्रह्मा विष्णु महेश सब पूजत याके पायँ । परब्रह्म हू प्रेम को ध्यावत ध्यान लगाय ।' हम इस अपने अचल सिद्धांत को कभी किसी दशा में छोड़ दें तो हमारा कहीं ठिकाना न रहे । पर हाँ यतः अभी भगवान् प्रेमदेव ने केवल तुच्छ दामों में हमें अंगीकार किया है, पूर्णरूप से हमारी संसारिकता का लोप नहीं हुवा, अतः यदि कोई हमारे आनंद में विघ्न डालने का मानस करता है तो दो-एक बार उसे समझा देना अनुचित नहीं समझते । यद्यपि है यह भी वाहियात पर क्या किया जाय, जब तक वह पूरी तरह न अपनावैं तब तक ऐसी बातों की परवा न करना हमारी सामर्थ्य से दूर है ।

इससे जब हम देखते हैं कि हमारे प्यारे भारतीय धर्म-कर्मादि का किंचित मात्र भी तत्व समझे बिना कोई आग्रही उसका विपक्षी बनने में साहसवान होता है तब हमें उचित उत्तर देना पड़ता है । हम किसी मत के पक्षी वा विपक्षी नहीं हैं पर सत्य का पक्ष और अपने भाइयों का पक्ष अवश्य करते हैं । हमारे यहाँ के पुराण इतिहासादि सब सत्य हैं और यदि कोई मनुष्यता के साथ उनकी सत्यता के विषय में प्रश्न करे तो हम संतोषदायक उत्तर देने को प्रस्तुत हैं । इसी प्रकार हमारे शैव शाक्तादि सब भाई यदि श्रद्धापूर्वक अपने धर्म का तत्व समझ के उसका सत चित्त से अवलंबन करें तो हमें ही नहीं बरंच सच्चे आस्तिक मात्र को मान्य है तथा अपना लौकिक एवं पारलौकिक हित साधन में सक्षम हैं अस्मात् यदि कोई इनकी प्रतिष्ठा अथच सदुद्योग का पक्षपातपूर्वक उपहास करना चाहे उसे उचित उत्तर देना हम अपने धर्म का एक अंग समझते हैं ।

इसी के अनुसार हमने पंडितवर दीनदयाल शर्मादि के मनोहर व्याख्यान अपने कानों से सुन कर तथा उनके प्रभाव का कानपुर के सनातनधर्मियों पर प्रभाव अपनी आँखों से देखकर उचित प्रशंसा के साथ सच्चा समाचार लिखा था, जिसकी साक्षी के लिये यहाँ के सहस्रों कुलीन प्रतिष्ठित विद्वान् विद्यमान हैं । पर हमारे सहयोगी महाशय उन सबको झुठला के सच्ची घटना को केवल पक्षपात के वश झूठा बनाया चाहते थे । इसी से हमने उचित उत्तर दे दिया था । पर सच्चे और उचित तथा प्रामाणिक उत्तर को तो वह लोग मानते हैं जिन्हें न्याय और धर्म से कुछ भी जान-पहिचान होती है । किंतु जिन्हें अपनी ही बात का भी छेड़ना झगड़े का मोल लेना है, जिसका सज्जनता अनुमोदन नहीं करती क्योंकि बाद का आनंद तब आता है जब समझदार और सभ्य लोगों से किया जाय तो उसका यह हाल है कि एप्रिल मास में हम थे बीमार । इससे पत्र संपादन कर न सके थे । पर हमारे परम सहायक श्रीमन्महाराजकुमार बाबू रामदीन सिंह महोदय ने चलते हुए काम को रोकना उचित न समझ कर अन्यान्य सुलेखकों के लेख से पूर्ण करकें इस पत्र को प्रकाश कर दिया था । उसमें एक लेख 'हम मूर्ति पूजक हैं' हम लोगों के परमपूज्य महात्मा हरिश्चंद्र का भी था जिसे 'आर्य्यावर्त' जी ने हमारा समझ कर अंड की बंड बातें लिख डाली थीं । भला हम ऐसे समझदारों को क्या उत्तर दें जो इतना भी नहीं समझ सकते कि 'ब्राह्मण' संपादक को महर्षि भारतेंदु के ढंग का लेख लिखने की सामर्थ्य कहाँ से आई । वैसा लेख लिखना तो क्या लिखने का मानस करना भी छोटा मुँह बड़ी बात है । इस समझदारी पर भी तुर्रा यह कि लेख का आशय कुछ भी न समझकर पुराण और प्रतिमा की निंदा पर जा गिरे जिसका उत्तर बीसियों बार बीसियों विद्वान दे चुके और प्रत्युत्तर में साधु वाक्य सुन चुके पर हम केवल इतना पूछना चाहते हैं कि 'आर्य्यावर्त'

संपादक वा कोई समाजी उस प्रकार के मूर्तिपूजन से बचे हुए हैं ? क्या वह अथवा उनके सहचरों में से कोई भी ऐसा है जिसे अपने शरीर तथा स्त्री-पुत्र-इष्ट-मित्रादि का मोह न हो ? यदि है तो उसका जीवन मनुजता से कितना संबंध रखता है ? और नहीं तो उक्त लेख पर आक्षेप करना सिवा अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देने के और क्या था ? यही नहीं, इस समय पर भी सभ्यता यह है कि जिन असाधारण पुरुषों की देश के बड़े 2 लोग हृदय से प्रतिष्ठा करते हैं उनके पक्ष में आप वह 2 शब्द प्रयुक्त कर उठाते हैं कि सभ्य समुदाय में शत्रुता के अवसर पर भी प्रयोग करने योग्य न हों ।

एक बार आपने आनरेबिल सैयद अहमद महाशय का नाम अंतिम दकार को ककार से बदल के इस रीति से लिखा था कि यदि अभियोग उपस्थित होता तो छापे की अशुद्धि का बहाना भी न चल सकता । श्री पंडित दीनदयाल जी को मुंशी लिखते 2 भी संतोष न हुआ था तो एक बार यह लिख मारा था कि 'बिचारे दयाला का दिवाला निकल गया' । यह उपर्युक्त दोनों सज्जन वस्तुतः ऐसे हैं कि कांग्रेस वा आर्यसमाज के गुणगायक न होने से सभ्य लोगों के मध्य अप्रतिष्ठित कदापि नहीं समझे जाते और यदि अपने अपराधियों को क्षमा न कर दें तो अच्छे-अच्छों को दिखला सकते हैं कि कौन कितना है । पर इतना तो वह समझें जिसे सभ्यता से संबंध और आगे-पीछे का कुछ भी विचार हो । इस गुण में भी हमारे साथ वादानुवाद में आपने ऐसा अनोखापन दिखाया है कि देखने से काम रखता है ।

आप एक लावनी लिखते हैं जिसकी टेक यह है कि 'धन हरण हेत पूजो हो बटिया काली । अब नहीं चलेगी तुमने बहुत चला ली' । इसमें के जौहर यह हैं कि एक तौ सिद्धांतविषयक विचार के ठौर पर व्यक्तिविषयक आक्षेप, सो भी इतने झूठे और असभ्य और धर्म एवं प्रतिष्ठा पर बेअदबी से भरे हुए कि या तो अदालत में उत्तर दिया जा सकता है या सभ्य मंडली से इस्तेयफा देकर दिया जा सकता है । जैसे झूठे दोष हम पर आरोपित किए हैं उनसे अधिक घृणित और सच्चे यदि हम दिखला चलें तो उन्हें तो दुनिया जो कुछ कहैगी कहैगी ही किंतु हम पर भी यह आश्चर्य करेगी कि इसके लेखनी से यह शब्द क्योंकर निकले । इस पर भी तुर्रे पर तुर्रा यह कि उक्त लावनी में हमारा नाम है जिससे या तो यह प्रयोजन है कि जो लोग नहीं जानते वह समझें कि यह भी सनातन धर्म का [illegible] होगा अथवा यह दिखलाना अभीष्ट होगा कि 'आर्य्यावर्त' ऐसी साफ तरह व्यक्ति विशेष को यों गालियाँ देने में भी किसी का भय नहीं करता । यह हम नहीं कह सकते कि सहयोगी हमसे बैर रखता है पर इतना तो बुद्धिमान मात्र कह सकते हैं कि उसकी धर्मभीरुता, बुद्धिविशालता, सभ्यता और दूरदर्शिता किस दरजे तक चढ़ी-बढ़ी है ।

ऐसे 2 रंग-ढंग देख कर यदि कोई सच्ची आलोचना करना चाहेगा तौ उसे सभ्यता बाधा डालेगी पर इतना तथापि मुँह से निकले बिना न रहेगा कि "इस सादगी प कौन न मर जाय ऐ खुदा । लड़ते हैं और हाथ में तलवार भी नहीं" । अब हमारे पाठकगण बतलावैं तो ऐसों के साथ उत्तर-प्रत्युत्तर करते रहना किस प्रकृति के लोगों का काम है और वह प्रकृति ब्राह्मण के लिए उचित है वा नहीं ? फिर हम क्यों न कहें और कहाँ तक न कहें कि बाबा ! हमने जो कुछ लिखा था वह दूसरे धोखे से लिखा था, पर अब तुम्हीं सच्चे हो, तुम्हीं बड़े हो, तुम्हीं लिखना जानते हो, हम तुम्हारी बराबर बनना अपने पक्ष में अच्छा न समझ कर मौनावलंबन करते हैं । कहा-सुना मुआफ, हार मानी, झगड़ा मिटा, बस !

खं० 8, सं० 11 (जून, ह० सं० 8)

आपबीती कहूँ कि जगबीती

जब तक हमारा संबंध जगत के साथ बना हुआ है तब तक आपबीती भी जगबीती का एक अंग है । इसमें थोड़ी-सी यह भी सुन लीजिए कौन जाने पेट पड़े कुछ गुण दे । बात यह है कि जो लोग केवल हाथ-पाँव से परिश्रम करते हैं और मस्तिष्क से बहुत काम न लेकर केवल शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति से प्रयोजन रखते हैं तथा यथासाध्य आहार-विहार के नियमों का पालन बरंच लालन करते रहते हैं वे बहुधा नीरोग होते हैं । पर जिन्हें बाह्य जगत की इतनी चिंता नहीं रहती जितनी दिमागी दुनिया की रहती है उन्हें कोई न कोई रोग न हो तो आश्चर्य है और यह इसी दूसरी श्रेणी के पाँचवें सवारों में हम भी हैं । इससे रोगराज की हम पर भी यों तो साधारण दया रहती ही है किंतु तीसरे-चौथे वर्ष विशेष कृपा हो जाती है । जिसमें आप राजसी ठाट-बाट में चार-छः महीने के लिए आ जाते हैं और उनकी भेंट के लिए रुपया तथा भोजन पान के लिए अपना रक्त-मांस हमें अवश्य अर्पण करना पड़ता है । बरंच उनके साथ नाना कल्पनामय विश्व में घूमते-घामते अज्ञात लोक के द्वार तक भी कई बार जाना पड़ता है । उन दिनों हमें इस पत्र के संपादन अथवा दूरस्थ मित्रों के साथ पत्रव्यवहार का अवकाश नहीं रहता क्योंकि हम एक विशेष अभ्यागत की सेवा-सुश्रूषा में लगे रहते हैं । इस प्राचीन रीति के अनुसार हमारे मित्र रोगराज ने गत वर्ष देह नगर में पदार्पण किया था पर हमने उनका उचित आदर-मान नहीं किया । केवल कनपुरिहा मित्रों की भाँति चार आँख हो जाने पर घोड़े की नाईं हें हें करके या यों ही पानी पान मात्र को पूछपाछ के टालमटोल करते रहे । जहाँ आपरूप आँखों की ओट हुए कि फिर कोई संबंध नहीं !

यद्यपि हृदय से हम सदा चाहते हैं कि उन्हें किसी प्रकार ऐसा नीचा दिखावैं कि फिर वह किसी काम के न रहें, पर करें क्या जब तक मौका नहीं मिलता तब तक मुख से मित्रता का स्वाँग भरते हैं । आप समझिए रोगराज भी तो बच्चे नहीं हैं, सारे भारत को चरे बैठे हैं, हमारी चालबाजी कब तक न ताड़ते ? दो ही चार बार के बर्ताव से समझ गए कि सीधी उँगली से घी न निकलेगा; पर न जाने किस कारण से उनका भी चित्त दुचित्ता-सा था । अतः हमारे साथ पूरी चाल न चल केवल कभी ही कभी कुछं 2 हाथ दिखाते रहे ।

जो सज्जन 'ब्राह्मण' को रुचिपूर्वक देखते हैं उन्होंने देखा होगा कि गए बरस किसी 2 मास में हमने एक अक्षर भी नहीं लिखा । लिखना कैसा यदि हमीं उत्तरदाता होते तो कुछ दिन के लिए अपने पाठकों से छुट्टी लेते वा मुँह छिपा जाते । पर यस्मात 'ब्राह्मण' इन दिनों सौभाग्यवशतः एक क्षत्रिय वीर के आश्रय में है अस्मात उसका निर्वाह हमारे उपेक्षा करने पर भी उचित और उत्तम रीति से होता गया । यों द्वेष वा अरसिकता से जो चाहे सो कहा-सुना करें । लिखने का हमें आप व्यसन है पर अकेला मनुष्य घर आए लश्कर की आवभगत में फँसा हो तो दूसरे काम क्यों कर सकता है ?

इस भाँति रोगराज के और हमारे दावपेंच बारह मास तक चलते रहे अंत में कई बार जिच्च होने के कारण चैत्र लगते ही वह झुँझला ही तो उठे । इस देश के लोगों में यह बड़ा दुःखदायक और हानिकारक दोष है कि आरंभ में रोग को रोग नहीं समझते । पर हमारे लिए तो आरंभ न था इससे उनके तेवर बदले हुए देखते ही प्रतिकार की चेष्टा करने लगे । किंतु अभाग्य समझिए चाहे अज्ञान समझिए जिसके हेतु से हम एक ऐसे धोखे में पड़ गए कि ईश्वर सबको बचावे ! किसी की निंदा करना हम

अच्छा नहीं समझते पर सच्ची बात इसलिए प्रकाश किए देते हैं कि दूसरे लोग धोखे में पड़ के कष्ट न सहें। एक संन्यास भेषधारी व्यक्ति कानपुर में आए थे और मिलने-जुलने वालों के द्वारा प्रसिद्ध कर दिया था कि आप आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रंथों को पढ़े हुए हैं, उनके प्रायः सभी अंगों में अभ्यास रखते हैं, उन्हीं के अनुसार चिकित्सा करते हैं और उसी विद्या के प्रचारार्थ यहाँ आए हैं।

इतना ही नहीं बरंच कई भलेमानसों को सुश्रुत पढ़ाना और कई को औषधि देना भी आरंभ कर दिया था। जो लोग बिलायती दिमाग के उनके पास जाते थे उनके संमुख पश्चिमीय चिकित्सा का अधूरापन भी बातों में सिद्ध कर देते थे तथा आर्य्य शाक्तों की और मामूली बातें भी जिज्ञासुओं को सुनाया करते थे। ऐसी 2 बातों से कुछ लोगों को उन पर श्रद्धा हो गई थी। उन्हीं लोगों के द्वारा हमें भी दो-एक बार उनसे मिलने का अवसर पड़ा था। उसमें हम पर दया करने वाले कतिपय सज्जनों ने उनसे हमारे गुण-दोष ऐसी रीति से वर्णन कर दिए कि बाबा जी महाराज हमारे मौखिक मित्र बन गए। आप समझिए हम अंतर्यामी तो हैं ही नहीं कि कुछ दिन परिचय पाए बिना किसी का आंतरिक भेद जान सकें। अतः उनके ऊपरी सुव्यवहार पर हम भी रीझ गए। विशेषतः वह चरक सुश्रुतादि के अनुकूल हिंदी में एक पुस्तक बनाने और कानपुर में सर्वसाधारण के सुभीते के योग्य देशीय औषधालय स्थापन करने की इच्छा प्रकाश करते थे तथा इन दोनों विषयों में हमसे सहायता लेने के उत्सुक जान पड़ते थे और हम भी इन दोनों बातों की देश के पक्ष में बड़ी भारी आवश्यकता समझते हैं इससे और भी जी खोल के मिलना उचित समझ बैठे !

इसे पाठकगण निरी देशहितैषिता ही न समझें, हमने एक विद्वान वैद्य के द्वारा अपने रोग की निवृत्ति तथा निज मित्रों के लिए चिकित्सा संबंधी सुविधा का भी सुभीता समझा था। इस प्रकार हमारा उनका मेल थोड़े ही दिन में इतना हो गया कि जहाँ वह दूसरों के यहाँ बग्घी पर चढ़े बिना जाते ही न थे वहाँ हमारे यहाँ पैदल चले आते थे और घंटों पड़े रहते थे। इस बीच में यद्यपि कई बार उनकी बातों तथा दूसरों के प्रति व्यवहार के द्वारा यह विदित हो गया कि जैसा हमने आरंभ में समझा वैसा नहीं है तथापि हमें कई बार इस बात का अनुभव हो चुका है कि चतुर स्वार्थी दूसरों के साथ चाहे जैसा बर्तावि करे पर जिन लोगों की मित्रता के लिए प्रसिद्ध हो जाते हैं वा जिन लोगों को परीक्षा द्वारा अपना हितैषी समझ लेते हैं उनके साथ बुराई नहीं करते !

इसी विचार से हमने उनका अविश्वास करना उचित न समझा क्योंकि हमने उनके साथ भलाई ही की थी (जिसका वर्णन व्यर्थ है) और यथासामर्थ्य पूरा हित करने की इच्छा रखते थे (यह बात उनसे भी छिपी न थी) यथा यह भी विचार था कि स्वास्थ्य लाभ के उपरांत ऐसी युक्तियाँ बतलाते रहेंगे कि नगरवासी इन्हें महात्मा समझ के श्रद्धा करें और परस्पर दोनों का उपकार होता रहे। यह विचार हमारा नया न था, कई बार कई लोगों की महिमा इसी के द्वारा बढ़ाने में कृतकार्य हो चुके हैं, पर इस अवसर पर 'मन के मन ही माहिं मनोरथ वृद्ध भए सब'।

आपने हमारी चिकित्सा आरंभ की और पहिले पाँच-सात दिन उसके द्वारा हमें लाभ भी उचित रूप से जान पड़ा। यथाशक्ति इसके पूर्व भी धन के द्वारा सुश्रूषा कर चुके थे और अब भी उनसे कहा कि—संकोच न कीजिएगा, औषधादि के लिए आवश्यकता हो सो बतलाते जाइएगा। मित्रता का अर्थ यह नहीं है कि बड़ी भारी आवश्यकता के बिना परस्पर की तनिक भी हानि की जाय—इस पर आपने ईश्वर और धर्म सबको साक्षी बना डाला कि मेरा तुम्हारा व्यवहार स्वच्छ ही रहेगा। इस पर हमने भी

समझ लिया कि फिर समझेंगे इसमें बात क्या है । अस्तु औषधि बदली गई और तीन ही चार दिन के उपरांत कष्ट की वृद्धि आरंभ हो गई । इसकी चर्चा की तो उत्तर मिला—चार ही छः दिन में कष्ट जाता रहेगा, घबराओ नहीं । पर चार-छः दिन में कष्ट तो क्या जाता रहा सामर्थ्य इतनी भी जाती रही कि जहाँ चिकित्सा के पूर्व घूमा करते थे वहाँ तक सवारी पर जाने योग्य भी न रहे ! एक दयालु सज्जन के द्वारा समाचार भेजा तो उत्तर पाया कि कुछ चिंता नहीं है, औषधि वहीं सेवन किए जायँ । ऊपरी कष्ट अमुक यत्न से आज ही निवृत्त हो जायगा, पर वह यत्न और भी दाद में खाज हुवा !

यह दुःख भी दो दिन जी कड़ा करके भुगता और बीच-बीच में चाहा कि एक बार स्वामी जी के दर्शन हो जाते तो अपना रोना ही सुना देते, पर हम गुनाहगारों का ऐसा भाग्य कहाँ ? अब वह दिन कहाँ कि बिना बुलाए आ-आ के आप बैठके ही मन में पड़ रहें ! इधर रुपए की भी चर्चा आई जो खास बिलायती डाक्टर भी सप्ताह दो सप्ताह में न व्यय करा सकें । कहाँ तक कहिए कि 'दुश्मनी ने सुना न होगा जो हमें दोस्ती ने दिखलाया !' दश ही पन्द्रह दिन में 'मरज बढ़ता गया ज्यों 2 दवा की' का पूरा उदाहरण देख लिया । खाट से उठ के आँगन तक आना दुष्कर और पड़े रहना भी कठिन हो गया ! नींद और भूख के साथ नए विदेशियों की इतनी जान-पहिचान रह गई पर बल से राम रमौवल भी मानो कभी न थी !

इस प्रकार जब देखा कि अब अन्य चिकित्सा का अवलंबन किए बिना प्राण का भय है तो श्री पं० कालिकाप्रसाद त्रिपाठी की शरण ली । यह इस जिले के विधनू नामक ग्राम के बासी कान्यकुब्ज हैं और बंगाल में कई वर्ष रह के वैद्यविद्या भली भाँति सीखे हैं । महाराज बेतिया के यहाँ परीक्षा में उत्तीर्ण हो के वहाँ से तथा कई और प्रतिष्ठित राजपुरुषों से प्रशंसापत्र भी प्राप्त कर चुके हैं । यों मरना-जीना ईश्वर के हाथ है पर दवा यह बहुत ध्यान दे के सच्चाई के साथ करते हैं । कानपुर में एक आयुर्वेदीय औषधालय भी खोल रक्खा है जिसकी प्रशंसा करके हम कागज रँगना नहीं चाहते, लोग परीक्षा करके स्वयं जान सकते हैं । हमारा उपर्युक्त दुःसह कष्ट इन्हीं तिवारी जी के यत्न से दूर हुआ है और रोग भी यदि निःशेष नहीं हुआ तो दब बहुत ही गया है !

इधर हमारे मान्यवर डाक्टर भोलानाथ मिश्र जी ने भी थोड़ा अनुग्रह नहीं किया । कहना अत्युक्त नहीं है कि इस बार इन्हीं दो सज्जनों ने मृत्यु के मुख से तो छुड़ा लिया है आगे हरि इच्छा ! उक्त संन्यासी जी के हाथ से सुनते हैं और भी कई लोग कृतार्थ हो चुके हैं पर हम पूरा पता लगा के अपने पाठकों कों स्वामी जी का पूरा परिचय देंगे । अभी तो हमें अपना ही रोना पड़ा है ।

शारीरिक और मानसिक शक्ति आज भी हम में न होने के बराबर है इससे लिखने-पढ़ने का उत्साह ही नहीं रहा फिर हमारे लेख में सरसता कहाँ से आवै ? यह सहयोगी 'भारतमित्र' की केवल कृपा है कि हम उनकी कलेवरवृद्धि पर आनंद भी नहीं प्रकाश कर सके पर उन्होंने 'नमंति सफला वृक्षा नमंति विदुषा जनाः' का जीवित उदाहरण दिखा के 13 जुलाई के पत्र में हिंदी भाषा विषयक लेख के मध्य हमें भी सुलेखकों की श्रेणी में गिन के हमें प्रोत्साहित करने का यत्न किया है । पर हम वास्तव में जो कुछ हैं सो हमीं जानते हैं, विशेषतः जिस नगर में रहते हैं वहाँ दिन 2 बरंच छिन 2 हमारा उत्साह ऐसा बढ़ाया जाता है कि हमारा ही काम है जो इतने पर भी अपने चरखे को पिन्न 2 चलाए जाते हैं । यदि श्री मन्महाराजकुमार बाबू रामदीन सिंह महोदय की रक्षा न होती तो यह पत्र ही न बंद हो जाता बरंच सभी बातों में हमारा हौसिला ऐसे बढ़ जाता जैसे दुकान, जनेऊ और दीपक बढ़ जाता है ! पर उक्त क्षत्रियाभ

ने इस हतोत्साह दशा में सगर्व यह कहने का हियाव दे रक्खा है कि 'क्या शिकायत है न जाने कद्रगर अहले वतन। मेरी शुहरत ने किया है अब इरादा दूर का।' प्रिय सहयोगी को कदाचित विदित नहीं है कि हमें भी बाबू साहब आर्थिक सहायता थोड़ी नहीं देते, पर यह उनका स्वाभाविक गुण है इससे हमें धन्यवाद प्रदान की चिंता नहीं रहती। केवल सर्वसाधारण को इतना ही कई बार सूचित कर चुके हैं और अब भी विदित किए देते हैं कि :—

हमारी अनुवादित वा लिखित किसी पुस्तक के छापने आदि का अधिकार श्री बाबू रामदीन सिंह साहब के सिवा और किसी को नहीं है।

हमारे पास कृतज्ञता प्रकाश करने की और क्या सामग्री है ? और होती भी तो ऐसे निश्छल देशभक्त की कृपा की बराबरी कैसे कर सकती ? सच तो यह है कि ऐसे मित्र साधारण भाग्यशालियों को नहीं मिलते। यदि देशवासी सहृदयताभिमानीगण ऐसों का भी उचित सन्मान करें तो देश का दुर्भाग्य है ! यह दुख रोना बहुत बढ़ गया है इससे इस निवेदन के साथ यहीं पर इतिश्री करते हैं कि हमने रोग और निर्बलता के कारण अबकी बार का सा क्लेश कभी नहीं उठाया और अब भी चार महीने हो गए पूर्ण स्वास्थ्य के लक्षण नहीं देख पड़ते।

जी किसी बात के लिए हुलसता ही नहीं है। इससे जो मित्रवर्ग हमारे लेखों से कुछ स्वादु पाते हैं और हमारे द्वारा कुछ देश की सेवा लिया चाहते हैं उन्हें अपने इष्टदेव से प्रार्थना करना चाहिए जिसमें हम नए वर्ष से उनकी प्रसन्नता संपादन के योग्य हो जायँ। इधर हम दवा और परहेज तो कर ही रहे हैं, यदि कोई सज्जन पत्र द्वारा बीमारी का हाल पूछ के कोई शीघ्र गुणकारिणी परीक्षित औषधि बतलावैंगे तो हम भी उनका बड़ा गुण मानेंगे, किमधिकं।

खं० 9, सं० 12 (जुलाई ह० सं० 9)

'इस सादगी (मूर्खता) पे कौन न मर जाय ऐ खुदा लड़ते हैं और हाथ में तलवार भी नहीं'

हमारे उर्दू सहयोगी 'फतेहगढ़ पंच' साहब बहादुर ने 14 सितंबर के 'उर्दू नागरी' नामक लेख द्वारा उपर्युक्त शेर का ठीक 2 अनुभव कराया। धन्य है ! वाह री बुद्धि ! हमें उनके मुँह की दुर्गंधि का यथावत् वर्णन करते घिन आती है, पर क्या करें, इतना उपदेश किए बिना नहीं रहा जाता कि 'पंच' की एडिटरी चिरकीन के शागिर्दों का काम नहीं है। वीभत्स और हास्य रस में बड़ा अंतर होता है। यह उर्दू बीबी के सफरदाई जब तक किसी नागरी देवी के भक्त से न सीख लेंगे तब तक लेख प्रणाली से सर्वथा अज्ञात रहेंगे। छिः ! जिन शब्दों से मनुष्य मात्र यदि बवन नहीं कर देते तो थूक अवश्य मारते हैं उनसे सिवाय संपादक साहब तथा थोड़े से औघड़ों के हँसेगा कौन ? हाँ ऐसी बुद्धि पर हँसे तो हँसे

जो लिखाती है 'यद्यपि बुद्धिमती पश्चिमोत्तरदेशीय गवर्नमेंट ने उर्दू ही का प्रचार पसंद किया है और नागरी को त्याग दिया है परंतु हमारे सहयोगी 'मथुरा अखबार' ने फिर गड़े को उखाड़ कर प्रिय पाठकों के मस्तिष्क को दुर्गंधित कर दिया, विशेषतः इस समय में जब कि बिशूचिका की अधिकता है'।

हम अपनी गवर्नमेंट के अनेक बातों में अनुगृहीत हैं पर उर्दू अक्षरों से प्रजा को जो हानि है उसे देखकर बड़े शोक एवं आक्षेप से कहना ही पड़ता है कि इस विषय में निश्चय हमारी गवर्नमेंट, यदि सचमुच हमारी हितैषिणी है तो, चूकती है। हिंदी अक्षरों के बिना हिंदुस्तानी प्रजा का दुःख न टला है न टलेगा। जो लोग गवर्नमेंट की उर्दू के विषय में प्रशंसा करते हैं वे प्रजा का गवर्नमेंट से अहित कराया चाहते हैं क्योंकि उसके प्रजा केवल शीन काफ वाले ही नहीं हैं बरंच वे भोले-भाले ग्रामवासी भी हैं जो नागरी के सिवाय कुछ नहीं जानते। उन्हीं की संख्या भी अधिक है। और उन्हीं को सर्कार दर्बार से काम भी अधिक रहता है।

'मथुरा अखबार' ने यदि इन दिनों फिर नागरी की उत्तमता का सर्कार को स्मरण दिलाया तो बहुत ही अच्छा किया। 'फतेहगढ़ पंच' व्यर्थ उबलते हैं जो उस पर आक्षेप करके अपनी बुद्धि का परिचय देते हैं। हम जानते हैं उर्दू ऐसे जालमयी विषवृक्ष को जड़ से उखाड़ के फेंक देने की चेष्टा ही सर्वहितैषिता है। अ०ग०पं० हैजे के दिनों में ऐसे कुत्सित पदार्थों का गाड़ रखते होंगे पर उनको किसी हम ऐसे डाक्टर से बुद्धि के नेत्रों की फुल्ली चिरवा डालनी चाहिए जिससे सूझ पड़े कि पुरानी दुर्गंधि वस्तु और भी रोग बढ़ाती है।

यह दुर्गंधि ही दिमाग में चढ़ जाने का फल है जो लिख मारा कि 'नागरी में लफ्ज मुर्तजा नहीं लिखा जा सकता है'। भला किसी पंडित से, जो उर्दू भी जानता हो, पढ़ाइए तो मुर्तजा है कि नहीं ? यह तो उर्दू लिखाई का गुण है जिसमें नुक्ता रहते भी 'प्रीति' और 'प्रेत', 'गोह में' और 'गूह में' इत्यादि में बड़े 2 मौलवी फरक नहीं कर सकते। दूसरी भाषा का शब्द दूसरे अक्षरों में न बने तो कोई बड़े आक्षेप का विषय नहीं है पर उर्दू बीबी के चेले किस बिरते पर नखरा करते हैं जिसमें उर्दू ही के शब्द कुछ के कुछ पढ़े जाते हैं। इस विषय में बहुत बार बहुत सहयोगी लिख चुके हैं और अनेक मुकदमों में सर्कार ने स्वयं उर्दू का दुरंगापन देख लिया है अतः यह पिष्टपेषण न करके हम 'मुर्तजा' के शब्द का समाधान करते हैं। सिवाय नागरी के जितने अक्षर हैं, बनावटी और ऊटपटाँग, विशेषतः उर्दू के तो कहना ही क्या है। लिखने के समय तो एक लकीर मात्र (।), काम भी केवल 'अ' के दे, पर बोलने में अ लि फ।

बुद्धिमान लोग बिचार के कहैं तो सही कि 'लि' और 'फ' से क्या प्रयोजन निकलता है। इसी प्रकार सब अक्षर हैं, विशेषतः 'ज' के होते हुए 'जाल' 'जाद' और 'जो'—इतने अक्षर यदि व्यर्थ न भी माने तो इस देश में, जहाँ तक बोलियों के कूड़े से उर्दू बीबी के शरीर का अधिकांश बना है, क्या प्रयोजन निकलता है। हाँ, पश्चिमीय बोली की धज समझ के 'ज' के नीचे नुक्ता देने की रीति मान ली है, यद्यपि झींगुर की-सी बोली बोलना भी यहाँ वालों को नहीं सोहता। यदि हम 'मुर्तजा' कह के वही प्रयोजन सिद्ध कर लें तौ भी कोई हानि नहीं। उर्दू वाले भी हमारे मंत्र और ब्रह्मणादि शब्दों को मंतर और बरहमन कहते नहीं शरमाते। हम लोग तो ज और ग इत्यादि बोल भी लेते हैं और लिख भी देते हैं। कोई उर्दू के अकील अक्ल के पुतले 'गणित' शब्द लिख तो दें।

यों सर्कार नागरी देवी के गुण जान-बूझ के भी आदर न करे तो हमारा दुर्भाग्य है पर नागरी

सर्वगु[illegible]गरी मसखरों के कहने से कदापि दूषित नहीं हो सकती। पचासों मौलवी और मुंशी दिन-भर मुर्तजा बोलते हैं, यदि उनके ठीक 2 उच्चारण को सुनके कश्मीरी पंडित [illegible]होदय ने मुर्तजा लिख दिया तो क्या बुरा हुआ। यदि कोई उर्दू भक्त यह हँसें कि 'ज्वाद' की आवाज न निकली तो उनकी भूल है। खास फारस वालों को भी 'ज्वाद' का उच्चारण 'ज' ही करते सुना है। केवल सत्रह कोने का मुँह बना के कहते हैं सो इससे क्या। 'ज' ज्यों की त्यों ही रहती है। जब उनका यह हाल है तो यहाँ वालों का कहना ही क्या है। हम एडिटर ही साहब से पूछते हैं, बतावें तो 'ज्वाद' की और 'जे' की आवाज में भेद क्या है। शायद फोटोग्राफ भेजें कि 'ऐसा मुँह बना के ज्वाद बोलते हैं'। लिख के या बोल के 'ज्वाद' और 'जे' की आवाज का फर्क दिखाने वाला हिंदुस्तानियों में तो है नहीं, रहे फारस अरब वाले, उनसे उर्दू का संबंध ही क्या।

पर अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने वालों की बात न्यारी है। कल को कहैंगे—'मुर्तजा' में 'ये' है लेकिन 'अलिफ' की आवाज देती है सो नागरी में हो ही नहीं सकता'। इसके उत्तर में हम भी कह देंगे कि देखने की इंद्री का नाम आँख है पर कोई कान से देखता हो तो हम क्या करें, उर्दू वालों की बुद्धिमत्ता है जो 'ये' को 'अलिफ' की भाँति बोलते हैं। हमें क्या, वे 'ये' का शुद्ध उच्चारण करें हम 'मुरतजी' लिख देंगे। हठधरमी और बात है पर उर्दू वाले बिचारे क्या दावा कर सकते हैं कि हिंदी में कोई शब्द नहीं लिखा जा सकता। क्या उनकी भाँति सभी के अक्षर अपूर्ण हैं ? ऐसे बिहंगम अक्षर के पक्षी को कौन न कहेगा—'लड़ते हैं और हाथ में तलवार भी नहीं।'

खं० 3, सं० 8 (15 अक्टूबर ह० सं० 1)

विविध निबंध

माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे ही के पर्याय हैं, इस रीति से यदि हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अयुक्त न होगा, क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह धोखा खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाता है वा धोखे की टट्टी खड़ी करता है।

बिस्फोटक

रसायन विद्या से जाना जाता है कि कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो न्यून व अधिक सभी वस्तुओं में हुआ करते हैं। जो पदार्थ बहुत ही अधिक होते हैं, जैसे जलवायु, अग्नि, वह तो हिलना, चलना, शीतलता, उष्णता, प्रकाश आदि अपने गुणों से प्रत्यक्ष ही से दीख पड़ते हैं। पर जो न बहुत न्यून न बहुत अधिक हैं, वे किसी यत्न करने से वा दैविक नियमानुसार कभी 2 आप ही से प्रकट हो जाते हैं। जैसे कंडे की निर्धूम आग पर थोड़े से गेहूँ रक्खो तो थोड़े ही से काल में उनमें से एक प्रकार का तेल-सा निकलेगा जो पहिले किसी भाँति जान न पड़ता था, पर गेहूँ में वह था निस्संदेह। कभी 2 बन के सूखे वृक्ष आप से आप जल जाया करते हैं। इसका कारण यही है कि भौतिक वायु के द्वारा वृक्षों की सूखी डालियों के आपस में रगड़ खाने से उनमें की अग्नि, जो पहिले गुप्त थी, प्रकट हो जाती है।

इन्हीं दूसरी श्रेणी के पदार्थों में से एक पदार्थ विष भी है जो मनुष्य और किसी 2 पशु के शरीर में कुछ अधिक हुआ करता है और काल पाकर प्राकृतिक नियम के अनुसार बहुधा सभी के एक वा अधिक बार अवश्यमेव फूट निकलता है। इसी को लोग शीतला अथवा माता निकलना कहते हैं। हमारे यहाँ के आयुर्वेद में उसका नाम 'विषफोटक' वा विष की पुड़िया लिखा है सो सत्य भी जान पड़ता है, क्योंकि बहुधा विष वाले पदार्थों में एक रीति की चमक हुआ करती है। हीरा, अहिफेन, मोरपक्ष इत्यादि जैसे एक चमक भी लिये होते हैं वैसे ही शीतला निकलने से पहिले शरीर भी सुदृश्य होता है। यद्यपि कभी 2 यह रोग युवा पुरुषों को भी होता है पर बालकों के कोमल शरीर तो इस भयानक रोग के कारण असह्य क्लेश पाते हैं और कुरूप, काने, अंधे, तुतले हो जाते हैं। कभी 2 यह दुष्ट रोग प्राण का भी ग्राहक हो जाता है। आह 'नाम जिसका नहीं लेते यः वह बीमारी है।' क्यों न हमारे सदय हृदय पूर्वज इससे पीड़ित दूध के फोहों की दशा पर माता करते। अर्थात् ऐसे अवसर पर पालने वाली, रक्षा करने वाली; परमेश्वर की शक्ति का स्मरण आ ही जाता है।

उपाय तो इसका कुछ न कुछ सुश्रुत चर्कादिक में ही होगा पर हमारे यहाँ के वैद्यराजों को क्या पड़ी है कि अपना समय पढ़ने-पढ़ाने में व्यर्थ खोवैं। वैदकी क्या सभी विद्या इस देश में केवल आजीविका मात्र रह गईं। इस बात के लिए सरकार को तो अवश्य धन्यवाद देंगे कि नगर 2 गाँव 2 में सहस्रों रुपये खर्च करके टीका लगाने का प्रचार करती है। नश्तर से बाँह में किंचित मात्र खरोद के, गोथन शीतला की पपड़ी (खुरंड) पिसी हुई थोड़ी-सी संनिवेशित कर देने को टीका लगाना कहते हैं। इससे किसी प्रकार का, सोच देखो तो किसी सत के अनुसार; दोष नहीं है। विश्वस्त लोगों से सुना गया है दक्षिण के कई एक नगरों में ब्राह्मण लोग टीका अपने 2 हाथ से देते हैं। इस क्रिया के करने से शरीर-भर की गर्मी एक ही स्थान से निकल जाती है। फिर प्रथम तो शीतला निकलने का संभव ही नहीं रहता, यदि निकली भी तो उतना दुःखदायक प्राबल्य तो कदापि नहीं होता।

यूरप देश में जब से उसका प्रचार हुआ तब से यह व्याधि प्रायः निर्मूल-सी हो गई है । पर हाय हमारे देशी भाइयों की समझ पर, जो कि इस उत्तम यत्न से जी चुराते हैं । जब छोटे 2 बालक खेल में मग्न होने के कारण बुलाने पर नहीं आते वा घर से बाहर खेला चाहते हैं तो माता-पिता कहते हैं 'अरे भाग, गोदना वाले आये हैं' । मानों भूत और हौआ का नाम गोदना वाले भी है । यह नहीं सोचते कि बिचारे भोले-भालों के हृदय में व्यर्थ का झूठा भय प्रवेश कर देना स्याने होने पर उन्हें कैसा भीरु और डरपोकना बना देगा !

प्रिय पाठकगण ! मरना-जीना तो ईश्वर के हाथ है पर प्रयत्न करना बुद्धिमानों का कर्तव्य धर्म है । आप लोगों को अवश्य चाहिए कि अपने 2 प्यारे बच्चों के टीका लगवा दो । यदि एक बार अच्छा न लगे तो दो व तीन बार तक इस सहज सुलभ औषधी को काम में लाओ । टीका अच्छा लगने की पहिचान यह है कि बहुधा तीसरे दिन उस ठौर पर छोटा-सा लाल दाग दिखाई पड़ता है । चौथे दिन वह दाग कुछ उभरा-सा जान पड़ता है । पाँचवें दिन वही छोटा-सा फफोला हो जाता है । आठवें दिन तक बढ़ता रहता है । आकृति इस फफोले की गोल, किनारे उठे हुए, और ध्यान देके देखने से बीच में कुछ दबा-सा और उसी दबाव से लेकर किनारे तक कई एक लकीरें-सी होती हैं और अनुमान बारहें दिन से इस फफोले का सूखना आरंभ हो जाता है ।

इस बीच में बालकों को कुछ एक कष्ट भी रहेगा, उसका कुछ डर न करो । हाँ उस फफोले को फूटने से बचाये रहो । इससे आप देखोगे कि कैसा अच्छा होता है । शीतला जी का पूजन एक विश्वास की बात है । गदहों को खिलाना और जीव मात्र की रक्षा करना पुण्य का काम है । पर इन बातों से विषफोटक रोग को कोई संबंध नहीं । इसके लिये टीका दिलाना ही परमोत्तम औषधि है । शीतला शब्द का अर्थ तो किसी पंडित से पूछते । उनसे डरने का तो कोई कारण ही नहीं है । फिर जब वे बिना औषधि सेवन के दया करती हैं तो क्या निश्चित उपाय का अवलम्बन करने से रुष्ट हो जायँगी ? इससे यही योग्य है कि पूजा-पाठ, हवन, ब्राह्मण भोजन, सब करो पर टीका दिलाने से मुँह न फेरो । यदि अपने संतानों को सच्चे जी से प्यार करते हो, उसकी रक्षा तुम्हारा अभीष्ट है, तो अवश्य इसका सेवन करो और दूसरों को भी अनुमति दो कि सब डर छोड़ के इसका सेवन करैं ।

खं० 2, सं० 2 (15 अप्रैल सन् 1884 ई०)

इनकमटैक्स

यदि इस शब्द का यही अर्थ है कि "आमदनी पर महसूल" तो न जाने हमारी सरकार ने हम लोगों की किस आय की वृद्धि देखी है जो यह दुःखद कर बाँधा है ! पुराने लोगों से सुनते हैं कि "उत्तम खेती मध्यम बान, अधम चाकरी भीख निदान" पर इस काल में यह कहावत पूर्ण रूप से उलट गई है । खेती

की दशा पर हमें कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है । जो चाहे दिहात में जाके देख ले, बिचारे कृषिकारों के बारहों मास दिनरात के कठिन परिश्रम करने और 'नींद नारिं भोजन परिहरई' का ठीक नमूना बनने पर भी पेट भरना कठिन हो रहा है । क्या जाने किस भविष्यत् ज्ञानी कवि ने आजकल की दशा पहिले से सोच के मद्य और विषपान करने के बराबर ही हल-ग्रहण को भी त्याज्य समझा हो, और "हालाहल हलाहलम्" लिखा हो ।

उससे उतर के व्यापार समझा जाता था, सो कुछ कहना ही नहीं । हर शहर के प्रत्येक रुजगारी की दशा सरकार को हम यों नहीं समझा सकते, जब तक न्याय दृष्टि से स्वयं कुछ दिन किसी बाजार का वह गुप्त रूप न देखै ! हम जितनी बड़ी 2 दुकानें देखते हैं, सभी भाँय 2 होती हैं । जिन्होंने हजारों रुपया अटका दिया है, उनको ब्याज भी कठिन हो रहा है । दिवाले निकलना खेल-सा हो गया है । अमीर कहाते हैं वे फी सैकड़ा दो-तीन से अधिक न होंगे, जिन्हें रोजगार पेटे कुछ मिल रहता है, नहीं तो केवल पूर्व-संचित द्रव्य ही से पुरानी साख बाँधे बैठे हैं । ऐसा कोई कार ही नहीं जो सरकार ने निज हस्तगत न कर लिया हो । इस हालत में बिचारे छुटभइये लाइसेंस और चुंगी के डर से, पहिले तो कुछ करी नहीं सकते, यदि कुछ करें तो तीन खाते हैं तेरह की भूख बनी रहती है !

हमारा कानपुर जो अब से दस वर्ष पहिले था, अब नहीं रहा । यह तो रोज सुन लीजिए कि आज फलाने बिगड़ गये, पर यह सुनने को हम मुद्दत से तरसते हैं कि इस साल फलाने इस काम में बन बैठे । जब आमदनी के इन उत्तम और मध्यम मार्गों की यह दशा है तो सेवा-वृत्तियों का कहना ही क्या ? सैकड़ों पढ़े-लिखे मारे 2 फिरते हैं । बिना सिफारिश कोई सेंत नहीं पूछता । कुछ मिडिल क्लास की पख, कुछ बेकदरी के बायस से बिचारे बाबू लोग महँगी कैसे मजदूर उतारते फिरते हैं । कहार ढूँढ़ो तो मुश्किल से मिलैं, नाँच वाँच के लिए वेश्या बड़े नखरे से आवे, पर हमारे 'इन्लाइटेंड' भाई से झूठ-मूठ भी कहि देव के फलानी जगह एक हेड की जरूरत है, बस, एक के बदले पचास, चुगा फलकारते, मुरैठा सम्हालते मौजूद हैं ।

अगले लोग जिस नौकरी को निकृष्ट वृत्ति और शूद्र का काम समझते थे उसकी लालसा बड़े 2 बाजपेयी ऐसी रखते हैं जैसी मतवाले भाई मुक्ति की न रखते होंगे । वह नौकरी जिनको महादेव जी की दया से मिल भी गई है उनको बबुआई की ठसक मारे डालती है । सुनते हैं, आगे चार रुपया महीने का नौकर अपने कुटुंब के सिवा दो-चार और आश्रितों का भरण-पोषण कर लेता था, पर हमको इसका निश्चय क्यों कर हो, जब देखते हैं कि सौ 2 दो 2 सौ के नौकर भी, राम झूठ न बुलावै, सौ पीछे पचहत्तर तो अवश्य होंगे जिनको हजरत गालिब का यह वाक्य अनुभूत सिद्धांत है–

> बस कि लेता हूँ हर महीने कर्ज
> और रहती है सूद की तकरार ।
> मेरी तनख्वाह में तिहाई का
> हो गया है शरीक साहूकार ।।

तौ भी धन्यवाद है कि खितिहरों और लालों से फिर भी बाबू जी बाबू तो कहाते हैं । हाँ, प्रोहत, पाधा, पंडा और गयावाल इत्यादि की दशा कुछ अच्छी कह सकते थें, क्योंकि उन्हें बेमेहनत घर बैठे लक्ष्मी आती है और हमारी उपर्युक्त लोकोक्ति यों भी ठीक होती है कि–

"उत्तम भिक्षा वृत्ति है, फिर बबुआई जान,
अधम बनिज बैपार है, खेती खोंटि निदान ।"

पर नहीं, जब यह विचार होता है कि कृषक, व्यापारी अथवा सेवकों की यही गति रही तो कहाँ से किसी को कुछ दे सकेंगे ? बस, अब हमारा यह सिद्धांत सत्य होने में किसी को कुछ संदेह न होगा कि जितना दरिद्र मुसलमानों के सात सौ वर्ष के प्रचंड शासन द्वारा न फैला था, उतना, बरंच उससे अत्यधिक, इस नीतिमय राज्य में विस्तृत है । अब बतलाओ, पाठकगण ! इनकमटैक्स का कोषस्थ अर्थ ठीक है वा नहीं ? नहीं, इसका अर्थ यों न लगैगा ।

अंग्रेजी व्याकरण खोलो, उसमें लिखा है कि 'इन', 'अन' और 'डिस' किसी शब्द के प्रथम जोड़ दो तो उलटा अर्थ हो जाता है । Direct डाइरेक्ट—सीधा, Indirect इनडाइरेक्ट—जो सीधा न हो, Known नोन—ज्ञात, Unknown अननोन—अज्ञात, Mount माउन्ट—चढ़ना, Dismount डिसमाउन्ट—उतरना, इस रीति से In इन अर्थात् नहीं है, Come कम—आना, आमद Tax (टैक्स) कर । भावार्थ यह हुआ कि जिस हालत में आमदनी न हो, उसमें जो टैक्स लगै वह "इनकमटैक्स" है ! इस पर यदि हमारे अंग्रेजी जाननेवाले पाठक यह कहें कि ऊटपटाँग अर्थ किया है, और केवल नागरी-नागर समझें कि अन्य भाषा का अर्थ असंबद्ध है, हिंदी पत्र में क्यों लिखा ? उनको यों समझना चाहिए कि हमारी सरकार को ब्रह्मदेश की आमदनी अनायास हाथ लगी है, इसकी खुशी में हम पर यह टैक्स (बहुत खुश हुए तो ईंट फेंक मारी) न्यायेन लगाया गया है ।

कुछ हो, हम समझें वा न समझें, पर सरकार की किसी बात में रोना-चिल्लाना वा तर्क करना योग्य नहीं, केवल "डफ्रिनेच्छा बलीयसी" कहके संतोष करना चाहिए था, पर क्या करें, संपादक धर्म तो परम कठिन है । इसमें बिना कुछ कहे उमंग की हत्या होती है । इससे कोई सुने वा न सुने, पर हम हाथ जोड़ के, पायँ पड़के, दाँत दिखाके, पेट खला के यही विनय करते हैं कि अस्तु, हुआ सो हुआ, हमें क्या, जहाँ और सब प्रकार के राजदंड हैं वहाँ एक यह भी सही, बरंच और हों (परमेश्वर न करे) तो वह भी सही पर इसकी तशखीस (जाँच) जरा न्यायशील पुरुषों को सौंपी जाय तौ भी बड़ी दया हो । हमने कई विश्वस्त लोगों से सुना है कि देहात में बिचारों की वार्षिक आय पाँच सौ भी नहीं है, उनको केवल उजले कपड़ों के कारण पाँच हजार का पुरुष तजबीज करते हैं । यदि यही दशा रही तो भारत के गारत होने में कोई संदेह न होगा । हमारी सर्कार स्वयं विचार देखे कि अब हम वह नहीं रहे ।•

खं० 3, सं० 12 (15 फरवरी ह० सं. 2)

• 'निबंध-नवनीत' से उद्धृत ।

सोना

यह शब्द भी, हम जानते हैं, ऐसा कोई न होगा जिसे परम सुखदायक न हो। यदि दिन-भर के श्रम से थके-माँदों को यह न मिले तो दूसरे दिन के काम के न रहें। दिन-रात ऐश करने वालों को यदि एक न मयस्सर हो तो वैद्यों की चाँदी है। योगी, कामी, कवि, जुवारी, चोर—इनको लोग कहते हैं नहीं सुहाता, पर हमारी समझ में वे भी केवल अपना व्यसन मात्र निबाह लें, नहीं तो एक रीति से सोते वे भी हैं। कोई संसार से सोता है, कोई परमार्थ से गाफिल रहता है। फिर क्यों कर कहिए कि सोने से कोई विरक्त है! इसके बिना मनुष्य का जीवन ही नहीं रह सकता।

इधर दूसरे अर्थ में भी लीजिए, ऐसा प्यारा है कि स्त्रियाँ इसके लिए कानों को चलनी कर डालती हैं। यदि कोई ऐसा गहना हो जिसमें बरमे से हाथ-पाँव की हड्डियाँ छिदानी पड़ें तो भी, हम जानते हैं, सौ में दो ही चार इनकार करेंगी। मर्द तो इसके लिए धर्म, प्रतिष्ठा, बरंच प्राण को भी नाश कर देते हैं। संसार में ऐसा कोई देश नहीं, जिसमें इसकी इज्जत न हो। हमारे पुराणों में भगवान् की स्त्री का नाम लक्ष्मी है, इस नाते जगत की माता हुईं। अतः उनकी जो प्रतिष्ठा की जाय, थोड़ी है। हमारे सिद्धांत में परमेश्वर को बिना प्रेम बेअदबी का कोई शब्द कहना महापाप है, पर एक फारसी कवि ने द्रव्य (सोना) की प्रशंसा में बहुत ही ठीक कहा है कि 'हे सुवर्ण तू स्वयं ईश्वर तो नहीं, पर ईश्वर की शपथ तू प्रतिष्ठा का रक्षक (पर्दा रखने वाला), पापों का क्षमा करने वाला (दुष्कर्मों से घृणा करने वाला) और मनोरथों का पूर्ण करने वाला है—

"ए जर तु खुदा नई बलेकिन बखुदा,
सन्तारो गुफूरो काजी उल हाजाती।"

हम भी कह सकते हैं कि मरने-जीने, दुःख-सुख और नर्क-स्वर्ग की एक कुंजी भगवती लक्ष्मी (जरे अलेहुस्साम) के हाथ में भी है। लोग कहते हैं—"जन (स्त्री) जमीन और जर सब झगड़े का घर" पर सच तो यह है कि जमीन तो जर ही का रूपांतर है, और जन भी पेट भरों के अलवल हैं।

ठीक पूछो तो अनर्थ का मूल यही है। ब्रह्म देव के विषय में हमारी सरकार ने इतनी बदनामी और मुड़धुन सह के इस बात को सिद्ध कर दिया कि रुपए के लिए बड़े-बड़ों की नियत डिग जाती है। बाप-बेटे, स्त्री-पुरुष, भाई-भाई में महाविरोध हो जाना इत्यादि अनर्थ लोग सहज कर डालते हैं। फिर "बाप बड़ा ना भइया, सबसे बड़ा रुपय्या" में क्या संदेह है। सौ अनर्थ कर डालो, एकाध मंदिर बनवा डालो, या भोजन करा दो, कोई कुछ न कहेगा, बरंच जो चाहे सो करो, मुँह पर सब चुटकी ही बजावेंगे। फिर "सारे औगुन छिपत हैं, लछमिनियाँ की ओट", कौन का डर है। इस दो अक्षर के शब्द से लोग ऐसा गिधे हैं कि जिससे कह दो, सो ना (सोओ मत), देखो कैसा सीक पाँव होता है, कोई तुम्हारा आश्रित है जो डर के मारे तुम्हारी आज्ञा मानेगा, पर कभी 2 कोई 2 आज्ञा सुन के भीतरी भीतर पच जाता है, पर रात को कुछ काम देर तक करने के पीछे कह दीजिए—सो ना (सो रहो न), देखो कैसा मगन हो जायगा।[1]

खं० 2, सं० 12 (15 फरवरी ह० सं० 2)

1. 'निबंध नवनीत' से उद्धृत।

सोने का डंडा और पौंडा

देखने में सुवर्ण दंड ही सुंदर है। ताय देखो, सुलाख देखो तो स्वर्ण दंड हो अपनी खराई दिखलावैगा। बनाने और बनवाने, लेने तथा ताकने में उसके बड़ी कारीगरी, बड़ा खर्च, बड़ी शोभा और बड़ी चिंता का काम है। पर हम पूछते हैं, जो पुरुष भूखा है, जो भूख के मारे चाहता है कुछ ही मिल जाय तो आत्म शांति हो, उसके लिए वह डंडा किस काम का है ? कदाचित् एक बालक भी कह देगा कि कौड़ी काम का नहीं। यदि उसको बेंचने जायँ तो खरीदार मिलना मुशकिल है। साधारण लोग कहैंगे, कहाँ का दरिद्र एकदम से आ गया जो घर की चीजें बेचे डालते हैं। कोई कहेगा, कहाँ से उड़ा लाए ? इत्यादि।

सच तो यह है, जो कोई ऐसा ही शौकीन, आँख का अंधा गाँठ का पूरा, मिलेगा तो ले लेगा। परंतु क्या भूखी आत्मा को इतने की कल है कि स्वर्णदंड से परंपरा द्वारा भी अपना जी समझा सके ? कदापि नहीं। इधर पौंडे को देखिए। देखने में सुंदरता व असुंदरता का नाम नहीं। परीक्षा का काम नहीं। लड़का भी जानता है कि मिठाइयों भर का बाप है। बनाने और बनवाने वाला संसार से परे है। ले के चलने में कोई शेभा है न अशोभा। ताकने में कोई बड़ा खटखट तो नहीं है। पहरा चौकी, जागना-जूगना कुछ भी न चाहिए। पर कोई ताकने की आवश्यकता ही क्या है ?

जहाँ तक बिचारिए यही पाइएगा कि जितनी स्वर्णदंड के संबंध में आपत्तियाँ हैं उससे कहीं चढ़ी-बढ़ी इक्षु दंड के साथ निरद्वन्दता है, विशेषतः क्षुधाक्लांत के लिए। वह तत्क्षण शांतिदाता ही नहीं, बरंच पुष्टिकारक, सुस्वादुप्रद भी है। पाठक महोदय, जैसे इस दृश्यमान संसार में स्वर्णदंड और इक्षुदंड की दशा देखते हो ऐसे ही हमारी आत्मसृष्टि में ज्ञान और प्रेम है। दुनिया में जाहिरी चमक-दमक ज्ञान की बड़ी है। शास्त्रार्थों की कसौटी पर उसके खूब जौहर खिलते हैं। संसारगामिनी बुद्धि के लिए उस्के बनाने में बड़ी कारीगरी दिखलाई है। पांडित्याभिमान और महात्मापन की शान उससे बड़ी शोभा पाती है।

इससे हद है कि एक अपावन शरीरधारी, सर्वथा असमर्थ, अन्न का कीड़ा, रोग-शोकादि का लतमर्द, मनुष्य उसके कारण अपने को साक्षात् ब्रह्म समझने लगता है। इससे अधिक ऊपरी महत्व और क्या चाहिए ? पर जिन धन्यजनों की आत्मा धर्म स्वादु की क्षुधा से लालायित हो रही है, जिनके हृदय, नेत्र, हरिदरशन के प्यासे हैं, उनकी क्या इतने से तृप्ति हो जायगी कि शास्त्रों में ईश्वर ऐसा लिखा है ? जीवन का यह कर्तव्य है, इस कर्म का यह फल है, इत्यादि से आत्मा शांत हो जायगी ? हम तो जानते हैं शांति के बदले यह विचार और उलटी घबराहट पैदा करेगा के हाय, हमें तो कर्तव्य था पर इन-इन कारणों से न कर सके। अब हम कैसे क्या करेंगे।

यदि यह भयानक लहरें जी में उठीं, तो जन्म-भर कर्मकांड और उपासना कांड के झगड़ों से छुट्टी नहीं और जो न उठीं, तो मानो आत्मा निरी निरजीव है। भूख का बिलकुल न लगना शरीर के लिए अनिष्ट है। तो अपने कल्याण की प्रगाढ़ेच्छा न होना, आत्मा के लिये, क्योंकर श्रेयस्कर कहें। एक महात्मा का वचन है कि 'वे लोग धन्य हैं जो धर्म के लिये भूखे और प्यासे हैं, क्योंकि वे तृप्त किए जायँगे'। सो तृप्त होना शुष्क ज्ञानरूपी स्वर्णदंड से कदापि संभव नहीं, क्योंकि सोना स्वयं खाद्य वस्तु नहीं है। ऐसे ही ज्ञान भी केवल सुखद मार्ग का प्रदर्शन मात्र है, कुछ सुखस्वरूप नहीं है। बरंच

बहुधा दुःखदायक हो जाता है। पर हाँ, ईश्वर के अमित अनुग्रह से, स्वयं रसमय, निश्चित, अलौकिक और अकृत्रिम प्रेम भी, हमारे हृदय क्षेत्र में रक्खा गया है, जिसके किंचित संबंध से हम तृप्त हो जाते हैं। आंतरिक दाह का नाश हो जाता है।

ईश्वर तो ईश्वर ही है, किसी सांसारिक वस्तु का क्षणस्थायी और कृत्रिम प्रेम कैसा आनंदमय है कि उसके लिए कोटि दुःख भी सुख सह्य हो जाते हैं, और प्रेम पात्र की प्राप्ति तो दूर रही उसके ध्यान मात्र से हम अपने को भूल के आनंदमय हो जाते हैं। जैसे यावत मिष्ठान्न का जनम इक्षुदंड है वैसे ही जितने आनंद हैं सबका उत्पादक प्रेम है। तत्क्षण शांति और पुष्टिदाता यह रसमय प्रेम ही है, जिसकी केवल एकदेशी तुच्छातितुच्छ सादृश्य गन्ने से दे सकते हैं, यद्यपि वास्तविक और यथोचित सादृश्य के योग्य तो अमृत भी नहीं है। प्रिय पाठक ! तुम्हारी आत्मा धर्म की भूखी है कि नहीं ? यदि नहीं है तो सत्संग और सद्ग्रंथावली अवलोकन द्वारा इस दुष्ट रोग को नाश करो। हाय 2 आत्मश्रेय के लिए व्याकुल न हुआ तो चित्त काहे को पत्थर है ! नहीं, हमारे रसिक अवश्य हरि रस के प्यासे हैं। उनसे हम पूछते हैं क्यों भाई, तुम अपने लिए रुक्ष स्वर्णदंड को उत्तम समझते हो अथवा रसीले पौंडे को ?

खं० 4, सं० 2 (15 अगस्त और सितंबर ह० सं० 3)

मिडिल क्लास

जो लोग सचमुच विद्या के रसिक हैं उन्हें तो M.A.पास करके भी तृप्ति नहीं होती, क्योंकि विद्या का अमृत ऐसा ही स्वादिष्ट है कि मरने पीछे भी मिलता रहे तो अहोभाग्य ! पर जो लोग कुछ क, म, घ, सीख के, पेट के धंधे से लग जाना ही इतिकर्तव्यता समझते हैं, उनके लिए यह मिडिल की भी ऐसी छूत लगा दी गई है कि झींखा करें बरसों ! नहीं तो इन बिचारे दस 2 रुपया की पिसौनी करने वालों को कब जहाज पर चढ़ के जगज्जात्रा करने का समय मिलता है जो जुगराफिया रटाई जाती है ? कौन दिल्ली और लखनौ के बादशाह बैठे हैं जो अपने पूर्वजों का चरित्र सुन के खिलअत बख्श देंगे जो तारीख में समय की हत्या की जाती है ? साधारण नौकर को लिखना-पढ़ना, बोलना-चालना, हिसाब-किताब, बहुत है। मिडिल वाले कोई प्रोफेसर तो होते ही नहीं।

इन बेचारे पेटार्थियों को विद्या के बड़े-बड़े विषयों में श्रम कराना मानो चींटी पर हाथी का हौदा रखना है। बिचारे अपने धंधे से भी गए, बड़े विद्वान भी न भए। मिडिल शब्द का अर्थ ही है अधबिच, अर्थात् आधे सरग त्रिशंकु की भाँति लटके रहो, न इत के न उत के ! इससे तो सर्कार की मंशा यही पाई जाती है कि हिंदुस्तानी लोग नौकरी की आशा छोड़ें, पर इन गुलामी के आदियों को समझावे कौन ? यदि प्रत्येक जाति के लोग अपने संतान को सबके पहिले निज व्यापार सिखलाया करें तो वे नौकरीपेशों से फिर भी अच्छे रहें। इधर नौकरों की कमी रहने से सरकार भी यह हठ छोड़ बैठे। जिनको स्यानेपन में

पढ़ने की रुचि होगी वे क्या और धंधा करते हुए विद्या नहीं सीख सकते ? पर कौन सुनता है कि "व्यापारे वसति लक्ष्मी" ।

यहाँ तो बाबूगीरी के लती भाई कुछ हो, अपनी चाल न छोड़ेंगे । भगवति विद्ये ! तुम क्या केवल सेवा ही कराने को हौ ? हम तो सुनते हैं, तुम्हारे अधिकारी पूजनीय होते थे ! अस्तु, है सो अच्छा ही है । अभागे देश का एक यही लक्षण क्यों रह जाय कि सेवा वृत्ति में भी बाधा ! न जाने हर साल खेप की खेप तयार होती है, इन्हें इतनी नौकरी कहाँ से आवेंगी ? सरकार हमारी सलाह माने तो एक और कोई मिडिल पास की पख निकाल दे, जिसके बिना बहरागीरी, खानसामागीरी, ग्रासकटगीरी आदि भी न मिलें ।

देखें तो कब तक नौकरी के पीछे सत्ती होते हैं ! अरे बाबा यदि कमाने ही पर कमर बाँधी है तो घर का काम काटता है ? क्या हाथ के कारीगर और चार पैसे के मजूर, दस-पंद्रह का महीना भी नहीं पैदा करते ? क्या ऐसे को बाबुओं के-से कपड़े पहिनना मना है ? बरंच देश का बड़ा हित इसी में है कि सैकड़ों तरह का काम सीखो । सरटीफिकट लिए बँगले 2 मारे 2 फिरने में क्या धरा है जो सरकार को हर साल इमतिहान अधिक कठिन करने की चिंता में फँसाते हो । बाबूगीरी कोई स्वर्णगीरी (सोने का पहाड़) नहीं है । पास होने पर भी सिफारिश चाहिए तब नौकरी मिलेगी और यह कोई नियम नहीं है कि मिडिल वाले नौकरी से बरखास्त न होते हों, वा उन्हें बिना फिक्र नौकरी मिल ही रहती हो । क्यों उतना ही श्रम और काम में नहीं करते ?

खं० 4, सं० 2 (15 सितंबर, ह० सं० 3)

बालक

यह शब्द भी क्या ही प्यारा है कि नाम लेते ही हृदय प्रमुदित हो जाता है ! 'लकार' का ललित अक्षर, जो वर्णमाला-भर का अमृत है, प्रायः सभी भाषाओं में इस अर्थ के बोधक शब्द में रक्खा गया है । संस्कृत में बालक वा बाल, भाषा में लड़का, अँगरेजी में ल्येड और फारसी में तिफ्ल प्रमाण के लिये देख लीजिए । जब कि कूकर शूकरादि के लड़के (बच्चे) को देख के एक रूप की प्रसन्नता होती है तो मानवशिशु का तो कहना ही क्या है । ऐसा भी कोई है जो अपने वा अपने मित्र के वा अपने बंधु के वा अपने पड़ोसी के वा अपने देश के बालक को देख के प्रसन्न न होता हो ? ऐसा भी कोई है जो सर्वथा रँजा-पुँजा होने पर भी बालक न होने से चिंताकुल न होता हो ? ऐसा भी कोई है जो निस्संतान लोगों पर तरस न खाता हो ?

हम तो जानते हैं, यदि लाखों में कोई एक होगा भी तो या तो महा अलौकिक अथवा महापाषाण-हृदय होगा । अहा हा ! जिनके मुख से अशुद्ध, अलज्ज, अनमेल, असपष्ट अक्षर भी प्यारे लगते हैं,

जिनके बे सिर-पैर के काम भी अच्छे जान पड़ते हैं उनकी अच्छाई का क्या कहना ! दुनिया-भर के छल, कपट, ईर्षा, द्वेष, चोरी-जारी इत्यादि जितनी बुरी बातें हैं उनसे इन्हें कुछ प्रयोजन ही नहीं । भय, लज्जा, चिंता आदि जो जगत रूपी जाल के फँदे हैं, उन्हें यह जानते भी नहीं । शरीर-रक्षा के लिये जो कुछ उदरपूर्ति मात्र को मिल जाय तो बस जीवनमुक्त हैं । सच्चा तत्त्वज्ञान जो बड़े 2 महात्मा का लक्षण है वुह यही जानते हैं ! सच्चे प्रेम, सच्ची प्रतिष्ठा, सच्ची श्रद्धा के पात्र माता-पिता हैं, यह बात वैदिक, जैन, मुसलमान, क्रिस्तान, स्वतंत्राचारी और नास्तिक सब मानते हैं, पर ठीक-ठीक इसका नमूना आप इन्हीं में पाइएगा ।

दरिद्रिणी माता के आगे बड़े लाट साहब भी तुच्छ हैं ! आप चाहें जिसको डरें, चाहे जिसका मुलाहिजा करें, उनकी बला से ! क्या यह तत्त्वज्ञान नहीं है ! सूरज क्यों घूमता है ? चंद्रमा परसों खरबूजे की-सी फाँक था, आज टोपी-सा काहे हो गया ? कल तो यह फूल मुँह मूँदे था, आज काहे खिल गया ? इत्यादि प्रश्न, जो बहुधा बालकगण अपने माँ-बाप से किया करते हैं, क्या बुद्धि इन प्रश्नों को पदार्थ विज्ञान का मूल न कहेगी ? विचार कर देखिए, बड़े 2 विद्वान्, बड़े 2 वीर, जिनका आज नाम लेते हृदय साष्टांग दंडवत करता है वुह भी कभी बालक ही थे । लड़कपन बादशाही है ! हाँ बेशक, तृष्णाचेह परित्यक्ता को दरिद्रः क ईश्वरः । इन्हें न धन चाहिए, न स्त्री चाहिए । फिर क्या, चाहो ऋषि समझो, चाहो राजा समझो, चाहो देवता समझो, क्योंकि हमारे भगवान बालमुकुंद, भैरव, स्वामिकार्तिक, सनकादिक इसी रूप में हैं । परमेश्वर का एक सर्वोत्कृष्ट गुण भी इनमें है, अर्थात् जो इनसे प्रीति करे उसके गुण-दोष कुछ न देख के यह भी प्रीति करेंगे ।

ईसाइयों के यहाँ भी इस शब्द की महिमा है । क्योंकि मसीह को खुदा का बेटा मानते हैं । ईसा ने स्वयं कहा है कि स्वर्ग का राज ऐसों ही के लिए है । हमारी समझ में संसार का राज भी ऐसों ही के लिए है । क्या जब किसी से आप निष्कपट हो के कहेंगे कि 'हम तो आपके लड़के हैं' तो वुह अपनी सामर्थ्य-भर आपके हितसाधन में तत्पर न होगा ? हम तो जानते हैं देवस्वभाव वाला पुरुष इस मंत्र से अवश्य ही बरम्ब्रूहि हो जायगा ! फिर यदि हम कहें कि बालकों का नाम, रूप, गुण, स्वभाव सभी आनंदमय है तो क्या झूठ है ! दुःख का तो इनके पास एक दिन भी गुजर नहीं । कोई खिलौना-इलौना टूट गया, अथवा खाने को न मिला तो घड़ी-भर रो लिए, जहाँ दूसरी ठौर चित्त चल दिया, फिर मगन के मगन !

बुद्धिमानों का सिद्धांत है कि दुःख पाप का फल है, उस पाप का वे नाम भी नहीं जानते । फिर इनसे और दुःख से क्या मतलब ! कभी 2 यह किसी मनुष्य अथवा बिल्ली अथवा कुत्ते के पिल्ले को छुरी आदि भी मार दें, कभी कोई बहुमूल्य वस्तु भी नष्ट कर दें तौ भी यह निर्दोष ही हैं ! कभी किसी पर मलमूत्र कर दें तौ भी निरपराध ही हैं ! क्योंकि इन्होंने तो ऐसा काम क्रीड़ा मात्र के लिए किया है ! इन्हीं कारणों से सर्कार भी इन्हें दंड योग्य नहीं ठहराती ।

बहुधा दुष्ट पुरुष या स्त्रियाँ गहने के लोभ अथवा अपने व्यभिचार की बदनामी के डर से इन दयापात्रों पर राक्षसत्व दिखलाते हैं । उनको हमारी न्यायशीला गवर्नमेंट दंड भी ऐसा ही कठिन देती है जो दूसरे चोरों और जारों को नहीं मिलता । हमारी समझ में यदि ऐसे माता-पिताओं को भी कुछ दंड दिया जाय जो अज्ञान बालकों को पहिराय-ओढ़ाय के बिना तकवैया छोड़ देते हैं ।

इसी प्रकार ऐसे लोगों की भी सजा ठहरा दी जाय जो कामवती बाल विधवाओं के पुनर्विवाह में

बाधक होते हैं तो सोने में सुगंध हो जाय । व्यभिचार, चोरी और और ऐसा ही कुकर्म तो स्त्री-पुरुष करें, प्राण जाय बिचारे दूध के फोहों का !! ऐसे पापियों को तो कुत्तों से नुचवाना भी अयुक्त नहीं है । फाँसी आदि तो सर्कार की कोमलचित्तता है ।

हमारे जगत्मान्य महर्षियों ने भी बाल हत्यारों को आततायी कहा है और 'नाततायि वधे दोषः' यह आज्ञा दी है । ईश्वर ने भी हमको भविष्यत् का ज्ञान कदाचित् इसीलिए नहीं दिया कि यदि हम जान लेंगे कि यह लड़का बड़ा होने पर अयोग्य होगा तो उसका सँभार एवं प्यार न करेंगे । हमारी इन सब बातों का तात्पर्य यह है कि ऐसे निष्पाप, प्रेममय, दयापात्रों की भलाई पर ध्यान न देना देशहितैषिता के विरुद्ध है, बरंच मनुष्यता से भी दूर है । अतः सामर्थ्य-भर सबको तन, मन, धन से इस नई पौध को उत्तम पथगामी, उद्योगशील, स्वत्वाभिमानी बनाने का और आर्य जाति के अनाथ बालकों को आर्य्य-धर्मद्वेषि पादरियों की रोटी खा के जन्म-भर के पछिताने से बचाने का पूर्ण प्रयत्न करते रहना चाहिए ।

हमारे कानपुर में तो जैसे हिंदुओं की गौशाला में लाखों गौएँ पलती हैं वैसे ही मुसलमानों की अनाथशाला में करोड़ों मातृपितृ हीन बालकों की रोटी चलती है । यदि कोई अन्य नगरवासी पुरुषरत्न कुछ उद्योग करें तौ भी हम यह समझ के कृतकृत्य होंगे कि घर वालों ने न सुना तो पड़ोसियों ही ने हमारी बात पर ध्यान दिया । अरे भाई शीघ्रता में कुछ अधिक न हो सके तो अकबरपुर की गोरक्षिणी सभा अथवा फर्रुखाबाद के अनाथालय ही को कुछ सहायता दो !

खं० 4, सं० 3 (15 अक्टूबर ह० सं० 3)

पादरी साहब का व्यर्थ यत्न

परमेश्वर की दया और स्वामी दयानंदादि सत्पुरुषों के उद्योग से अब वह दिन तो नहीं रहे कि नीलकंठ, क्रिस्टोमोहन, माहकेल मधुसूदन सरीखे विद्वान्, अब भारत के पुरुषरत्न बनके ईसा की··में शरीक हो जायँ । यह बात सैकड़ों बार देख ली गई है कि छोटे 2 अजातस्मश्रु बालकों से भी अच्छे 2 पादरी मतबाद के समय सिर से झगड़ा टालने के लिये सौ बहाने गढ़ के भी जब न बच सकते तो अबाक हो जाते हैं ।

एक बार एक बड़े पादरी जी चौक में खड़े एक ग्रामीण भाई को समझा रहे थे कि रामायण खरीद के क्या करोगे ? उसमें ईश्वर और मुक्ति का रास्ता कहाँ है ? इतने में हमारे मित्र मदनचंद्र खन्ना उधर जा पड़े और इस विषय में उलझ पड़े, कि रामायण न सही तो ईश्वर की पुस्तक आप ही बतलाइए । पादरी साहब इधर-उधर की हाँक चले, पर बाइबिल की ईश्वरीयता सिद्ध करना सहज न था, क्योंकि प्रतिवादी पढ़े-लिखे क्षत्रिय का लड़का था । जब और बातों में न जीते तो यह कहने लगे, तुम लड़के हो, तुम्हारी बुद्धि चंचल है, तुम न समझोगे, इत्यादि ।

इस पर खन्ना साहब भी पीछे पड़ गए कि मसीह ने स्वयं लड़कों का गौरव किया है। आप लोग भी लड़कों को बपतिस्मा देते हैं, फिर मुझे समझाने में क्या हानि है ? इसका उत्तर तो कुछ आया नहीं, मैं (प्रताप मिश्र) पीछे खड़ा था, मेरी ओर देख के पादरी साहब ने कहा, इनको समझा दीजिए कि शास्त्रार्थ और बात है पर लड़कों को धर्मतत्त्व समझाना सहज नहीं है। मैंने बड़ी नम्रता से कहा कि औषधि की आवश्यकता रोगी ही को होती है।

यदि लड़कों और अज्ञानियों ही को न समझाइएगा तो किसे समझाइएगा ? आपका काम ही यह है। इसके उत्तर में साहब अँगरेजी बोल चले कि गो मेरा यही काम है पर इतना बड़ा विषय सहज में तो नहीं समझा सकता। मैंने कहा, कृपा करके हिंदी ही में कहिए, नहीं तो यह सब जो खड़े हैं न समझेंगे। अब तो उन्हें और भी उलझन पड़ी। खैर दो-चार बातें और कहके बोले कि बँगले पर इस लड़के भाई को भी लेके आइए, मैं बखूबी समझाऊँगा। मैंने कहा, कृपा करके यहाँ समझाइए तो इन चालिस-पचास भाइयों का और उपकार हो। वहाँ हमीं तीन जन होंगे। इस पर जब साहब ने देखा कि किसी भाँति पिंड नहीं छोड़ते, तो बोले कि बाबा, मिहरबानी करो, अब जाने दो, और चल दिए। श्रोता लोग हँसने लगे।

पाठक गण ! ऐसे 2 अवसर सैकड़ों हुवा करते हैं जिनसे सिद्ध हो गया कि मसीही धर्म का गौरव तो पढ़े-लिखे हिंदुओं में जमना असंभव है। मतवाद में जीतना डबल रोटी का कौर नहीं है। हम महात्मा मसीह और उनके धर्म के उतने विरोधी नहीं हैं जितने राम परीक्षा, कृष्ण परीक्षादि के लेखक कट्टर ईसाई हमारे धर्म के विरोधी हैं। हमसे कोई धर्मतः मसीह के विषय में पूछो तो धर्मशील भगवद्भक्त, सदाचारी कहने में न रुकेंगे। उनके उपदेशों को माननीय और आदरणीय कहेंगे। पर निज धर्म, निज कुटुंब, निजाचार और निजता को तिलांजलि देके भक्ष्याभक्ष्य भक्षने वाले और गुरू घंटालों के मायाजाल में फँस के जन्म खोने वाले को कदापि बुद्धिमान विचारशील न कहेंगे। चित्त से मसीह को प्रतिष्ठा न करना हमारी समझ में अन्याय है और पादरियों की चिकनी-चुपड़ी बातों में आके उनका गुलाम बन जाना भी आत्महिंसा है।

मसीह के बचन मनुष्य की आत्मा के लिये अमृत हैं पर वुह अमृत अकेले उन्हीं पर समाप्त नहीं हो गया। उनके पहिले भी लोगों को मिला था और सदा अधिकारियों को मिलता रहेगा। यह विश्वास हमारा ही नहीं है, लाखों पढ़े-लिखों का है और परमेश्वर करे सबका हो। पर केवल मसीह ही मुक्तिदाता है, यह बात इस जमाने में युक्ति और प्रमाणों से सिद्ध कर देना पादरियों की सामर्थ्य से लाखों योजन दूर है। रहा सांसारिक महत्त्व, सो भी सब ठौर, सब जाति के विद्वान्, बुद्धिमान और सच्चरित्र ही की प्रतिष्ठा है, कुछ ईसाई ही हो जाने से सिर में सुर्खाब का पर नहीं खुस जाता।

हर शहर में सैकड़ों क्रिस्तान हैं जिन्हें कोई क्रिस्तानों का मुखिया भी सेंत नहीं पूछता। इससे मुसलमानी राज्य में ही अच्छा था कि मुहम्मदीय धर्म स्वीकार करके ही दुख-दरिद्र टल जाते थे। आज दिन तो बड़ी स्वाद यह है कि धर्म भी छोड़ो और बड़ी भारी योग्यता भी रक्खो तो भी गोरा रंग न होने से नेटिब का निंदित एवं शापित नाम बना ही रहता है। नाम, भाषा, भेष चाहे जैसा अँगरेजी हो पर कहलाते बिचारे नेटिब क्रिश्चियन ही हैं। जब तक जार्डन नदी का पानी सिर पर नहीं डालते तभी तक प्यारे भाई कहलाते हैं। जहाँ शिर पर पानी पड़ गया वहीं जाति पर, वंश पर, नाम पर और प्रतिष्ठा पर पानी पड़ गया।

हिंदुओं की दृष्टि में भी घृणित हुए और पादरियों ने भी कोई विशेष रूप से गौरव न किया। बिचारे न इधर के हुए न उधर के हुए। बहुत-से देशी भाइयों की दशा देख के हमको बहुधा शोक होता है जिन्होंने पहिले तो साहब बनने के चाव से धर्म छोड़ दिया है, पर अब पछिताते हैं, क्योंकि जिस जाति में उत्पन्न हुए थे वहाँ अब कोई पास नहीं बैठने देता और जहाँ जाकर मिले हैं वे भी घर नहीं भरते। रही खाने-पीने की स्वतंत्रता, सो भी मनमोदक मात्र सज्जन ईसाई भी कुत्सित मांस एवं मदिरा नहीं छूते, अच्छे हिंदुओं की तो क्या कथा है। निर्धन हिंदू भी इन स्वादों से बंचित हैं, ईसाई भी।

प्रत्यक्ष में मद्यपान करने वाले मसीही की भी अपकीर्ति होती है, प्रच्छन्न रूप से हिंदू भी होटलभोक्ता हई हैं। बरंच हिंदू बने रहैं तो बाममार्गी हो के, मद्य मांस तो क्या है, अघोरी होके, और भी घिनही चीजें खा सकते हैं। ऊपर से कुछ सम्पन्न हों तो ओझा जी और नाथजी कहला के पुजा सकते हैं। किरिस्टान होने में क्या धरा है ? कोई खास मजा नहीं। ऊपर से महा हानि यह है कि आप किसी काम के न रहे। स्त्रियों की लज्जा जाती रहै, बंश हो वुह बुजुर्गों का नाम न चलावै, देश और जाति का हित दमड़ी-भर न हो सके।

हिंदू रह के भ्रष्ट भी कहलाते तौ भी सभाओं में बुलाए जाते। कभी 2 पैसा-टका दान करते सो भी किसी ब्राह्मण के घर जाता। ऐसी 2 अनेक बातें हैं जिनको सहस्रों लोग जानने लगे हैं और इन्हीं बिचारों से क्रिस्तानता की उन्नति में ऐसा पाला पड़ गया है कि बरसों में, किसी ठौर पर, जोई ही भूखा टूटा क्रिस्तान होता होगा। सो भी उच्च जाति के पढ़े-लिखे, खाते-पीते घर का तो शायद लाखों में एक होता हो तो होता हो। तिस्पर भी आर्य्यसमाज, थियोसोफिक्यल समाज वुह बिघ्न हैं कि अपनी चलते किसी प्रकार दूसरों की टही जमने नहीं देते। ब्राडला साहब के साथी और भी आस्तीन का साँप हो रहे हैं, जिनके मारे ईश्वर ही का होना हास्यास्पद हो रहा है, ईसा तो कहाँ रहते हैं। इधर पतित पावन अधमोद्धारण की दया से कुछ लोग प्रायश्चित कराके फिर भी हिंदू बना लिए गए हैं, और परमेश्वर ने चाहा, ऐसी ही चर्चा बनी रही, तो यह रीति चल निकलेगी।

इससे हम कहते हैं कि अब पादरी साहब का श्रम व्यर्थ है। नाहक सैकड़ों रुपया प्रचारकों को दे देते हैं। निरर्थक भैयाजीयों को देते हैं और अपनी बिडम्बना कराते हैं। इससे तो यदि वही धन और मन भारत के हित में दें तो यश भी हो। हम लोग भी उनके शुभचिंतक हों और बेबिल के अनुसार भी धर्म ही हो। हम भी तो आदम के नाते, महारानी के नाते, उनके भाई ही हैं। नहीं तो एशिया और यूरप, एक ही गोलार्द्ध में होने से, पड़ोसी तो बने-बनाए हैं। बरंच मसीह की जन्मभूमि हमारी और भी पड़ोस है। अथवा यह न हो सके तो मुक्ति फौज के सिपाहियों की भाँति भगवान का भजन करें जिसमें सचमुच जन्म सुधरे।

इस व्यर्थ के प्रयत्न का तो कुछ अर्थ न होगा। हिंदुओं-भर के वकील हमारे गोस्वामीजी का वचन अब सार्थक हो रहा है कि "चहौ करौ किन कोटि उपाया। इहाँ न व्यापिहि रावरि माया।" ईशपरीक्षादि में महात्मा मसीह की महिमा के विरुद्ध लेख आते हैं। इस पाप का मूल भागी कौन है ? आप ही का व्यर्थ प्रयत्न।

खं० 4, सं० 6 (15 जनवरी ह० सं० 3)

न जाने क्या होना है

हमारे पाठकों में से ऐसे बहुत थोड़े होंगे जिन्होंने स्त्रियों की गीतों में 'कंचन थार', 'सोने का गड़ुवा', 'मानिक दियना' (चिराग) इत्यादि शब्द न सुने हों अथवा होलियों में 'कंचन कलश', 'कंचन पिचकारी', 'केशर रंग' इत्यादि पद स्वयं न गाते हों। और यह बातें केवल कवियों का बढ़ावना नहीं है, कई एक इतिहास ग्रंथों में बड़े पुष्ट प्रमाणों के साथ लिखा हुवा है कि अभी दो सौ वर्ष भी नहीं बीते कि भारत में यह रीति थी कि जिस गृहस्थ के यहाँ ब्राह्मणी अथवा सजातियों का निमंत्रण होता था उसके यहाँ सोने-चाँदी के बर्तन निकलते थे। बरंच कहीं 2 इन पात्रों का बाहुल्य ही प्रतिष्ठा का लक्षण समझा जाता था। पर आज तो बतलाइए कि फी सैकड़ा कितने गृहस्थों के यहाँ आप सोने की सम्पुटी (बहुत छोटी कटोरी) भी दिखला सकते हैं ? और सुनिए, कई एक जातियों में यह प्रथा है कि जो कोई अपनी कन्या का विवाह कुलीन बर के साथ किया चाहता है उसे बर के कुल की उच्चता के अनुसार सैकड़ों बरंच सहस्रों रुपया केवल कन्यादान की दक्षिणा में देना पड़ता है।

यद्यपि इस समय की सभ्यता के प्रेमी इसे हानिकारक, निरर्थक और महात्याज्य समझते हैं और समय के प्रभाव से है भी यों ही लोक और वेद दोनों के विरुद्ध है तथा त्यागे बिना अब निर्वाह नहीं दिखता, पर इस प्रकार की रीतियों से यह तो भले प्रकार प्रदर्शित होता है कि अभी बहुत काल नहीं बीता कि हमारे देशभाई अवसर पड़ने पर अपने बन्धु-बान्धवादि की प्रसन्नता सम्पादन करने के निमित्त सैकड़ों सहस्रों रुपया उठा देने की सामर्थ्य रखते थे। और इस रूप में व्यय करना आज कल गिरे दिनों के लिए अनुपयुक्त चाहे कह लीजिए पर वास्तव में बुरा नहीं कहा जा सकता।

अपने भैयाचारों, नातेदारों, आश्रितों तथा देश के गुणियों को सहायता मिलती है, उनकी उत्साह वृद्धि से समय-समय पर दूरस्थ आत्मीयों का समागम होता रहता है, स्वदेशीय शिक्षा की उन्नति होती रहती है। फिर भला कन्या जामातृ संबंधी तथा पुरोहितादि का तो कहना ही क्या है बरंच फुलवारी, आतिशबाजी, मिठाई आदि बनाने वाले तथा नाचने वाले तक को देने में बुराई है ? यह आप का रुपया लेके कहीं चले तो जाहीगे नहीं। देश का देश ही में रहेगा, जिसे अनेक मार्गों से फेर ले सकते हैं। पर अब रुपया है कहाँ जो किसी अपने अथवा अपने देश वाले को उत्साहपूर्वक दिया जाय और दूसरे रीति पर लौटा पाने का भरोसा किया जाय नोचेत उसके द्वारा स्वजनों का सुख पाते देख के यों ही सुख का अनुभव कर लिया जाय। आज तो रोटियों के लाले पड़े हैं।

लाखों लोग खाने को तरसते हैं। सहस्रों श्वेतवस्त्रधारी ऐसी रीति से दिन काटते हैं कि सहृदय पुरुष उनका भीतरी हाल सुन-समझ के आँसू बहाए बिना रही नहीं सकता। परमेश्वर न करे ऐसी दशा में कोई राजनीतिक अथवा सामाजिक आपत्ति आ पड़े तो मुँदी भलमंसी का बचना भी दुस्साध्य हो जाता है। इसी निर्धनता के मारे हमारे तन का ऐसा पतन होता चला जाता है कि जिन लोगों को पाठशाला छोड़े हुए अभी पंद्रह वर्ष बीते हैं उन्होंने अपने सहपाठियों में जो क्रांति, जो स्फूर्ति, जो उत्साह, जो मस्तिष्क शक्ति देखी है उसका इहकालिक विद्यार्थियों में कहीं लेश मात्र भी नहीं पाया जाता, चाहे लाख क्रिकेट (अँगरेजी ढंग की कन्दुक क्रीड़ा) दिखलाइए, कोटि कसरत कराइए पर वह बात सपने में न देख पड़ेगी जो उनके बड़े भाई अथवा चचा इत्यादि में थी। कारण क्या है कि दिन दूनी उन्नति करते हुए दरिद्र के

हाथों इन बेचारों को निश्चिंतता के साथ उत्तम भोजन नहीं मिलता । इन दिनों के लोग इस निस्तेजता का हेतु बाल्य विवाह को समझे बैठे हैं पर अभी सैकड़ों लोग जीते हैं जिनकी अवस्था साठ-सत्तर वर्ष के लगभग है पर चेहरे पर एक प्रकार की दीप्ति दीप्त हो रही है ।

शीतकाल में नंगे शिर, नंगे पाँव केवल रामनामी ओढ़ के गंगास्नान कर आते हैं और आ के आध सेर ढाई पाव मट्ठा तथा घुइयाँ वा शकरकंद पेट-भर के खा लेते हैं पर श्लेष्मा, अनपच का नाम भी नहीं जानते । ग्रीष्म ऋतु में तेल के भुने हुए पंद्रह 2 करैले उड़ा जाते हैं पर यह कभी नहीं कहते कि औगुन किया । दो-चार दिन के ज्वर जूड़ी अथवा दस-पाँच कोस चलने की थकाहट से कातर होने का नाम भी नहीं लेते और पता लगाइए तो ब्याह इनका भी उसी अवस्था में हुआ था जिसमें अब होता है और चरित्र इनके भी ऋषि-मुनियों के-से न थे, न घर में कोई भाँडा गड़ा था । पर हाँ, खाने को इन्हें थोड़े दामों पर थोड़े परिश्रम के साथ, अच्छे, शुद्ध और पुष्टिकारक पदार्थ मिलते रहे हैं । इसी से यह साठा सो पाठा वाली कहावत का जीवित उदाहरण बने बैठे हैं । पर इनके युवक संतान से यह बात कोसों दूर है । यह नाम मात्र के युवा पुरुष थोड़ी-सी सरदी-गरमी भी नहीं सह सकते ।

तनिक-सा कुपथ्य कर लें तो दस-पाँच दिन तक शारीरिक शिकायत के बिना नहीं रह सकते । इन्हें जब रोग आता है तब महीनों ही के लिए आता है और बिना अच्छी-भली रोकड़ लिए नहीं जाता । यह क्यों ? केवल इसी से कि इन के लिए कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवा इत्यादि आय के सभी द्वार बंद हैं । जिस काम में हाथ लगाते हैं उसी को बिघ्न में बिद्ध पाते हैं । परमेश्वर झूठ न बुलावै, सौ कुटुंब में अस्सी ऐसे ही मिलेंगे जिनमें छोटे-बड़े सभी यथासाध्य कुछ न कुछ उद्योग करते हैं पर ऐसा कोई वर्ष नहीं आता जिसमें खाने-पहिनने के व्यय से कुछ रख छोड़ने-भर को भी बचता हो, ऊपर से टिक्कस चंदा विदेशी व्यापार की वह भरमार कि बिना दिए निर्वाह कठिन, इज्जत बचना दुश्वार । लेने वालों को आय-व्यय से कुछ प्रयोजन नहीं । घर का काम क्यों कर चलता है, सामर्थ्य कितनी है, उनकी बला से ।

पेट पालने के उपाय का नाम लेते हो फिर इसका प्रायश्चित्त क्यों न करोगे । विश्वास दमड़ी-भर नहीं । एक दिन पिछलने न पावै, हाँ उजुरदारी करना हो तो उसकी भी सांगिता सही पर दान पहिले हो जाना चाहिए । इसके साथ ही दमड़ी की सूई, अंग ढाँकने को कपड़ा, कहाँ तक कहिए शरीर रक्षा के लिए औषधि तक विदेश से आवै, एक 2 के ठौर पर चार 2 उठवावै और जो कुछ पास की पूँजी ले जावै वह सीधे सात समुद्र पार ही पहुँचावै और वहाँ से सौ जन्म तक फिर भारत का मुँह न देखने पावै । जहाँ आमदनी का वह हाल और खर्च की यह गति हो वहाँ किसी का चित्त ठिकाने रहे तो कैसे रहे । प्राचीन अनुभवशीलों का वचन है कि—'चिता चिंता समाख्याता किंतु चिंता गरीयसी । चिता दहति निर्जीवं चिंता जीवयुतां तनुम् ।' वह चिता यहाँ अनेक रूप से शिर ही पर चढ़ी रहती है । पेट की चिंता, लड़के बालों की चिंता, बाहर वालों की दृष्टि में संभ्रम बनाए रखने की चिंता, घर बैठे किसी से कुछ वास्ता न रखने पर भी इज्जत की चिंता । क्योंकि निश्चिंतता तो तभी होती है जब घर में अधिक नहीं तो निर्वाह भर का तो सुभीता हो, पर पता लगाइए तो जान जाइएगा कि ऐसे कितने लोग हैं जो शुद्ध रीति से बेफिकरी के साथ खा पाते हों । ऐसी दशा में श्रीहत और निस्तेज हुए बिना कौन रह सकता है ? इसके ऊपर तुर्रा यह है कि खाने के पदार्थ दिन 2 महँगे होते जाते हैं । धरती की उत्पादन शक्ति नहरों की बालू में दबती और जल में डूबती रहती है ।

इस देश की जलवायु के अनुकूल उत्तम भोजन घी, दूध हैं। वह हर साल अलभ्य नहीं तो दुर्लभ होते जाते हैं। जिन्हें ज्यों-त्यों प्राप्त भी होते हैं तो शुद्ध नहीं। फिर भला जिनको घी के स्थान पर गुल्लू का तेल और दूध के ठौर पानी मिलता है वह क्या खा के पुष्ट रह सकते हैं। यदि परिश्रम करके आँखों के आगे दुहाइए अथवा तवाइए तौ भी यह निश्चय होना महा कठिन है कि उन पशुओं को पेट-भर उचित खाद्य मिलता होगा। क्योंकि जहाँ मनुष्यों ही का पेट भरने में सैकड़ों अलसेठे हैं वहाँ पशु बिचारों की क्या कथा। फिर उनके घृत, दुग्ध, मांस में वह गुण कहाँ से आवै जो बैद्य बतलाते हैं और अभी तीस वर्ष पहिले यथावत विद्यमान थे। हाय, ऐसी अड़चलों से, जिनका दूर होना महा दुष्कर है, हम निस्तेज और हतवीर्य होते जाते हैं। हमारी संतति हमसे भी गई-बीती उत्पन्न होती है।

उसका पालन और भी कठिन देख पड़ता है। इसी से हम पर यह लोकोक्ति सार्थक हो रही है कि 'करवा के जनमल तुतही तुतही के जनमल सुतुही।' जो बल वीर्य पराक्रम बाबा में था उसका चतुर्थांश भी पिता में न था और जो पिता में था उसका हममें शतांश भी नहीं है। जो हमारे आगे उपजते हैं उनमें हमारे ओज तेज की भी गंध तक नहीं आती। यह लक्षण देख 2 के विचारमान व्यक्ति यही सोचते रहते हैं कि न जाने क्या होना है। न जाने किस जन्म के किन 2 पापों का फल परमेश्वर ने भारत संतान ही के लिए संचित कर रखा था। इसके निराकरण का उपाय यद्यपि कष्टसाध्य है पर है सही। किंतु उसके अवलंबन करने वाले तो क्या समझने वाले भी पचीस कोटि देशवासियों में पचीस सहस्र भी हों तो बड़ी बात है। इसी से रह 2 कर हृदय में दुःख और दुराशा से कुचाल हुआ यही प्रष्ण उठता रहता है कि न जाने क्या होना है।

खं० 7, सं० 7 (15 फ़रवरी ह० सं० 7)

छै ! छै !! छै !!!

हुश्त ! मनहूस कहीं का ! वाह रे तेरी छै !

हमारी छै काहे की, तेरी हो। जानैं न बूझैं कठौता ले के जूझैं। कुछ समझता भी है हम क्या कहते हैं कि मुँही पकड़ने दौड़ता है ?

सब समझते हैं। बस, चुप रहो !

समझते हो ! अपना सिर ! समझते हैं ! भला बता तो हम क्या कहेंगे ?

वाह ! हम कोई अंतरजामी हैं ? हाँ अंदाज से जानते हैं, संख्यातार लिखते 2 दिमाग में गरमी चढ़ गई है इसी से बार 2 छै की गिनती याद आती है।

फिर ! इसी में क्या बुराई है ? एक रात नाच देखने पर तो दूसरे दिन सोते-जागते, ऊँघते-पूँछते कानों में छुन 2 की-सी आवाज गूँजती रहती है। हम महीनों से छै छै छै सुन रहे हैं। फिर हमारे मुँह

से कैसे न निकले ।

महीनों से ! यह पहेली-सी क्या कह गए ? भई सचमुच हम न समझे थे । हमारी जान में तो छै वही है जो पाँच के पीछे और सात के पहिले गिनती में आया करते हैं । सो सभी जानते हैं कि नाद में छै राग होते हैं, वेद में छै अंग होते हैं, विद्या में छै शास्त्र होते है, देवताओं के स्वामि कार्तिकजी के छै मुख होते हैं, पितरों में छै पिंडाधिकारी होते हैं, कान्यकुब्जों में छै घर होते हैं ।

तुम्हारी ल्यौड़ी पर छै गुद्दे होते हैं ! हें ! चले हैं पंडिताई छौंकने ! अब जिन्हें तू कहता है, होते हैं, उन्हें कहना चाहिए, होते थे । अब पुराने जमाने की सड़ी बातों पर हमारे काले साहब सौक पाँव होते हैं इससे समझ रख कि देवता-पितर, वेद-सवेद सब कहने-भर को होते हवाते हैं । सो भी यकीन है कि कुछ दिन में नई रोशनी वाले लंप की बू से औ चुरुट की चिराइँध से भागभूग जायँगे । तब बस चारों तरफ देख लेना कि प्रातःकाल खटिया से उठते ही रकाबी पर छै अंडे होते हैं, साँझ को पूरी बोतल-भर में केवल छै डोस होते हैं, स्नान के समय बकस में साबुन के छै चकत्ते होते हैं, सैर के वक्त कोट में छै बटन होते हैं, बातें करने में अंग-अंग से छै मोशन होते हैं, लेट रहने पर हाथ-मुँह चाटने को छै कुत्ते होते हैं ! अब समझे ?

कुछ भी नहीं समझे ! परमेश्वर न समझावै ! तुम्हीं ने समझ के क्या किया ?

अब और क्या करें ? तुम ऐसों को बात 2 में बना छोड़ते हैं । इतना थोड़ा हम क्या कहते थे तुम ले दौड़े कहाँ । इसी से तो कहते हैं कि यारों की बातों में टोंका न कर । न जाने किस तरंग में क्या कह उठते हैं ।

अच्छा बाबा ! हारे । पर जी में आवै तो बतला दो कि आप के छै का क्या मतलब है ।

यह माना ! इस तरह हारी मान के पूछो तो कुछ दिन में कुछ हो जाओ । लो सुनो, हमारे छै साहब गिनती वाले छै नहीं हैं !

वाह ! यह अच्छा उड़ान भरा ! तो फिर बोतल, अंडे और बटन क्यों उघट डाले ?

तुम्हारी अक्किल देखने को ! और यों न सही तो ऐसा समझ लो कि मरदों की जबान और गाड़ी का पहिया फिरता ही रहता है । अब भी क्या वह जमाना है कि चाहै धरती लौट जाय पर बचन न पलटे । अब तो अकलमंदी इसी में समझी जाती है कि मन में कुछ हो, दूसरों को कुछ समझाया जाय और मौका मिलने पर अपने लिखे को साफ झुठला दे । फिर ऐसे कलजुग में पैदा हो के हम दुअर्थी बात निकाल बैठे तो क्या बुरा करते हैं ?

नहीं महात्मा ! आप भला बुराई करेंगे ! आप तो जो कुछ करें वही धर्म !

बस-बस ! अब तुम समझ गए ! जिसे खुशामद करना आता है वही इस जुग का समझदार है और उसी के सब काम बनते हैं, उसी से सब राजी रहते हैं । हम भी इतने खुश हुए हैं कि अब बिना बतलाए नहीं रह जाता । अच्छा तो सुनो, यह "छै" वास्तव में संस्कृत वाले "क्षय" हैं और बंगाल के बानरजी तथा पंजाब के सिंहजी के मुख में जा के 'खय' अथवा 'खै' हो जाते हैं । पर हमारे यहाँ के छै या छा (नाजुक तन औ नाजुक दिमाग) पश्चिमोत्तरदेशी जी न हाथों-पैरों से कुछ कर-धर सकते हैं न मस्तिष्क से काम ले सकते हैं । केवल मजेदार मीठी 2 बातें बनाना जानते हैं । उन्होंने देखा कि संस्कृत की क्ष बोलने में कठिन है औ बंग भाषा तथा पंचनदीय भाषा की 'ख'—'क्ष' उच्चारण में कर्कश है तथा कई शब्दों में और का और अर्थ सूचित करती है । इससे छै कहना ठीक होगा जो बोलने में सहज है

एवं छैल-छबीलियों का छाती लगने के समय छिन 2 पर छड़कना याद दिलाता है। कुछ समझे ?

हाँ इतना समझे कि आपकी बोली में 'छै' का अर्थ छः की संख्या और नाश होना दोनों है। आपने कहा था कि हम महीनों से छै-छै सुन रहे हैं। इसका क्या अभिप्राय है ?

हैं ! यह मैंने कब कहा था ?

भैया, यह अदालत नहीं है कि झूठ बोले बिना काम न चले। यहाँ तो हमीं तुम हैं। फिर क्यों कह कहाय के इनकार करते हो ?

वाह ! अभ्यास बनाए रखना कुछ बुरी बात है ? हमने कभी नहीं कहा, खुदा कसम नहीं कहा ! राम दुहाई नहीं कहा ! बाई गाड नहीं कहा ! और कहा भी हो तो बिना खुशामद कराए न बतावैंगे !

अच्छा साहब ! आप एक ही हैं ! आप बड़े वह है ! आप जो हैं सो हैं ! आप अपने आगे सानी नहीं रखते ! अब तो बतलाइएगा !

खैर, तो कान फटफटा के सुनो ! बगले की तरह ध्यान लगा के सुनो-समझो। कचटियावलिन जो है सो राम आसरे ते जा समय के बिखै रामलीला का आरंभ होता है गोविंदाय नमोनमः वा समय के बिखै जो है सो गाँवन-गाँवन नगरन-नगरन के बिखै आनंद करि-करि कै जै औ छै का आगमन होता है जो है सो गोविंदाय नमो नमः। कहौ कैसे ? तो जा समै के बिखै रामचंद्र कै सवारी निकरति हैं, गोबिंदाय नमो नमः, वा समय के बिखै, जहाँ कौन्यो रामादल कै वीर अथवा कौन्यौ तमासगीर के मुख ते जो है सो यतरा निकरि गा गोविंदाय नमो नमः कि बोलौ राजा रामचंद्र की जै, अथवा—बोलैगा सो निहाल होगा, बोल दे रजा आ आ आ आ रा आ म चन्न्द्र की ईई जै ! हुअँई चारिउ कैती जै जै जै के धुनी छाय जाति है, गोविंदा०, औ जब रावण कै सवारी निकरति है, गोविं०, वा समै कै बिखै जहाँ कोउ राच्छस जो है सो कहि देत है कि बोल रावन् जोधा कि जै ! तौ कोऊ जै तौ नाहीं कहत, गोविंदा० पै छै छै कै धुन छाय जाति है, गोविंदा०। औ राच्छस नाहिंउ ब्वालै तुहुँ देखवैया जे हैं ते अपने छै छै करन लागत हैं, गोविंदा०।

या प्रकार सों कुँवार कै महीना माँ जो है सो जै के साथ छै को जन्म होत भयो गोविं०। अब समझौ ! शब्द जो है सो सदा से अनादि है, गोविं० पै यह बात जो है सो हम ही ऐस पंडित जानित है, गोविं०, जिनका बरसन व्याकरण रटत 2 लाग हैं, गोविं०, औ जीवका तथा प्रतिष्ठा हिंदुनै के घर ते है जो है सो, औ जनम-भर कथै बाँचत है, गोविं०, वै हिंदी वाले का सहूर जो है सौ कबौं न होत भयौ, गोविं०।

यह तो गुरू सच कहत हौ ! और ऊपर से तुर्रा यह कि यही लोक-परलोक के अगुवा हैं ! यही हिंदुओं-भर के गुरू हैं। पर जाने दीजिए मतलब वाली कहिए।

तुम्हारी पागलों की-सी बकवाद में मतलब खब्त हो जाता है।

हैं ! तौ हम पागल ठहरे ! बस अब न बतलावें, जा !

नहीं महराज ! कृपानिधान ! दयासिंधु ! दीनबंधु ! दास से तकसीर हुई। क्षमा कीजिए। इतना समझा दीजिए कि शब्द जितने हैं सब अनादि हैं इस न्यास से जै और छै अनादि है। इसके सिवा बरसों से लाहौर वाली देव समाज की सारी पुस्तकों पर देव धर्म की जै, सकल पाप की छै छापा जाता है। फिर जै और छै की उत्पत्ति कुँवार से क्यों कर मान लूँ ?

हमारे कहने से मान ले, नहीं तो नास्तिक हो जायगा और श्रद्धापूर्वक सुनता है तो सुन। अकेले

शब्द ही अनादि नहीं है, सारा संसार अनादि है। इसे किसी ने बनाया-बुनाया नहीं है, यों ही लोग ईश्वर का नाम रख लेते हैं। पर आज कल के शिक्षितों का अधिकांश मत यही है कि सृष्टिकर्ता की जरूरत नहीं।

बस फिर जो कुछ है सब अनादि और अनंत है। पर बात जिन दिनों बहुत फैल जाती है वह उत्पन्न कहलाती है और जिसे बहुत थोड़े लोग जानते-मानते हैं वह नष्ट वा नष्टप्राय समझी जाती है। इस रीति से रामलीला के साथ 'छै' की उत्पत्ति और कार्तिकी पौर्णमासी को नाश मंतव्य है। क्योंकि रामलीला में रावण की छै का शब्द गूँजने लगता है और शरत् पूर्णिमा तक बना रहता है। फिर उसी दिन से जुवा का आरंभ होता है तब रावण का नाम जाता रहता है। किंतु छै छै की चर्चा बनी रहती है। यहाँ तक कि दिवाली के दो-चार दिन इधर-उधर छै छै के सिवा कुछ सुनी नहीं पड़ता। खास करके जहाँ कि हाकिम प्रजा के त्योहारों के आमोद-प्रमोद के द्वेष न हुए वहाँ तो गली 2, घर 2, जन 2 को छै 2 की सनक-सी चढ़ जाती है! छै! छै! यह छै! आ तो जा छै! सोरही में तो छै! नवकी मूठ में तो छै! फिरकी में तो छै!

क्या गरीब, क्या अमीर, क्या बच्चा, क्या बुड्ढा, क्या पुरुष, क्या स्त्री सभी के मुँह पर दिन-रात छै छै छै छै बसी रहती है। फिर दिवाली का मौसम टल जाने पर छै का प्राबल्य यद्यपि जाता रहता है किंतु दिठौनी इकादशी को हारे जुआरियों का अपील अर्थात् फिर जीतने की आशा पर खेल और कतकी को हाईकोर्ट अर्थात् अंतिम निर्धार जब तक नहीं हो जाता तब तक छै छै की छै नहीं होती। यद्यपि श्रेष्ठ द्यूतकारों के पवित्र मंदिरों में उसका बारहों मास बिहार होता रहता है पर जन समुदाय का अधिकांश इन्हीं दिनों छै छै में विशेष रूप से मस्त रहता है।

इससे हमें भी इसका थोड़ा-बहुत जाप कर लेना चाहिए। यदि बुराई है तो उनके लिए है जो लत्ती हैं और घर के बनने-बिगड़ने का ध्यान नहीं रखते। पर त्योहार मनाना तथा पुरखों की रीति का पालन कर लेना कोई ऐब नहीं है। गृह कुटुंबादि के आवश्यक व्यय से उबरने पर थोड़ा-सा परिमित धन इष्ट मित्रों की प्रसन्नता संपादनार्थ इस बहाने भी उठ गया तो क्या हानि है? विलायती चीजों के बर्ताव से और सड़ी 2 बातों के लिए कचहरी दौड़ने से लाखों रुपया विदेश को चला जाता है, उसका तो कोई ध्यान नहीं देता, पर होली, दिवाली में थोड़ा-सा मन बहलाने में पाप है! और उसी के लिए देशभाइयों को हँसना धर्म की दुम है!

अच्छा बाबा, हम जो कुछ हैं वही बने रहेंगे, किसी को बुरा लगे तो अपने कान बंद कर ले। पर हमें दिवाली के एक दिन पहिले एक दिन पीछे, यह कहने से न रोके कि छै छै छै!

अच्छा साहब छै सही, पर यह तो कहिए काहे की छै?

हाँ यह मन की बात पूछी है तो हम भी क्यों छिपावैं, कहीं डालें न! वर्षा के कारण अंतरिक्षस्थ गर्द-गुबार की छै। पर जिन घरों के किसी भाग में तारकोल चुपड़ दिया जाय उनके आसपास के आने-जाने वालों की मस्तिष्क संबंधिनी शांति की छै। दिवाली का दिया चाटने से मक्खी, मच्छर, कीड़े, पतंगों की छै! सरसों का तेल और आतशबाजी का गंधक जलने से मलेरिया उत्पादक वायुदोष की छै! किंतु नए शौकीनों के द्वारा मट्टी का तेल जलने से नेत्र ज्योति और कूबते दिमागे की छै! सब राहें खुल जाने से देश-देशांतर में गमनागमन करने वाले व्यापारियों के हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने की छै! विशेषतः हलवाई और कुम्हारों तथा ठठेरों की बेकदरी की शिकायत की छै! लक्ष्मी पूजा के द्वारा

पुरोहितों की बेरोजगारी और यजमानी के पाप की छै ! त्योहारों की चिंता से गृहपतियों के अनुयोग की छै ! घर शोभायमान हो जाने से सुघर घरनियों की अप्रसन्नता की छै !

खील-खिलौना, मिठाई पा जाने से बालकों के भिन्न 2 करने की छै ! जुवारियों की भूख-प्यास, सच्चाई-ईमानदारी, आपस के हेल-मेल, बरस-दिन के कमाय धन इत्यादि सबकी छै छै छै ! ले इतने हमने बात का बतंगड़ बना के गिना दिए । एक बार तुम भी तो प्रेम से पूरित हो के गद्‌गद स्वर से कह दो महारानी विक्टोरिया की जै ! और हिंदी हिंदू हिंदुस्तान के द्वेषियों की छै ! छै !! छै !!!

खं० 8, सं० 4-5 (नवंबर-दिसंबर, ह० सं० 7)

छल (1)

पुराने लोगों ने इस गुण को बुरा बतलाया है पर विचार कर देखिए तो जब कि लकार वर्णमाला भर का अमृत है, जिस शब्द में यह आता है उसे ललित लावन्यमय प्रलोभनपूर्ण बना देता है । संस्कृत में जयदेवजी का गीतगोविन्द सबसे सलोना समझा जाता है, क्यों ? जहाँ बहुत-से कारण हैं वहाँ एक यह भी है कि उसमें यह अक्षर बहुतायत के साथ लगाया गया है– 'ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे' इत्यादि, यों ही भाषा कविता में भी,–लामे लकुचन लगि लमकि लुनाई लिए लतिका लवंगनि की लहकि लहकि उठे' इत्यादि पद बहुत ही सुहावने समझे जाते हैं । यही नहीं अंग्रेजी में लव Love, लेडी Lady, लैड Lad, फारसी में लबे लाली लही लअब गुले लाला इत्यादि शब्द जीवित प्रमाण देते हैं कि यह अक्षर मनोहारिता का मूल है, तो फिर जिस शब्द में एक के स्थान पर छः लकार हो वुह त्याज्य वा अग्राह्य क्योंकर हो सकता है ? अग्राह्य कहने वाले बनवासी उदासी मुनि लोग थे । उनकी दृष्टि में सारा संसार ही बरंच स्वर्ग सुख भी तुच्छ था ।

इसी से सभी मजेदार बातों को त्यागने योग्य समझ बैठते थे और उनकी सब महाराजा लोग प्रतिष्ठा करते थे अतः उनके बचन अथवा लेख पर आक्षेप करने में कोई साहसमान न होता था । इसी से जो चाहा लिख दिया, नहीं तो सुरापान, सुन्दरी समागम, द्यूतक्रीड़ा, मांस भोजन जितनी बातें उन्होंने निषिद्ध ठहराई हैं सबकी सब प्रत्यक्ष और तत्क्षण आनंद देने वाली हैं । यहाँ तक कि जिन्हें इनका स्वादु पड़ जाता है वे न लोकनिंदा को डरते हैं न धनहानि की चिंता करते हैं न राजदंड को भटकते हैं न परलोक भय से अटकते हैं । अस्मात् इनके स्वादिष्ट होने के लिए प्रमाण ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है । जिस अनुभवी से पूछोगे कह देगा कि "गरचे एक तरह की बला है इश्क । तौ भी देता अजब मजा है इश्क ।"

यदि कोई शास्त्रार्थ का अभिमानी यह सिद्ध कर दे कि इन कामों का परिणाम अच्छा नहीं है तो भी हम पूछेंगे परिणाम का क्या ठिकाना । वह तो सभी बातों का यों ही हुवा करता है । ईश्वरभक्ति,

देशभक्ति और सद्गुणभक्ति का परिणाम यह है कि मनुष्य घर-बाहर के काम का न रह के दिन-रात अपनी कल्पित आशा ही में रक्त सुखाया करता है, वीरता का परिणाम यह है कि आठों पहर मृत्यु का सामना बना रहता है, फिर परिणाम का सोच क्यों ? भगवान वाल्मीकि कही गए हैं कि 'नाशान्ता संचयाः सर्वे पतनान्ताः समुच्छ्रयाः । संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तन्तु जीवितम् ।'

इसी भाँति के परिणाम सोचने ही वाले तो घर-बार, जाति-परिवार, संबंधी, सुख-सम्पत्ति छोड़ 2 बन में जा बैठते हैं और षट्रस भोजन छोड़ 2 सूखे पत्तों से पेट भरते हैं । ऐसों की बातें मानना उनके पक्ष में क्योंकर हितकर हो सकता है जो संसार में रहकर अपना तथा अपने लोगों का जीवन आनंद में बिताया चाहते हों । ऐसों को तो सबके उपदेश छोड़ के हमारी ही शिक्षा माननी चाहिए अथवा स्वयं विचार करना उचित है कि छल कोई बुरी बात नहीं है । क्योंकि उसका लक्षण यह है कि अपने आन्तरिक भाव को पूर्ण रूप से छिपाना, दूसरे की दृष्टि में कुछ का कुछ बतलाना और येन केन प्रकारेण अपना काम बना लेना, दूसरा चाहे भट्ठी में जाय चाहे भाड़ में ।

सच पूछो तो यह काम ऐसे वैसों से हो भी नहीं सकता, उन्हीं से हो सकता है जो चतुरता, व्यवहारकुशलता, अनुभवशीलता और कार्यदक्षता में पूरे पक्के हों । फिर भला ऐसे बुद्धिमानों के करने योग्य काम को बुरा समझना कौन-सी समझदारी है । यदि मुनियों ने छल-कपट को वर्जित किया है तो अवतारों ने उसे आश्रय दिया है और यह मानने में किसी आस्तिक को भी आपत्ति न होगी कि ऋषियों की अपेक्षा अवतार श्रेष्ठतर होते हैं । सो अवतारों का नाम ही मायाबपुधारी होता है, जिसका पर्याय 'छल का पुतला' है । अर्थात् वास्तव में निराकार निर्विकार पर जगत के दिखाने को और अपने भक्तों को सुखित करने तथा अपनी सृष्टि के दुखदायकों के भार मिटाने को कभी मछली बन जाते हैं, कभी कछुआ के रूप में दृष्टि आते हैं, कभी बराह रूप की राह से जादूगर का काम चलाते हैं, यहाँ तक कि सर्वोपरि षोडष कला विशिष्ट पूर्णावतार में छहों ऋतु बारहों मास श्री गोपीजन के साथ छल ही करने में समय बिताते हैं और 'छल के रूप कपट की मूरति मिथ्या बाद जहाज । आउ मेरे झूठन के सिरताज !' कहलाने ही में मगन रहते हैं ।

अब बिचारने का स्थल है कि जिसे ऐसे परम पुरुषोत्तम आदर दें उसका निरादार करना कादरपन है कि नहीं ? यदि इन बातों को पुराने अनसिविलाइज्ड हिंदुओं की कहानियाँ समझिए तो कोई प्रामाणिक इतिहास के प्रमाण से बतला दीजिए कि किस देश के, किस जाति के बड़े-बड़ों ने इसका अवलम्बन नहीं किया । बड़े 2 राज्य बहुधा इसी के प्रभाव से स्थापित हुए हैं फिर इसे बुरा समझना कहाँ की भलाई है । सच पूछो तो निर्बलों का बल यही है । जहाँ बल से काम न चले वहाँ इसके द्वारा सौ विश्वा चली जाती है । बलवानों को भी इसका आश्रय लेने से अपना पूर्ण बल नहीं व्यय करना पड़ता ।

इसी से नीति शास्त्र के आचार्यों ने इसे राजकीय कर्तव्यों में सर्वोपरि माना है । जब विपक्षी प्रबल हो और साम अर्थात् मित्रता और दान अर्थात् धन तथा दंड अर्थात् मारधाड़ से वश में न आवै तब भेद अर्थात् उसके गृह, कुटुंब, इष्ट, मित्रादि में तोड़-फोड़, जोड़-तोड़ लगाने अथवा छल का पूर्ण प्रयोग करने से कार्य सिद्धि की संभावना हो जाती है । फिर हम-तुम ऐसे छोटे-मोटे गृहस्थों के पक्ष में छल की निंदा करना मानो अपने तई प्राचीन एवं अर्वाचीन सम्राटों वरंच ईश्वरावतारों से श्रेष्ठ समझना है ।

यों तर्कशास्त्र में बड़ी सामर्थ्य है, अच्छी से अच्छी वस्तु को बुरा और बुरे से बुरे पदार्थ को अच्छा

सिद्ध कर देने में व्यय केवल बातों ही का और श्रम अकेली जीभ ही को होता है । किंतु सूक्ष्म दृष्टि से प्रत्यक्ष बाद का विचार रख के विचारिए तो अवगत हो जायगा कि छल में यदि केवल इतनी बुराई है कि धर्मशास्त्र की अवज्ञा होती है तो भलाई भी प्रत्यक्ष तथा इतनी ही है कि इसके द्वारा निर्धन दूसरों के धन का, निर्बल दूसरों के बल का, अविद्य दूसरों की विद्या का, अप्रतिष्ठित दूसरों की प्रतिष्ठा का भोग कर सकते हैं । यदि इतने पर भी कोई हठी इसका अवलम्बन करने वालों को बुरा ही समझे तो उसकी मूर्खता है । क्योंकि एक तो संसार के किसी गुण वा किसी वस्तु के परमाणु का वस्तुतः अभाव हो नहीं सकता, सब बातें और सभी चीजें किसी न किसी दशा में सदा ही से चली जायँगी । इस न्याय से छल भी सदा ही से होता आया है और होता रहेगा और जो बात अपने दूर किए दूर न हो सके उसे दुर 2 करना अदूरदर्शिता है । दूसरे यदि छल करना बुरा है तो दूसरों के छल में फँस जाना भी बज्र मूर्खता है । एवं इस कलंक से बचने का एकमात्र उपाय यही है कि छल के तत्त्व को इतना समझता हो कि उसकी आँच अपने ऊपर किसी प्रकार न आने दे । इस रीति से भी छल का सीखना एक आवश्यक कर्तव्य है । नहीं तो यदि हम छली कहलाने से बचे भी रहेंगे तो प्रत्येक छली के छल में आ जाने वाले निरे मूर्ख कहलाने से नहीं बच सकते । अस्मात् छल का सीखना अवश्य है चाहे दूसरों के साथ करने को चाहे दूसरों के हाथ से बचने को ! हाँ सीखने बैठे तो थोड़ा सीखना और करने बैठे तो थोड़ा करना वाहियात है क्योंकि खुल जाने पर बना-बनाया खेल बिगड़ जाता है ।

इससे इसका अभ्यास इतना कर्तव्य है कि कभी चूक कर 'उघरे अंत न होय निबाहू कालनेमि जिमि रावन राहू' का उदाहरण न बनना पड़े । और अत्यंत वैकट्य वालों के साथ भी इसका आचरण पाप है । क्योंकि यह बड़ी भारी चतुरता और बड़े भारी अनुभव से प्राप्त होता है एवं बड़े ही भारी काम आता है अतः छोटे ठौर पर इसका काम में लाना इसकी बिडम्बना करना है और इतने भारी महान गुण की बिडम्बना करके अपनी बिडम्बना कराने से बचना असंभव है । जो लोग अपने कहलाते हैं, जो अपना आश्रय किए बैठे हैं, जो अपने बिश्वास पर उनके साथ छल किया तौ तौ मानो अपने तीक्ष्ण एवं सुचालित शस्त्र को अपने ही ऊपर चला लिया ।

यों ही छोटी 2 बातों में छोटे 2 अभावों की पूर्ति के अर्थ वा छोटी 2 वस्तुओं की आशा पर इसका काम में लाना भी व्यर्थ है । क्योंकि जो बात बहुधा की जाती है वह प्रगट हुए बिना नहीं रहती और इसका प्रगट होना दुःख, दुर्नाम, दुर्दशा की जड़ है । अतः बड़े से बड़े अवसरों पर दूर से दूर वालों के साथ बर्ताव में लाने के निमित्त इसका संचय कर रखना परम पांडित्य है । यह एक ऐसा अनोखा शस्त्र है जो देखने में गुलाब के फूल की भाँति सुंदर और कोमल जान पड़ता है पर काम में लाने के समय बड़ी 2 और बहुत-सी तोपों को तुच्छ कर देता है । और इसकी प्राप्ति का उपाय यह कि इसके संचालक मात्र से मेलजोल रक्खे हुए उनके प्रत्येक रंग-ढंग देखता रहे ।

बस इस रीति से इसे अपने हाथ कर लेने में अष्ट प्रहर संलग्न रहिए और चलाने के समय इतना ध्यान रखिए कि शतघ्नी के द्वारा मच्छर मारना शोभा नहीं देता तथा यदि चलाने को जी न चाहे तो दूसरों की चोट से रक्षा पाना भी अति ही श्रेयस्कर है । फिर हम क्योंकर मान लें कि छल बुरा है । यदि किसी बड़े ही विद्या बुद्धि विशारद के मुलाहिजे से मानना ही पड़े तो इतना ही मानेंगे कि कच्चों के लिए बुरा है, वास्तव में नहीं । और मान लें कि बुरा है तथापि अच्छी रीति से व्यवहृत करने पर संखिया भी अनेक रोग हरती है और शरीर के पक्ष में अमृत का काम करती है कि नहीं ? यों ही सब वस्तुओं को भी समझ

लीजिए । जैसे प्रत्येक भले से भले कार्य व पदार्थ में कुछ न कुछ बुरा अंश और बुरे से बुरे में भला अंश होता है वैसे ही इसमें भी उन्नति और रक्षा का भला भाग अधिकतर है । जिसे प्रतीति न आवै वुह आप खोल देखै फिर देखैं कैसे कहता है कि छल में बुराई ही बुराई है ।

खं० 8, सं० 8 (मार्च, ह० सं० 8)

एक सलाह (2)

भारत के सार्वदेशिक महत्व का मूल कारण सदा से ब्राह्मण वंश है और यह देश जब सुधरेगा तब इसी के सुधारे सुधरेगा । उन्नत्याभिलाषियों के पक्ष में अन्यान्य उपायों की उपेक्षा यह उपाय अधिकतर शीघ्र एवं पुष्ट फलदायक है कि ब्राह्मण कुल का साहस बढ़ाया जाय । हमारे इस कथन में हम जानते हैं कि थोड़े से उन लोगों के अतिरिक्त, जिनके दिमाग में विलायती हवा पूर्णरूप से समा गई है, और किसी सहृदय विचारशील को विरोध न होगा ।

सतयुग, त्रेतादि के महर्षियों को परम पवित्र चरित्र तो बड़ी बात है, आज के गिरे दिनों में भी आर्यत्व को आश्रय देने वाले अधिकतः यही महात्मा हैं । राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक सदनुष्ठानों में देखिए तो इन्हीं की संख्या अधिक देख पड़ेगी । उत्तमोत्तम पत्र बहुत कर के इन्हीं के द्वारा संचालित हैं तथा वेद, शास्त्र, पुराणादि का संरक्षण जितना कुछ हो रहा है वह इन्हीं के आश्रय में हो रहा है । फिर क्यों न कहिए कि आज भी सबसे अधिक प्रतिष्ठापात्र यही हैं । जो लोग इनकी निंदा करके महिमा घटाने का मानस रखते हैं उनकी चेष्टा निरी व्यर्थ है ।

यदि ब्राह्मण कुछ नहीं करते तो दूसरी ही जातियों ने कौन करतूत कर दिखाई है ? फिर क्यों न इनका उचित आदर करके इन्हें प्रोत्साहित किया जाय ? सच पूछो तो यही एक देशोन्नति के लिए बड़ा भारी कर्तव्य है और इसी विचार से अनेक सज्जनों ने ब्राह्मण हितैषिणी सभा, ब्रह्म वंश महोत्सवादि की नींव डाल दी है तथा ब्राह्मण कांफरेंस इत्यादि का स्थापन करने में दत्तचित्त हो रहे हैं । पर वह बड़ी 2 बातें जैसे बड़े 2 कामों की सिद्धि का मूल है वैसे ही बड़े व्यय और बड़े ही श्रम के द्वारा साध्य हैं अथच बड़े अनुष्ठानों में विलंब देख कर छोटे 2 कर्तव्य न करते रहना नीति के विरुद्ध है ।

एतदनुसार हमारी संमति में जब तक बड़े 2 उपायों के लिये दौड़-धूप, सोच-विचार हो रहे हैं तब तक इतना तो करी उठाना चाहिए कि ब्राह्मण लोग आपस में तथा अन्य ब्रह्मभक्तगण ब्राह्मणों को जब पत्रादि लिखा करें तो केवल 'पंडित' अथवा 'महाराज' तथा 'जी' वा 'महाशय' ही आदि न लिख के विद्वानों, सच्चरित्रों और प्रतिष्ठित पुरुष को 'श्रीमन्महर्षिकुमार' अथवा 'आर्य्यमान्य' इत्यादि ऐसे विशेषण अवश्य लिखा करें जिनसे उन्हें आत्मगौरव का स्मरण समय 2 पर होता रहे । ऐसा करने से वे विशेष रूप से प्रीत तो होहींगे ऊपर से संभव है कि सदाचार से अधिक उत्साहित तथा अयुक्त कार्यों को प्रकट

रीति से करते समय लज्जित भी होते रहेंगे । क्योंकि नाम का ख्याल रखना भारत के जलवायु का स्वाभाविक गुण है और यह गुण अभी देशानुकूल बना भी हुआ है ।

क्षत्रिय पूर्वजों ने इसी मनसा से नाम के अंत में सिंह शब्द रखने तथा स्वजाति मात्र को राजपुत्र वा महाराजकुमार कहने लिखने की प्रथा चलाई थी और एतद्द्वारा सहस्र दो सहस्र वर्ष अवश्य जाति मात्र को जातीय कर्तव्य का विचार रहा होगा । किंतु अब यह चाल पुरानी हो गई इससे उतना प्रभाव नहीं रहा । नहीं तो आज बच्चा सिंह, पुहुप सिंह, भग्गू सिंह आदि नाम न रक्खे जाते । परंतु हम जो रीति बतलाते हैं वह यद्यपि निर्मूल नहीं है, ब्राह्मण मात्र किसी न किसी जगन्मान्य महर्षि का वंश है, यद्यपि समय के प्रभाव से अपने को भूल-सा गए हैं, तथापि इस नवीन प्रथा के द्वारा आशा है कि वे वर्तमान भूल में पड़े रहना पसंद न करेंगे ।

जो बात नई निकलती है और लोगों को प्रिय जँचती है वह कुछ काल तक अवश्यमेव अपना प्रभाव जमाये रहती है । इस न्याय से यह चाल ब्राह्मणों को प्रोत्साहित करने के लिए हमारी समझ में उत्तम है और जहाँ यह प्रसन्न हो के कुछ सजग हुए वहाँ क्षत्रिय वैश्यादि को जगाये बिना इनका जी आप ही न मानेगा और यही देश के सुधार की पहिली सीढ़ी है । क्या हमारे मित्रगण भी हमें योगदान करेंगे ? कोई परिश्रम नहीं है, धन का काम नहीं है, झूठ नहीं है, फिर क्या हानि है यदि ब्राह्मणों को पत्र लिखते समय 'श्रीमन्महर्षिकुमार' अथवा और कोई ऐसे ही शब्द काम में लाया करें ?

अभी बहुत दिन नहीं हुए कि चिट्ठियों-भर में गंगाजल निर्मल, पवनपवित्र इत्यादि विशेषण लिखे जाते थे पर अब वह चाल जाती रही । अँगरेजीपन ने सब काट-कूट के केवल 'पंडित', सो भी अकेली पं०, Pandit, Pt. रहने दी है । यद्यपि यह शब्द भी साधारण नहीं है किंतु समझने का श्रम करने वाले थोड़े हैं । बहुतेरे इसके साथ ही आठ 2 आने पर दुर्गापाठ करने वालों अथवा अक्षरारंभ के स्थान पर बिसमिल्लाह का सबक लेने वालों की ओर मन ले जाते हैं । इससे अब कुछ अधिक विशेषणों की आवश्यकता है और यदि हमारे सहवर्तीगण भी रुचिकर समझें तो 'महर्षिकुमार', 'आर्यमान्य', 'पूज्यवर' इत्यादि विशेषण उत्तम हैं ।

हाँ, जिनका मन, बचन, कर्म खुल्लमखुल्ला इस योग्य न जँचे उन्हें कुछ काल तक न लिखिए । पर इसमें संदेह नहीं है कि इस जाति में ऐसे कुलकलंक बहुत न मिलेंगे । अतः जिनमें किसी प्रकार की श्रेष्ठता हो उन्हें स्तुति के द्वारा संप्रीत करके कर्तव्य में संलग्न रखना और उनके निंदकों का साहस न बढ़ने देना बड़ी भारी दूरदर्शिता है ।

खं० 8, सं० 8 (मार्च, ह० सं० 8)

समझ की बलिहारी

गत संख्या में हमने जो आर्य्यावर्त्तजी के पक्षपातपूर्ण लेख का उत्तर दिया था उसका उत्तर देने में आप ने समझदारी का भंडार खोल दिया है ! वाह ! भला समझ हो तो इतनी तो हो कि दूसरा क्या कहता है और हम क्या कहते हैं ? 'ब्राह्मण' में केवल देखी हुई वह बातें लिखी गई थीं जिनकी साक्षी देने को सहस्रों विद्वान् और प्रतिष्ठित ब्राह्मण क्षत्रिय विद्यमान हैं । पर ईर्षा और पक्षपात के बस सहयोगी महाशय कुछ का कुछ विदित किया चाहते थे । हाँ, उसी के अंतर्गत कुछ आर्यसमाज की करतूत भी दिखलाई गई थी जिसका खंडन करना और सच्ची घटना का मान लेना प्रत्येक समाजी का कर्तव्य था और है । किंतु यह न करके आपने "कहौ खेत की सुनै खलियान की" वाली कहावत का उदाहरण दिखाया है और इसी बुद्धिमानी पर "सूर्य" बनने का मानस किया है ।

इसी से कहते हैं समझ की बलिहारी है ! आप लिखते हैं—'हम नहीं जानते इस पत्र का नाम 'ब्राह्मण' किस अभिप्राय से रक्खा गया है । आठ वर्ष में एक बच्चा भी जान सकता था पर खेद है आप की जानकारी पर कि इतने दिनों में इतना भी जाना ! खैर, अब जान रखिए कि इसका संपादक 'ब्राह्मण' है और उसका कविता संबंधी नाम (तखल्लुस) भी यही (बरहमन) है, इससे नाम रखते समय व्यर्थ का सोच-विचार न करके इसी नाम से काम लेना उचित समझा गया था । जो लोग ऊटपटाँग लम्बा-चौड़ा शेखी से भरा हुआ नाम बहुत सोच-साच के रख लेते हैं पर कार्यवाही कुछ भी नहीं दिखा सकते उनका ढंग इस पत्र के संपादक को नापसंद है ।

हम यदि अपने पत्र का नाम आर्यावर्त या देशहितैषी इत्यादि रखते तो कभी एक सम्प्रदाय का पक्ष न लेते बरंच समस्त देश के सच्चे हक पर ध्यान रखते । और सुनिए, हिंदू जाति का समयानुकूल शुभचिंतन सदा से इसी नाम पर निर्भर रहा है । फिर जिस पत्र का यही एक मात्र उद्देश्य हो उसके लिए इसके अतिरिक्त और कौन नाम युक्तियुक्त हो सकता था ?

हाँ इस नाम के साथ वेद और तदनुकूल ग्रंथों का भी अवश्य संबंध है । पर इस संबंध से यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि केवल मुख से वेद 2 चिल्लाना पर तदनुकूल उपदेश के समय 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' का आश्रय लिया जाय । जो लोग वेद का तत्व जानते हैं वह हमारे मूल मंत्र 'प्रेम एवं परोधर्म्मः' को कदापि वेद के विपरीत नहीं कह सकते, क्योंकि प्रेम के बिना वेद ही नहीं, परमेश्वर तक की महिमा नहीं स्थिर रह सकती । पर उन समझदारों के लिए हमारे पास कोई औषधि नहीं है जो केवल दयानंदी भाष्य ही को वेद समझ बैठे हैं । इसी प्रकार जिनके शिर में खसखस के दाने भर भी समझ होगी वे उपर्युक्त नामगुणविशिष्ट ब्राह्मण नामक पुरुष को नकली नहीं कह सकते ।

कहना कैसा, ऐसा विचार करना भी आर्यबंशज की समझ में महापाप है । पर जिनका शरीर ब्राह्मण जाति के माता-पिता से नहीं उत्पन्न हुआ और इसी स्वाभाविक गुण के अनुसार अपने बाप-दादों तथा सजातियों की ममता का लेश नहीं है प्रत्युत् "ब्राह्मण" शब्द ही जिनकी समझ में पोप का पर्याय है, ब्राह्मण जाति की रीति-नीति एवं सदाचार सद्ग्रंथादि मात्र जिनकी समझ में दोषास्पद जँचते हैं, वे नकली ब्राह्मण बनें तो कलिकाल में बन सकते हैं । किंतु हमारी समझ में तो उन्हें इस नाम ही से क्या काम है जो पवित्र ब्रह्मकुल को अपने कर्तव्यों से नकलीपन का कलंक लगा रहे हैं । नकली होते हैं विजातीय नये

मतों को मानने वाले न क़ि ब्राह्मण जिनका जातीय धर्म एवं गौरव सदा से चला आया है और असंख्य विघ्नों को कुचलता हुआ सदा तक चला ही जायगा।

भैया रे, बाँकीपुर वाले 'ब्राह्मण' के उपदेश समझने को समझ चाहिए, नहीं तो आज पुराण हैं तो कल बेद तक सभी जटल काफिए जँचने लगेंगे। क्योंकि इस 'ब्राह्मण' का मूल मंत्र ही जिन्हें नहीं रुचता उनसे यह आशा कौन कर सकता है कि अपने देश-जाति की कोई भी बात श्रद्धेय रहेगी। आप ने जो 'कलौविप्रा भविष्यंति' श्लोक लिखा है उससे पुराणों की भविष्यत् वाणी प्रति पद प्रत्यक्ष है जिसे आपकी लेखनी भी झख मार के लिख ही गई है कि 'मिथ्या क्योंकर सकते हैं', पर कृपा करके इतनी बात और खोल देते कि 'पाखंड निरता सर्वे' का क्या अर्थ है। हमने तो सुना है कि आर्यावर्त्त के एडिटर भी ब्राह्मण ही हैं। यदि यह बात सच है तो 'सर्वे' में वे भी शरीक हैं अथवा नहीं ? यदि इसी समझदारी पर हमारे आक्षेपों का उत्तर देना चाहते हो तो वृथा कष्ट काहे को करोगे, एक पोस्टकार्ड में हार मान लेने की आज्ञा लिख भेजो, बस छुट्टी है।

हम लोग सिद्धांती हैं, ऐसे मित्रों का हुक्म मानने में कभी इनकार नहीं कर सकते। जान पड़ता है कि आप ने 'ब्राह्मण' का लेख समझा क्या पढ़ा भी नहीं है नहीं तो उसके संपादक (प्रताप मिश्र) का धर्म्म मंडल संबंधी व्याख्यान दान बाँचते और तनिक भी धर्म का अनुका होता तो निश्चय अपने सम्वाददाता के लेख को मिथ्या पक्षपात से भरा और बालक्रीड़ा ही मान लेते। और आप न मानैं तौ भी क्या हानि है। जिस बात की सच्चाई के साक्षी दस सहस्र लोग हैं वुह आप के तथा भवदीय सम्वाददाता के झुठलाने से कभी झूठी हो सकती है ? क्या आपको झूठ की लत पड़ गई है ?

'ब्राह्मण' ने 'विचार' करने के लिए 'दूसरों का आश्रय' कब लिया है ? और आर्यावर्त के साथ 'विचार' करने में कब बंद है ? पर आर्यावर्त पहिले आर्योचित 'सभ्य रीति' के नियम तो स्थिर करे। आगे चलकर आपने हमारे सनातन धर्म में द्वेष की शिक्षा सिद्ध करके अपने गुरुदेव तथा हमारे माननीय फकीर श्री स्वामी जी के सत्यार्थप्रकाश के बराबर बनाने की मनसा में 'कृष्णदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते' इत्यादि चार-पाँच श्लोक उदाहरण स्वरूप लिख दिखाए हैं। पर ऐसे लिचर आक्षेपों का उचित उत्तर बीसियों विद्वान दे चुके हैं अतः हम व्यर्थ अपना पत्र रँगना नहीं पसंद करते। हाँ, 'आर्यावर्त' जी की इच्छा हो तो ऐसे 2 बहुत से वचन ढूँढ़ रक्खें, पर किसी बालक से दंतत्रोटक उत्तर दिला देने की प्रतिज्ञा लिखे देते हैं।

इस अवसर पर हम इतना ही उपदेश दे देना उचित समझते हैं कि यदि सचमुच आर्यधर्म्मतत्व समझ के उसका स्वादु प्राप्त करना हो तो हमारे ही मूलमंत्र को कुछ दिन जपिए तो चित्त शुद्ध हो जायगा और पुराणों का यह गूढ़ार्थ विदित हो जायगा कि अनंत रूप गुण स्वभावादि संपन्न प्रेमदेव एक ही हैं।

उनका भजन जो कोई जिस रीति से सरल निश्चल एवं अनन्य भाव के साथ करता है वह अपनी इच्छानुसार उस आनंद को प्राप्त होता है जिसके आगे मतवालों की मुक्ति नर्क से भी अधिक घिनौनी है। राम, कृष्ण, शिव, दुर्गादि नाम रूप लीला कैसी ही क्यों न प्रकाश करें पर वास्तव में सर्वथा एक हैं। इसके उपरांत आपने प्रयोजनीय बात कोई न लिख कर केवल हमेशा की आदत के अनुसार शेखी बघारी है, जिसका उत्तर देना उन्हीं की-सी प्रकृति वालों का काम है न कि हमारा। पर क्या कीजिए, वह लड़ना ही पसंद करते हैं, अतः हम भी समझाए देते हैं, समझ हो तो समझ रक्खें कि परमेश्वर न करे

कहीं उनके कथनानुसार आर्यसमाज वालों की-सी समझ सबकी हो जाय तो आज काशी, मथुरादि सैकड़ों नगर नष्ट हो जायँ, सहस्रों देशभाइयों की रोटी हर जायँ, लाखों कुलांगना पातिव्रत के साथ 2 पुरखों की भलमंसी बचाने में अक्षमा हो जायँ और रेल, तार आदि के मार्गों से इंग्लिस्तानवासियों का करोड़ों का नुकसान हो; जिसकी घटी पुजाना आर्यसमाज की सामर्थ्य से कोसों दूर है। फिर सहयोगी जी किस बीरते पर हमें और हमारे धर्म को शरण देने का हौसला रखते हैं और अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने के कलंक से बच सकते हैं। और सुनिए 'बंगाल देश' के 'पंडित शशधर तर्क चूड़ामणि आदि' पुराणों का विषय समझने में 'थक' जायँ तो उनकी बुद्धि का दोष है न कि पुराणों का, क्योंकि तर्कशास्त्र से और काव्यशास्त्र से इतना अंतर है जितना खाने की दवा से और लगाने की दवा से।

पुराण धर्मानुरागियों के लिए बने हैं न कि झगड़ालुओं के लिए। इस बात पर ध्यान दिए बिना दयानंद स्वामी सोचते 2 परमधाम को पधार गए फिर तर्कालंकार का थक जाना क्या अचंभा है ! आपका यह कहना निरा गप्प है कि 'दीनदयाल¨केवल थोड़ी-सी उरदू पढ़े हैं'। थोड़ी-सी संस्कृत पढ़ के पंडित बन बैठना आप ही के समाजों का लक्षण है। इसका प्रमाण यदि माँगिए तो यही विद्यमान है कि आज तक सांगोपांग एक वेद का जानने वाला भी शास्त्रार्थ के लिए न देख पड़ा। किंतु दीनदयाल जी की फारसी में लियाकत किसी आलिम से पूछिए तो मालूम हो।

आप तो शायद उसकी अलिफ बे हौवा भी न जानते होंगे। फिर इस बात को क्या जान सकते हैं कि फारसी का विद्वान अपने उद्देश्य को सिद्ध करने में निरे पंडितों की अपेक्षा अच्छा ही होता है। इसका प्रमाण किसी वकील के पास बैठ के देख लीजिए तो अनुमान हो सकेगा कि दी०द० जी० किसी पुराणों का महत्व सिद्ध कर सकते हैं वा नहीं ! और उसी के अंतर्गत यह भी जान जाइएगा कि पुराण के मानने वाले धर्म्म के दृष्टांत से तो 'ईश्वर' को कभी 'भूखा' और तुम्हारे समान 'पेट पालक' मानते क्या बिचारते भी नहीं हैं।

रही प्रेम दृष्टि, उसके समझने का अधिकार आप तो क्या हैं आपके स्वामी जी को भी न था। बरंच आपके वेदों के आदिवेत्ता ब्रह्मा जी को भी दैवत्व की हैसियत में नहीं है। 'झगड़ा बढ़ाना तो हमें न मंजूर है, न था, न होगा पर आप एक सच्ची बात को झुठलावें और उस झूठ का प्रकाश कर देना झगड़ा कहलाता हो तो लाचारी है।

पं० तुलसीराम जी कानपुर बेशक आए और सचेंड़ी भी गए होंगे पर हम लोगों को न यहाँ दिखाई दिए न वहाँ। इस पर आप कहते हैं कि 'दीनदयाल भाग गए'। यह पक्षपात और झूठा पक्षपात आपका है वा हमारा ? तुलसीराम जी को कोई जानता न हो तो कहिए। वह भूत नहीं हैं, हौआ नहीं हैं, न दीनदयाल ही जी बच्चे हैं कि उनका नाम ही सुन के भाग जाते। फिर आपका ऐसा कहना पक्षपात नहीं तो क्या है ?

खं० 8, सं० 10 (मई, ह० सं० 8)

पढ़े लिखों के लक्षण

कपड़े ऐसे कि रामलीला के दिनों में सिर्फ काले चेहरे ही की कसर रह जाय इस पर भी उनमें कोई देशी सूत न हो, यदि हिंदुस्तानी के हाथों से लिये भी न गए हों तो और अच्छा। भोजन ऐसे कि बिरादरी के डर से प्रगट रूप में न निभ सके तो गुप्त ही रीति से सही, पर हों पंच मकार में से कुछ न कुछ अवश्य। उनका रंधन यदि बैरा, खानसामा आदि के द्वारा हुआ हो तो क्या ही कहना है नहीं तो खैर किसी शूद्र के ही हाथ का हो। पर परमोत्तम तो यही है कि विलायत से बन के आए हों चाहे महीनों के सड़े हुए गंधाते ही क्यों न हों और परोसने वाले तथा खाने वाले भी कम से कम चार वरण से पृथक तो अवश्य ही हों। भाषा ऐसी कि संस्कृत का शब्द तो कान और जबान से छू न जाना चाहिए।

हिंदी से इतनी लाचारी है कि 'आया' 'गया' इत्यादि शब्द नहीं बच सकते तथापि खास 2 बातें अँगरेजी अथवा टूटी-फूटी अरबी ही की हों। हाँ कोई नाम पूछ बैठे तो झख मार के राम रहीम आदि के साथ दत्त, प्रसाद, दास, गुलाम आदि जोड़ के मुँह पर लाना पड़ता है। पर इसमें अपना वश ही क्या है। वह पिता की बेवकूफी है। शिष्टाचार में भी नमस्कार पायलागन राम 2 जैगोपाल आदि वाहियात बातें न आनी चाहिए। रोजगार भी नौकरी के सिवा और न करना चाहिए क्योंकि बबुआई के बईद है।

धर्म भी सबसे उत्तम तो नास्तिकता है नहीं तो खैर क्रिशच्यनिटी ही सही। पर महात्मा मसीह के उत्तम उपदेशों पर चलना कोई आवश्यक नहीं है। केवल इंग्लैंड वालों की-सी ऊपरी चाल-ढाल बहुत है। ढिठाई बेशक इतनी अवश्य होनी चाहिए कि नागरी का एक अक्षर न सीखा हो पर वेद, पुराण, देवता, पितर इत्यादि को मन ही से तुच्छ न समझ ले किंतु दूसरों को समझाने में भी बंद न रहे।

साधारणतः सबका निचोड़ यह कि पुराने सब लोग अहमक थे और उनकी चलाई हुई सारी बातें नांसेंस हैं। क्या ज्योतिष, क्या वैद्यक, क्या मंत्र शास्त्र, क्या नीति, क्या धर्म इत्यादि सर्व गप्पः। हाँ कोई यूरोप एमेरिका वाला उनमें से किसी को अच्छा बतलावै तो सच्चे जी से मानने योग्य है। ऐसी ही ऐसी और भी कई एक बातें हैं जो आजकल के बरसों के पठन-पाठन का नतीजा हैं और प्रायः सभी बाबू साहबों में थोड़ी बहुत पाई जाती हैं। बरंच जिसमें इनका पूर्णतया अभाव हो वह इस काल की सुपठित एवं सभ्य मंडली का मेम्बर ही नहीं समझा जा सकता।

इससे यदि हम साधारण बोली में इनका नाम पढ़े-लिखों के लक्षण रख लें तो बुद्धिमानों की दृष्टि में अनुचित न जँचेगा। इनका वर्णन अनेक बार अनेक प्रकार से अनेक सुवक्ता और सुलेखकों की वाणी तथा लेखनी के द्वारा हो चुका है। अतः हम इस समय इस विषय को बढ़ाना पिष्टपेषण समझते हैं पर अपने पाठकों से पूछा चाहते हैं कि इन लक्षणों से देश अथवा जाति को किस भलाई की आशा हो सकती है ? इनसे तो वही लोग अच्छे जो पढ़ने-लिखने का नाम नहीं जानते अथवा कुछ मुड़िया कैथी नागरी व दुर्गापाठ सत्यनारायण कथा इत्यादि सीख के अपने कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवादि द्वारा अपना तथा अपने कुटुंब का पालन कर लेते हैं।

ऐसों से यदि कोई उपकार न हो सके तो भी हिंदूपन की एक सूरत तो बनी रहती है, यही क्या थोड़ा है ? पर हमारे बाबुओं की चले तो हिंदुस्तान का कोई पुराना चिह्न (चिह्न कैसा नाम) भी न

रक्खें । भाषा, भोजन, भेष, भाव सब और के और हो जायँ । इसी से हमारी समझ में सच्चे देशभक्तों को सब काम छोड़ के पहिले इसका उद्योग करना चाहिए कि सर्वसाधारण में निज सन्तान के वास्तविक सुधार की रुचि उत्पन्न हो ।

लोग अपने लड़कों को आँखें मीच के स्कूल भेज देने की भेड़ चाल छोड़ें क्योंकि वहाँ आत्मगौरव, स्वजातित्व, देश वात्सल्य, सनातनाचार इत्यादि की शिक्षा नहीं होती जो मनुष्य-जीवन का भूषण है । बरसों का समय और सैकड़ों रुपया केवल ऐसी ही पढ़ाई में जाता है जिसका फल इतना मात्र हो कि तन नाजुक, मन अपनेपन से फिरंट और जीवन केवल परसेवा द्वारा पेट पालने में बिता देने के योग्य रह जाय ।

यदि परमेश्वर की दया से भोजनाच्छादन की चिंता न हो और कुछ नामवरी करने का शौक चर्राय तो या तो उपर्युक्त लक्षणों का पूरा नमूना बन के शुद्ध ज्यंटिलम्यन हो जायँ और दूसरों को जाति-पाँति की रीत-भाँति धर्म-कर्मादि के काम का न रक्खें या राजनीतिक विषयों में टँगड़ी अड़ावैं तो या तो खिताबी राजा बाबू सितारा आदि कहलाने की धुन में चार दिन के पाहुन हाकिमों की खुशामद के मारे प्रजा वर्ग का शाप संचयन करते रहें या बात 2 पर सर्क़ार का मुकाबिला कर 2 के राज कर्मचारियों को चिढ़ाया करें ।

भला इन लक्षणों और ऐसी करतूतों से किसकी क्या भलाई हो सकती है ? पर खेद है कि वृद्धि इन्हीं की देखने में आती है और अधिकांश में उद्योग भी इन्हीं की प्राप्ति के लिए होते रहते हैं । फिर हम क्यों न कहें कि इन नवयुवक एवं नवशिक्षित बाबुओं ही के क्या देश-भर के लक्षण कुलक्षण हैं । क्योंकि भविष्यत की उन्नति-अवनति इन्हीं पर निर्भर ठहरी और इन विचारों में विद्या ऐसी परमोत्तम वस्तु का फल उलटा दिखाई देता है अर्थात् जिन बातों को यह उन्नति का मूल समझते हैं वे यदि पूरी तरह फैल जायँ तो हिंदुस्तान का वास्तविक रूप ही मट्टी में मिल जाय ।

केवल थोड़े-से पुराने ढंग के बचे-खुचे लोगों की जबान पर कहानी मात्र रह जाय कि भारतवर्ष आर्य्यावर्त अथवा हिंदुस्तान ऐसा देश था, वहाँ के निवासी ऐसे होते थे, उनका व्यवहार, बर्ताव इत्यादि ऐसा था वैसा था और बस । यद्यपि यों होना है यहाँ मुश्किल और परमेश्वर न करे कि हो पर यतः ठान ऐसा ही होने का ठन रहा है । इससे देश हितैषियों को वर्तमान ढर्रा बदलने और अपनी प्रकृत दशा बनाए रखने का यत्न कर्तव्य है नहीं तो पढ़े-लिखों के लक्षण बड़ा अच्छा रंग लावैंगे ।

खं० 8, सं० 10 (मई, ह० सं० 8)

छल (2)

दो लेखों में हम यह दिखला चुके हैं कि छल बहुत अच्छा और मजेदार गुण है तथा ऐसे-वैसे साधारण

लोगों से हो भी नहीं सकता अतः इसके सीखने में यत्न करना चाहिए। इस पर हमारे कई मित्रों ने पूछा है कि सीखें तो क्योंकर और कहाँ पर सीखें। उनके लिए हम आज बतलाते हैं कि सीखना किसी बात का चित्त की एकग्रता के बिना नहीं हो सकता और चित्त तभी एकाग्र होता है जब उसे भय अथवा लालच का सामना करना पड़ता है। इसी से जो बालक पढ़ने में मन नहीं लगाते और भैया राजा कहने पर भी राह पर नहीं आते उनके लिए प्राचीनों की आज्ञा है कि 'लालने बहवोदोषास्ताड़ने बहवो गुणाः' किंतु इस गुण के सीखने की इच्छा रखने वाले बालक नहीं होते न सीखने से जी ही चुराते हैं अस्मात् भय अथवा ताड़ना के पात्र नहीं हैं।

यों अकस्मात् किसी कपटी के मायाजाल में पड़ के डर व कष्ट उठाना पड़े तो और बात है पर बुद्धिमानी यह है कि उस प्रकार के डर और कष्ट को अपने ऊपर न आने दें, किसी दूसरे ही को उसमें फँसा कर कपटकारक के हथखंडों और कापट्यजालबद्ध गावदीराम की दशाओं का तमाशा देखता हुवा शिक्षा लाभ करे। जिससे इतना न हो सकेगा वह कपट कालेज का अयोग्य विद्यार्थी है और अपने आप ताड़ना पात्र बनता है। हमें संदेह है कि कष्ट एवं हानि सहने पर वह छलविद्या में कोई डिग्री पास कर सके वा न भी कर सके।

बहुत लोग कहते हैं कि आदमी कुछ खो के सीखता है पर हमारी समझ में इस विद्या को भी जिसने कुछ खो के सीखा उसने क्या सीखा। यद्यपि सीखना अच्छा ही है चाहे जैसे सीखा सही किंतु सुयोग्य कहलाने के योग्य वह है जो कुछ ले के सीखे। अधिक नहीं तो जिसके पास सीखता हो उसका मन ही अंटी में कर ले। मिष्ट भाषण एवं मिथ्या प्रेमप्रदर्शन को यहाँ तक पहुँचा दे कि उसे पूरा विश्वास हो जाय कि हमारा सच्चा विश्वासी है हमारे भेद अपने बाप के आगे भी न खोलेगा।

साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि शिक्षक महाशय पर अपना भेद न प्रकट होने पावै और बड़ी ही भारी स्वार्थसिद्धि की आशा तथा आवश्यकता के बिना उनका भेद भी दूसरा न जानने पावै। बस फिर विद्या आ जाना असंभव न होगा। पर यह उन्हीं का साध्य है जिन्हें एकाग्रचित्तता का अभ्यास हो और चित्त की एकाग्रता के लिए हम लिख चुके हैं कि भय अथवा प्रलोभन की आवश्यकता है। उसमें भय तो भाग्य ही के बश कभी आ जाय तो खैर नहीं तो काल्पनिक भय को कभी पास न फटकने देना चाहिए। बरंच उत्तम तो यह है कि सचमुच हानि अथच कष्ट की संभावना हो तौ भी चित्त को इन मंत्रों से धैर्य प्रदान करता रहे कि—होगा सो देखा जायगा, दुनिया में सुख-दुःख सभी को हुआ करते हैं, दूसरे के चार हाथ थोड़ी हैं।

विपक्षी धन बल दिखावै तो हम छल-बल से काम लेंगे—इत्यादि और जब भय आ ही पड़े तो उसे भय न समझकर उसके दूर करने के उपाय को मुख्य कर्तव्य समझना चाहिए। फिर बस परमेश्वर चाहे तो भय का भय नहीं ही रहेगा। और यदि आ पड़े तो खैर छल सीखने वा अभ्यास में लाने का अवसर मिला सही। किंतु परमेश्वर ऐसे अवसर न दिखावे यही अच्छा है। हमारे पाठक कहते होंगे कि छल की शिक्षा और बार 2 परमेश्वर-परमेश्वर ! यह क्या बात है !

इसके उत्तर में हमें कहना पड़ता है कि संसार में नास्तिक बहुत थोड़े हैं और जो हैं उन पर श्रद्धा बहुत थोड़े लोगों को होती है। इस कारण उन्हें कोई मुँह नहीं लगाता। इससे उन्हें छल करने के लिए पात्र नहीं मिलते और पात्राभाव से अपनी मर्यादा के रक्षणार्थ निष्कपटता का पुतला बनना पड़ता है। अस्मात् छलियों को अवश्य चाहिए कि ईश्वर और धर्म के गीत गाकर संसार में प्रतिष्ठित बने रहें।

बरंच जिनके साथ छल करना हो उनके सामने तो उन्हीं की रुचि के अनुसार परमेश्वर का मानने वाला और धर्मतत्व का जानने वाला बनना पड़े तभी सुभीते की हिकमत है। फिर क्यों न मानिए परमेश्वर नहीं है तो लोगों के ठगने को एक शब्द ही सही। और यदि है तो छल जनित पापों को दूर करेगा। इस रीति से न लोक का भय रहेगा न परलोक का।

रहा प्रलोभन, वह किसी प्रकार त्याज्य नहीं है बरंच चित्त की एकाग्रता का सहज और सुहावना उपाय है। अतः उसकी प्राप्ति के अर्थ यत्न कर्तव्य है। हमारी समझ में पंच सकार अर्थात् संगीत, साहित्य, सुरा, सौंदर्य, सौहार्द्र्य की सेवा का थोड़ा-बहुत अभ्यास करते रहना सहृदयता तथा एकाग्रचित्तता के उत्सुकों को अत्युत्तम है। क्योंकि यह पाँचों पदार्थ चित्त को आकर्षित करके चिंता रहित कर देने की बड़ी सामर्थ्य रखते हैं। जो इनके रस का अभ्यासी है वह कैसी ही कठिनता का सामना पड़े पर घबराता नहीं है, कैसा ही कष्ट, कैसी हानि, कैसा ही सोच क्यों न उपस्थित हो, जहाँ नियमानुसार कोई मजेदार तान अलापी अथवा सुनी, जहाँ कोई रसीला छंद लिखा वा पढ़ा, जहाँ दो पियाले चढ़ाए, जहाँ किसी सुंदरी का दर्शन स्पर्शन किया, जहाँ किसी अपने से चित्त वाले के पास जा बैठे वहीं सब दुःख-दरिद्र भूल जाते हैं और तबीयत में ताजगी आ जाती है जो छल साधन की बड़ी भारी सहायिनी है। जो लोग कहते हैं कि मनुष्य पंच सकार के संसर्ग से पागल हो जाता है उनका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि पागल वह हो जाते हैं जो इनमें से किसी प्रकार के गुलाम बन जाते हैं अथवा नए 2 आ फँसते हैं। किंतु जो इनके रसास्वादन के अभ्यासी हैं तथा इन्हें परिमितिबद्ध रख के दास्य स्वीकार करने के स्थान पर मनोविनोद संपादन मात्र में इनकी सहायता समयानुसार ले लिया करते हैं वे कदापि पागल नहीं बनते बरंच पागलपन की जड़ अर्थात् चित्त की उद्विग्नता दूर करके अधिक सावधान और चातुर्यमान हो जाते हैं और बहुधा देश काल पात्र का विचार करके इन्हीं के द्वारा दूसरों को पागल बना के, हँसा, खिला मूँड लेते हैं।

इतिहासवेत्ताओं और जगत्कौतुकदर्शकों से छिपा नहीं है कि नीतिज्ञ पुरुषों ने एक वा दो ही सकारों के मायाजाल से ला के कितने ही बड़े-बड़ों का तन, मन, धन माँग लिया है और आज भी माँग लेते हैं। फिर कोई क्यों कर सिद्ध कर सकता है कि सावधान पंचसकारी पागल होता है। हाँ, जो संगीत, साहित्य और सौहार्द्र्य की पूँजी को सौगुना प्रसिद्ध करना तथा सुरा एवं सौंदर्य संपर्क को पूर्ण रूप से गुप्त रखना नहीं जानता वह अवश्य पागल है। किंतु ऐसे पागल भला कापट्यशास्त्र क्या सीखेंगे। अतः उनकी चर्चा इस स्थल पर व्यर्थ है। हमारा लेख तो केवल उनके उपदेशार्थ है जो छल विद्या सीखना चाहते हों। उनसे हम अवश्य कहेंगे कि पंच सकार का उचित रीति से सेवन करते रहिए तो यह पूछने की आवश्यकता न रहेगी कि क्योंकर सीखें। रहा दूसरा प्रश्न, अर्थात् कहाँ पर सीखें। इसका साधारण उत्तर तो यही है कि कपटी के कोई बाह्य चिह्न नहीं होते। जैसे सब मनुष्य हैं वैसे ही वे भी हुवा करते हैं। अतः जिस पुरुष में कपटकारिता देखो उसी के चरित्रों से संथा ले लिया करो और दूसरों के प्रति उसी की चाल-ढाल का अनुसरण किया करो। किंतु इस मंत्र को सदा स्मरण करते रहो कि जो कोई जान लेगा कि हम क्या करते हैं तो बुरा होगा।

बस यों ही करते 2 अच्छे-खासे कपटी हो जाओगे। पर विशेष उत्तर सुनने की लालसा हो और शास्त्र का प्रमाण पाए बिना जी न भरता हो तो इस श्लोक को कंठस्थ कर रखिए कि "देशाटनं पंडितमित्रता च बारांगना राजसभा प्रवेशः। अनेक शास्त्रावलोकनं चातुर्यमूलानि वदंति संताः ।।" जो लोग

द्रव्योपार्जनादि के लिए देश-विदेश फिरा करते हैं अथवा बड़े नगरों में रह के नाना देश के लोगों की रीति-व्यवहार देखा करते हैं उनसे छिपा नहीं है कि कई जाति के लोगों को ईश्वर ने ऐसा स्वाभाविक गुण दे रक्खा है कि उनमें के यदि हजार पाँच सौ जन एकत्र किए जाएँ तो कदाचित् एक ही दो ऐसे मिलेंगे जो शुद्ध 'छल के रूप कपट की मूरति मिथ्यावाद जहाज' न हों। हम उन जातियों का नाम बतला के सेंत का झगड़ा मोल लेना नहीं चाहते किंतु बाहिरी लक्षण बतलाए देते हैं कि बहुधा रंग गोरा, चेहरा खूबसूरत, शरीर निर्बल, स्वर मृदुल, मांस-मदिरा से सच्ची घृणा नहीं, ईश्वर और धर्म का आग्रह नहीं, मित्रता-शत्रुता का क्षण-भर भरोसा नहीं, स्वार्थपरता से कोई बात खाली नहीं। उनका काम हो तो चाहे जैसी खुशामद करा लीजिए किंतु तुम्हारा प्रयोजन आ लगे तो मानो कभी की जान-पहिचान ही नहीं।

ऐसे लक्षण वालों से संसर्ग रखना छलविद्या सीखने में बड़ा सहारा देता है। किंतु ऐसे लोग इस देश के केवल बड़े नगरों में तथा अपने ही भूभाग में मिलते हैं। इसी से शास्त्रकारों ने देशाटन की आज्ञा दी है और पंडितमित्रता अर्थात् नीतिबेत्ता, स्वार्थसाधनतत्पर, बेद-शास्त्रादि के बचनों में अपने मतलब का अर्थ निकाल लेने में समर्थ, अपनी कही हुई बात को नाना रूप से पलट देने के अभ्यासियों की संगति भी इसी निमित्त बतलाई है कि देश-विदेश घूमने वा नाना देशवासियों का रंग-ढंग देखने तथा छँटे लोगों से हेल-मेल रखने से मनुष्य की आँखें खुल जाती हैं और झूठ बोलना पाप नहीं जान पड़ता। जैसा कि फारस के विद्वानों का वाक्य है कि 'जहाँ दीदा बियार गोयद दरोगा'। फिर क्या, जहाँ झूठ बोलने की हिचक जाती रही वहाँ छल सीखने का ढर्रा खुला हुआ ही समझिए। और यदि इन दोनों रीतियों अर्थात् देशाटन और गुरुघंटालों के संग से पूर्ण शिक्षा ग्रहण कर सकिए तो बरांगना देवी का चरणसेवा स्वीकार कीजिए, वे पक्का कर देंगी। क्योंकि ऊपर हम जितने कपटी वालों के लक्षण बतला चुके हैं वे इनमें प्रायः सभी विद्यमान होते हैं। ऊपर से भोली 2 सूरत और मीठी 2 बातें बना के परधन हरण का उन्हें दिन-रात अभ्यास चढ़ा रहता है।

श्री तुलसीदास गोस्वामी तक ने जिनकी महिमा में साक्षी दी है कि "पर मन पर धन हरन को, गनिका बड़ी प्रवीन", जिनका-सा रूप धारण करके साक्षात् परमेश्वर ने भी छल ही किया है, अर्थात् समुद्रमंथन के समय मोहनी अवतार ले के आप ने अपने प्यारे देवताओं को तो अमृत पिलाया था और आँखें-भौंहें मटका के राक्षसों को मदिरा पिला के पागल कर दिया था। जिन आर्यकुलकलंकों को पुराणों का नाम ही सुनते मृगी रोग आ चढ़ता है उनकी तो बात ही और है नहीं तो मोहनी रूप की कथा से बुद्धिमान मात्र यह उपदेश लाभ कर सकते हैं कि जब भगवान् तक इस रूप में प्रकटित होकर ऐसा ही करते हैं तब दूसरे पुरुष समुदाय से संसर्ग रखने वालियों से सच्ची प्रीति और सरल व्यवहार की आशा करना निरा व्यर्थ है।

निरे भोलानाथ तो उनके दर्शन ही मात्र से लँगोटी तक गँवा बैठते हैं और केवल विषपान के योग्य रह जाते हैं निरे राक्षस अर्थात् इंद्रियों के गुलाम भी उनके हाथ से मोह मदिरा पी के मतवाले अर्थात् ज्ञानशून्य हो बैठते हैं। वहाँ तो केवल उन्हीं देवताओं का निर्वाह है जिनका लक्षण रामायण में "आए देव सदा स्वारथी। बचन कहहिं जन परमारथी" तथा "ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकहिं पराई विभूती" इत्यादि लिखा है। यदि ऐसे गुरुओं के निकट भी छल शिक्षा न प्राप्त कर सकिए तो आप का अभाग्य है। किंतु बतलाने वाले इनसे भी अधिक श्रेष्ठ शिक्षक बतला गए हैं जो राजसभा अर्थात्

कचहरी, दर्बार में रह के जीवनयात्रा करते हैं। अर्थात् वकील, मुखतार, झूठे गवाह, पूरे अदालतबाज इत्यादि जिनका काम ही झूठ को सच, सच को झूठ कर दिखाना है। इस इन्हीं का सेवन और देश-देशांतर की नीति संबंधी पुस्तक तथा कुटिल नीतिज्ञों के जीवनचरित्र देखते-सुनते, समझते-बूझते रहिए तो ईश्वर चाहेगा तो बड़े अच्छे पक्के पूरे छलविद्या विशारद हो जाइएगा। पर इतना भी स्मरण रखिए कि यह महासिद्धि देवाधिदेव स्वार्थदेव की दया के बिना नहीं प्राप्त होती और वे उन्हीं अनन्य भक्तों पर दया करते हैं जो ईश्वरभक्ति, धर्म्मासक्ति, लोकलज्जा, परलोकभय इत्यादि को उन पर निछावर बरंच बलिदान करके उन्हीं के हो रहते हैं, धर्म कर्म विवेचना प्रतिष्ठादि का केवल ढकोसला मात्र रखते हैं, सो भी तभी तक जब तक स्वार्थेश्वर की आराधना में बाधा न आवे। बस यही मार्ग अवलम्बन कीजिए तो देख लीजिएगा छल की कैसी महिमा है और उसकी सेवा में कैसा आनंद है।

खं० 8, सं० 12 (जुलाई, ह० सं० 8)

क्या लिखैं

यदि हम यह प्रश्न किसी दूसरे से करैं तो छुटते ही यह उत्तर मिलैगा कि तुम्हें हिंदुस्तान और इंग्लिस्तान के सहृदय लोग सुलेखक समझते हैं, फिर इसका क्या पूछना, जो चाहो लिख मारो, पढ़ने वाले प्रसन्न ही होंगे। किंतु यह उत्तर ठीक नहीं है क्योंकि लिखने का मुख्य प्रयोजन यह होता है कि जिस उद्देश्य से लिखा जाय उसकी कुछ सिद्धि देखने में आवै। सो उसके स्थान पर यहाँ जिनसे सिद्धि की आशा की जाती है उनके दर्शन ही सुलभ हैं। जहाँ श्री हरिश्चंद्र सरीखे सुकवि और सुलेखक शिरोमणि के लिखने की यह कदर है कि बीस कोटि हिंदुओं में से सौ-पचास भी ऐसे न मिले कि हरिश्चंद्र कला का उचित मूल्य देकर पढ़ तो लिया करते, करना-धरना गया भाड़ में, फिर भला वहाँ हम क्या आशा कर सकते हैं कि हमारा लिखना कभी सफल होगा।

जहाँ सफलता के आश्रयदाताओं ही का अकाल नहीं तो महा महँगी अवश्य है वहाँ सफलता की आशा कैसी? हाँ, यदि इसको सफलता मान लीजिए तो बात न्यारी है कि राजनैतिक विषयों को छेड़छाड़ करके राजपुरुषों की तो आँख में खटकते रहना, सामाजिक विषयों की चर्चा करके पुराने ढंग वाले बुड्ढों की गालियाँ सहना, सुचाल का नाम ले के मनमौजियों का बैरी बनना, और धर्म की कथा कह के नए मतवालों के साथ रंड़हाव-पुतहाव मोल लेना, प्राचीन रीति-नीति की उत्तमता दिखला के बिलायती दिमाग वालों में ओल्डफूड कहलाना इत्यादि, यदि यही सफलता है तो निष्फलता और दुष्फलता किसे कहते हैं? इसी से पूछना पड़ता है कि क्या लिखैं?

आप कहिएगा, सब झगड़े छोड़कर अपने प्रेम सिद्धांत ही के गीत क्यों नहीं गाते। पर उसके समझने वाले हम कहाँ से लावें, परमेश्वर के दर्शन भी दुर्लभ हैं, रहे सांसारिक प्रेमपात्र, उनका यह हाल

है कि शिर काट के सामने रख दीजिए और उस पर चरण स्पर्श के लिए निवेदन कीजिए तौ भी साफ इनकार अथवा बनावटी ही इकरार होगा। फिर क्या प्रेम सिद्धांत साधारण लोगों के सामने प्रकाश करने योग्य है जिनमें 'बोद्धारोमत्सरग्रस्ताः प्रभवस्मयदूषिताः अबोधोपहताश्चान्ये' का प्रत्यक्ष प्रमाण विद्यमान है।

हा प्रेमदेव ! तुम हमारे श्मशान समान सुनसान मनोमंदिर में विराजमान होकर संसार को अपनी महिमा क्या दिखा सकते हो ? हम तुम्हें कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुसमर्थ मानते हैं पर जब देखते हैं कि हमारा अपवित्र मुख तुम्हारा नाम भी लेने योग्य नहीं है, यदि बेहयाई से तुम्हारी चर्चा भी करें तो फल यह देखते हैं कि मुख से प्रेम का शब्द निकलते ही देर होती है किंतु पागल, निकम्मा, बेशर्म, बेधर्म इत्यादि की पदवी प्राप्त होते विलम्ब नहीं लगता। भला ऐसी दृशा में प्रेम का यश गाना अपनी निंदा कराना और दूसरों को पाषाण हृदयत्व के लिए उत्तेजित करना ही है कि और कुछ ? यदि यह भी अंगीकार कर लें तो उस लोकातीत अनिर्वचनीय के विषय में लिखेंहीगे क्या ?

फिर बताइए कि हम क्या लिखें ? ब्रह्मज्ञान छौंकें तो आशा है कि पाठकगण स्वयं ब्रह्म बन 2 कर कर्तव्याकर्तव्य की चिंता से मुक्त हो जायँगे। किंतु साथ ही कुटुंबादि की ममता से भी वंचित हो बैठेंगे जो अपने और पराए सुख का मूल है। यह न हुवा तो मनुष्य औ पाषाण खंड में भेद ही क्या ? फिर भला चलते-फिरते कर्तव्यपालन समर्थ प्राणी को अकर्ता अभोक्ता बना बैठने का पाप किसको होगा ? यदि "स्वार्थ समुद्धरेत्प्राज्ञ:" का मंत्र लेकर केवल हुजूरों की हाँ में हाँ मिलाया करें अथवा रुपए वालों को बात 2 में धर्ममूर्ति धर्म्मावतार बनाया करें वा भोले-भाले भलेमानसों को गीदड़भभकी दिखाया करें तो धन और खिताबों की कमी न रहेगी, किंतु हृदय नर्कमय हो जायगा, उसे क्योंकर धैर्य प्रदान करेंगे।

ऐसी 2 अनेक बातें हैं जिन पर लेखनी को कष्ट देने से न अपना काम निकलता दिखाई देता है न पराया, इसी से जब सोचते हैं तब चित्त यही कहने लगता है कि क्या लिखें ? यों कलम ले के लिखने बैठ जाते हैं तो विषय आजकल के नौकरी के उम्मीदवारों की तरह एक के ठौर अनेक हाजिर हो जाते हैं। पर जब उनकी विवेचना करते हैं तो यही कहना पड़ता है कि जिन बातों को बीसियों बार बीसियों प्रकार, हम ऐसे बीसियों लिक्खाड़, लिख चुके हैं उन्हें बार 2 क्या लिखें ? यदि मित्रों से पूछते हैं कि क्या लिखें तो जै मुँह तै बातैं सुनने में आती हैं। सब के सब अपनी 2 डफली अपना 2 राग ले बैठते हैं जिनमें यह संभावना तो दूर रही कि दूसरों को रुचि होगी, कभी 2 लिखने वाले ही का जी नहीं भरता।

फिर क्या लिखैं ? लोग कहते हैं कि लिखा-पढ़ी बनाए रखने से देश और जाति का सुधार होता है। पर हम समझते हैं यह भ्रम है। जिस देश और जाति को बड़े 2 रिषियों-मुनियों-कवियों के बड़े 2 ग्रंथ नहीं सुधार सकते उसे हम क्या सुधारेंगे ? जो लोग स्वयं सुधरे हैं उन्हें हमारे लिखने की आवश्यकता क्या है और जिन्हें सुधरने-बिगड़ने का ज्ञान ही नहीं है उनके लिए लिखना न लिखना बराबर है, फिर क्या लिखैं ? और न लिखैं तो हाथों का सनीचर कैसे उतरे ?

जब महीना आता है तब बिना लिखे मन नहीं मानता। यह जानते हैं कि हिंदी के कदरदान इतने भी नहीं हैं कि जिनकी गिनती में एक मिनट की भी देर लगे और लेटरपेपर का आधा पृष्ठ भी भरा जा सके। इसी से जो कोई उत्तम से उत्तम पुस्तक वा पत्र प्रकाश करता है वह अंत में निराश ही होता है अथवा हमारी तरह किसी सज्जन सुशील सहृदय मित्र के माथे देता है। पर क्या कीजिए, लत से लाचारी

है, उसी के पीछे जहाँ और हानि तथा कष्ट उठाने पड़ते हैं वहाँ यह चिंता भी चढ़ाई रखनी पड़ती है कि क्या लिखैं ? किंतु जब इसकी छान-बिनान करते हैं तो ऊपर लिखी हुई अड़चलें आ पड़ती हैं।

इसी से हमने सिद्धांत कर लिया है कि कुछ सोचैं न किसी से पूछैं, जब जैसी तरंग आ जाय तब तैसा लिख मारैं। उससे कोई रीझैं तो वाह 2, खीझैं तो वाह 2। किसी की बने तो बला से, बिगड़े तो बला से। हमने न दुनिया-भर के सुधार-बिगाड़ का ठेका लिया है न विश्वमोहन का मंत्र सिद्ध किया है। हाँ, लिखने का रोग जगा बैठे हैं, उसके लिए सोचा-विचारी अथवा पूछाताछी क्या कि क्या लिखैं क्या न लिखैं ?

खं० 8, सं० 12 (जुलाई, ह० सं० 8)

प्रश्नोत्तर

निराकारी उवाच—आप लोग न जाने कैसे समझदार हैं कि वेदविरुद्ध बातों को धर्म समझते हैं।

मूर्तिपूजक उत्तर देता है—हम समझदार हैं चाहे नासमझ हैं, इससे तो आपको कोई काम नहीं है पर लड़ास लगी हो तो आइए दो-दो बातें हो जायँ पर वेद का नाम लेना बृथा है।

निराकारी—यह क्यों ? वही तो धर्म के मूल हैं।

मूर्तिपूजक—केवल बातों ही से कि कभी किसी वेद की सूरत भी देखी है ? और देखी भी हो तो उसका सिद्ध करना सात जन्म में भी असंभव होगा कि उनका अर्थ तुम या तुम्हारे साथी करते हैं वही ठीक है। यदि इस झगड़े को छेड़ोगे तो सैकड़ों का खर्च और बरसों की झाँव 2 होगी तिस पर भी फैसले में गड़बड़ ही रहेगी। इससे यह विषय तो पंडितों ही के लिए रहने दो अपनी पूँजी में कुछ अक्किल हो तो उससे वाग्व्यवहार कर देखो और 'विद्ज्ञाने' धातु के अनुसार उसी का नाम चाहे वे वेदवाद भी रख लेना क्योंकि वेद में बुद्धि के विरुद्ध कोई बात नहीं लिखी।

निरा—इस बात को मानते हो ?

मूर्ति—बेशक ! हम निश्चय रखते हैं कि हमारे वेदशास्त्र पुराणादि में बुद्धि के विरुद्ध कुछ भी नहीं लिखा पर पढ़ने और समझने वाला होना चाहिए। उसकी सामर्थ्य हर एक के लिए दाल-भात का कौर नहीं है। इसी से बिहतर होगा कि पुस्तकों का नाम न लेकर केवल अपनी समझ से काम लीजिए और इसकी चर्चा भी जाने दीजिए कि 'अमुक बात को मानते हो या नहीं' क्योंकि हमारे मानने न मानने के आप इजारेदार नहीं हैं। वह हमारा और हमारे हृदयस्थ देव का निज संबंध है और दो व्यक्तियों के अंतर्गत निज संबंध में हस्तक्षेप करना नीचों का काम है। इससे केवल मौखिकवाद कर लीजिए, हमारे मंतव्यामंतव्य से तुम्हें क्या प्रयोजन ?

निरा—अच्छा बाबा सो सही, पर यह तौ बतलाओगे कि वेदविरुद्ध काम करना अच्छा है या बुरा।

मूर्ति—जिन बातों की वेद ने आज्ञा दी है वह जितनी निभ सकें अच्छा ही है पर उसके लिए भाग्य और दशा की आवश्यकता है तथा जिनका निषेध किया है उनसे बचने की सामर्थ्य होने पर भी न बचना निरी नालायकी है। किंतु इस विषय पर कोरी बकवाद करना पागलपन है। क्योंकि हम और ऐसे साधारण जीव किस बिरते पर कह सकते हैं कि सब कुछ वेदानुकूल ही करेंगे—चारों वेद सपने में भी देखे नहीं, देखे भी होते तो कोट-बूट पहिनने, साबुन लगाने, ब्राह्मण क्षत्री होकर नौकरी के लिए मारे 2 फिरने की आज्ञा ढूँढ़ निकालना संभव न था। इसी से कहते हैं वेद 2 न चिल्लाइए मतलब की बातें कीजिए।

निरा—साहब यह हैं व्यवहार की बातें, इनमें जमाने की पैरवी किए बिना गुजारा नहीं चलता पर धर्म के काम वेद के विरुद्ध न करने चाहिए।

मूर्ति—वाह ! यह एक ही कही, हजरत, जमाना आपको अपनी चाल चलने से रोक नहीं सकता। आप ही अपनी रुचि बिगाड़ डालें तो दूसरी बात है नहीं तो पगड़ी अंगरखा पहिनने वालों को कोई जमाने से निकाल नहीं देता। देशी वस्तु काम में लाने वाले बेइज्जत नहीं समझे जाते। हिंदी और संस्कृत सीखने वाले तथा बाप-दादों का धंधा करने वाले भूखों नहीं मर जाते। बल्कि कोई परीक्षा कर देखे तो जान जायगा कि ऐसी चाल से अधिक सुभीता रहता है। लेकिन उनसे लाचारी है जो बाबू बनने की लत के पीछे अपनी भाषा, भोजन, भेष, भाव, भ्रातृत्व की रक्षा का ध्यान नहीं रखते, रुपया अपने हाथों परदेश में फेंकते हैं, बाप-दादों और जाति के श्रेष्ठ पुरुषों का उचित आदर नहीं करते बरंच उन्हें मूर्ख और पोप कहने तक में नहीं शरमाते। पर तुर्रा यह है कि इस करतूत पर भी बिना पढ़े वेद और धर्म के तत्ववेत्ता ही नहीं देश-भर के गुरु बनने पर मरे जाते हैं। इतना भी नहीं समझते कि जिस विषय का अपने को पूरा ज्ञान न हो उसमें चायँ-चायँ करना झख मारना है और अपने दोषों को न देखकर दूसरों को दोषी ठहराने की चेष्टा करना निरी निर्लज्जता है।

निरा—यह तो ठीक कहते हो पर यह विषय व्यवहार का है और हम धर्म की चर्चा किया चाहते थे।

मूर्ति—व्यवहार और धर्म में आप भेद क्या समझते हैं ? हमारी समझ में तो बुद्धि और बुद्धिमानों के द्वारा अनुमोदित व्यवहार ही का नाम धर्म है।

निरा—सच तो यों ही है पर मोटी भाषा में व्यवहार उन कामों को कहते हैं जिनका संबंध केवल संसार के साथ होता है, जैसे खाना-पीना, रुजगार करना आदि, और धर्म उन कामों का नाम है जो आत्मा, ईश्वर तथा परलोक इत्यादि से संबंध रखते हैं जैसे संध्या, पूजा, दान आदि। हम इन्हीं के विषय में बातचीत करना चाहते हैं।

मूर्ति—यह आपकी इच्छा, पर क्या आप कह सकते हैं कि संध्या इत्यादि कर्म संसार से संबंध नहीं रखते ? जबकि उपास्य देव ही विश्व के स्रष्टा और स्वामी हैं, उपासक स्वयं संसारी हैं, स्तुति प्रार्थनादि में भी सांसारिक शब्दों का प्रयोग, संसार संबंधिनी वस्तुओं एवं व्यक्तियों की याचनादि की जाती है तो उक्त कर्म्मों को कोई क्योंकर कह सकता है कि संसार से संबंध नहीं है ?

निरा—तो भी ईश्वरीय संबंध में तो संसारी पदार्थों से बचे ही रहना चाहिए न ?

मूर्ति—किस पदार्थ से बचिएगा। संसार में तो जो कुछ है सब ईश्वर ही का है और सबके मध्य वही व्याप्त है। अतः अपना सब कुछ उसी को अर्पण करना तथा उसी का प्रसाद समझना चाहिए कि

उससे बचना चाहिए ? और कहाँ तक बचिएगा, शरीर से उसकी आज्ञा पालन न कीजिएगा, मन से उसका स्मरण न कीजिएगा, वचन से उसकी स्तुति गाइएगा तो आस्तिका ही कहाँ रहेगी और यह सब तन, मन, वचन संसारी ही हैं कि और कुछ हैं ?

निरा—यह तो सभी आस्तिक करते हैं पर हमारा मतलब यह है कि ईश्वर को संसारी बनाना उचित नहीं ।

मूर्ति—संसारी क्यों बनाना उचित नहीं ? पिता, माता, गुरु, राजा यह सब संसारियों के विशेषण हैं और यही उनके लिए प्रयुक्त करने पड़ते हैं फिर उसे संरारी बनाए बिना कैरो निर्वाह हो सकता है ? संसार का और उसका तो व्याप्य व्यापकादि संबंध ही ठहरा अतः यदि उसे अपनी समझ तथा श्रद्धा के अनुसार किसी संसारी श्रेष्ठ विशेषण का विशेष्य उहरा लें तो क्या बुराई करते हैं ?

निरा—आप श्रेष्ठ ही विशेषण का विशेष्य तो नहीं बनाते बरंच उसे पाषाण धात्वादि का पुतला ठहराते हैं यह अनुचित नहीं तो क्या है ?

जरा पढ़ लीजिए

गत दो मास के मध्य हमारे मित्र रोगराज ने शुभागमन किया था । उन्हीं के आगत-स्वागत में हमें लिखने-पढ़ने का अवकाश नहीं मिला । क्या उलहने के पत्र भेजने वाले रसिकगण क्षमा करेंगे ?

हमारी पुस्तकों तथा 'ब्राह्मण' पत्र के दाता ग्रहीता खड्गविलास प्रेस बाँकीपुर के स्वामी श्री महाराजकुमार बाबू रामदीन सिंह महोदय हैं । हमने जो कुछ लिखा है, लिखते हैं, लिखेंगे, उसके अधिकारी वही हैं अथवा वह जिसे आज्ञा दे वह सही, फिर हम से लोग न जाने क्या जानकर एतद्विषयक पत्र व्यवहार करते हैं । हम इस विज्ञापन द्वारा सब साहबों को सूचना दिए देते हैं कि जिन्हें हमारे लेख देखने की साध हो अथवा छापने की इच्छा हो उन्हें बाँकीपुर के पते पर चिट्ठी-पत्री भेजना चाहिए, हम जवाब-अवाब न देंगे बल्कि जवाबी कार्ड या टिकट हजम कर जायँगे स¨म¨झे० ?

गत वर्ष किसी नम्बर में हमने अपने मित्रों को सलाह दी थी कि देश की दशा सुधारने के लिए ब्राह्मण जाति का हौसला बढ़ाना मुख्य कर्तव्य है । अतः देशभक्तों को चाहिए कि ब्राह्मणों के साथ पत्र व्यवहार तथा वार्तालाप के समय—श्रीभन्महर्षिकुमार—के पद का प्रयोग किया करें । बड़े आनंद की बात है कि हमारी यह सलाह बहुत से मित्रों ने पसंद की है बरंच सहयोगी भारतप्रताप में इस शीर्षक का एक उत्तम लेख भी एक महाशय कई मास से दे रहे हैं और अपना नाम प्रकाशित करने के स्थान पर केवल यही पदवी प्रकाश करते हैं । यदि कुछ लोग और भी इधर ध्यान दें तो बहुत शीघ्र यह रीति निकल सकती है जिसका फल भी थोड़े ही दिन में देख पड़ेगा । संभव है अधिक न होगा तो यही कहाँ का थोड़ा है कि इस जाति के पढ़े-लिखों को खुलाखुली आयुक्त काम करते कुछ लज्जा आवेगी और पश्चिमी सभ्य तथा नए मतवालों का निंदा करने में मुँह न पड़ेगा । इधर हमारे कई मित्रों की राय है कि जिनका

गोत्र प्रबरादि विदित न हों उन्हें तो केवल महर्षिकुमार ही लिखना ठीक है और आगे के लिए पूछ लेना उचित है किंतु जिनका ज्ञात है उनके नाम के पहिले उन महर्षि का नाम भी लिखना चाहिए जिनके वे वंशज हों यथा—श्रीमन्महर्षि कश्यपकुमार श्री० म०म० भरद्वाजकुमार—इत्यादि ।

ऐसा करने से समय-समय पर महर्षियों के नाम-गुणादि का स्मरण भी होता रहेगा । यह राय हमें बहुत पसंद है अस्मात् हम आगे से इसके अनुसार बर्ताव करेंगे । हमारे मित्रगण हमें अपने-अपने आदि पुरुष का पवित्र नाम बतला दें तो बड़ी कृपा होगी । यदि हमसे पूछना हो तो सुन रखिए—हम हैं "श्रीमन्महर्षि कात्यायनकुमार" अथवा हमारे सबसे बड़े बाबा विश्वामित्र के नाम से प्रीति हो तो लिखिए "श्रीमन्महर्षि कौशिककुमार ।"

खं० 9, सं० 4 (नवंबर ह० सं० 8)

झगड़ालू पंथ

विचारशीलों से छिपा नहीं है कि भारतवर्ष के लिए त्रिकाल में धर्म ही सब कुछ है । क्या शारीरिक क्या सामाजिक क्या आत्मिक क्या राजनीतिक क्या लौकिक क्या पारलौकिक सभी प्रकार की समुन्नति का आधार धर्म ही है । इस बात को यदि पश्चिमीय सभ्यता के सभ्य न समझें तो उनकी समझ का दोष है नहीं तो हम प्रणपूर्वक कहते हैं कि जो कोई दृढ़ता के साथ हमारे सनातनधर्म का कुछ दिन पूर्ण रीति से साधन करे व प्रत्यक्ष देख लेगा कि सभी भाँति के सुख और सुभीते सहजतया प्राप्त होते हैं । पर यतः वह परमात्मा का स्वरूप है इससे उसका ठीक 2 समस्त भेद जान लेना सहज नहीं है इसी से बुद्धिमानों ने यह सुविधामय सिद्धांत स्थापन कर लिया है कि 'महाजनो येन गतः स पंथा' ।

यदि विचार कर देखिए तो निश्चय हो जायगा कि हम लोगों के पिता-पितामहादि जिस रीति-नीति को असंकुचित भाव से मानते रहे हैं उसका निकास अवश्यमेव किसी न किसी महर्षि के मस्तिष्क से हुआ है और उसका पूर्ण ज्ञान न प्राप्त कर सकने पर भी यदि हम उसे आँखें मींचे हुए मानते रहें तो प्रत्यक्षतया मोटी बुद्धि से चाहे कोई फल न भी देख पड़े अथवा काल-कर्मादि के व्युतिक्रम से कदाचित् कुछ कष्ट वा हानि भी जान पड़े किंतु परिणाम अच्छा ही होता है । इसी से इन गिरे दिनों में भी हमारे देश के तृतीयांश से अधिक निवासी जी से धर्म का आदर करते हैं और समय पड़ने पर मुख से उसकी स्तुति ही करते हैं । कर्म के द्वारा उसका पालन कर सकना भाग्य और दशा के आधीन है । यदि धर्म का पूरा 2 विवरण कोई लिखा चाहे तो कदाचित् सहस्रों वर्ष में भी इतिश्री न कर सके क्योंकि यह विषय ही ऐसा है कि जितने विस्तार के साथ वर्णित हो उतनी ही अधिक बड़ाई देख पड़ेगी । इससे हम केवल साधारण दृष्टि से इतना मात्र उसका लक्षण मानते हैं कि परमेश्वर को अपने प्रेम और प्रतिष्ठा का आधार मानकर अपने लोक-परलोक संबंधी कल्याण के निमित्त उसका भजन-यजन करते रहना ही धर्म का

साधारण रूप है । पर यस्मात् उसका जानना और मानना भी सहज नहीं है ।

अतः हमारे पूर्वजों ने उसके लिए पाँच मार्ग नियत कर रक्खे हैं क्योंकि सृष्टि में कितने जड़-चेतन पदार्थ हैं उन सबकी बाह्यिक एवं आंतरिक रचना पाँच तत्व अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश से हुई है । इन्हीं तत्वों के अंशों के तारतम्य के कारण प्रत्येक पुरुष की प्रकृति एवं रुचि न्यारी 2 हुआ करती है । उसी के सूक्ष्म विचारानुसार प्राचीन पूज्यों ने परमात्मा का जीवित संबंध स्थायी करने को उनके नाम, रूप, गुण, स्वभावादि यद्यपि अनंत है तथापि मानने वालों के स्वभाव की गति पाँच प्रकार की होने के कारण पंचोपासना की रीति नियत कर रक्खी है । उनके उपासकों के यहाँ पूज्य मूर्तियाँ एवं पूजादि की पद्धति भिन्न-सी दिखलाई देने पर भी वास्तव में एक है । शास्त्रों में खुला हुआ लिखा है कि शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य अथच गणेश के भेद समझना महापाप और बज्र मूर्खता है ।

यदि व्याकरण की रीति से देखिए तौ भी यह कहने का साहस पड़ना असंभव होगा कि कल्याण-स्वरूप सर्वसमुदायाधिपति इत्यादि एक ही अनंत विशेषणविशिष्ट के विशेषण नहीं हैं और तनिक भी विचारशक्ति से काम लीजिए तो यह सिद्ध करना महा कठिन होगा कि उसका स्वरूप तथा पूजन प्रकार केवल ऐसा ही है यह ऐसा नहीं हो सकता । यदि मनोदृष्टि पक्षपात के रोग से दूषित न हो और सहृदयता के अंजन से अंजित की जाय तो प्रत्यक्ष देख पड़ेगा कि शैव, बैश्नव, शाक्त, सौर और गाणपत्य लोगों के यहाँ ईश्वर की महिमा तथा जीवन के वास्तविक कल्याण के सभी मनोविनोद एवं शांतिकारक समान पुष्ककला के साथ विद्यमान हैं तथा प्रत्येक सम्प्रदाय की अनेक शाखाओं में से एक 2 के मध्य उपास्यदेव की महान महिमा और उपासक के आनंद प्राप्ति की रीति वह 2 देखने में आती हैं कि साधारण बुद्धि को समझने की सामर्थ्य नहीं । किंतु कुतर्क का सहारा छोड़कर यदि कोई एक का भी सच्चा आश्रित हो बैठे उसके लिए शांति-लाभ में किसी भाँति की त्रुटि नहीं रह जाती । यद्यपि प्रेमियों और ज्ञानियों के लिए किसी नियम के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं होती, उनके निमित्त परमानंद का मार्ग सभी ओर खुला रहता है, किंतु साधारण जनसमूह के पक्ष में हम मुक्त कंठ से कहेंगे कि उपर्युक्त पंचसंप्रदाय में से किसी न किसी का आश्रय लिए बिना उद्धार की आशा दुराशा मात्र है । इनमें से यद्यपि कहीं 2 किसी 2 संप्रदाय के किसी 2 अंश पर कुछ 2 आक्षेप भी देखने में आते हैं पर उनका अभिप्राय केवल अनन्यता का दृढ़ीकरण है अन्यों की निंदा कदापि नहीं है ।

इसी कारण सदा से सब मतों के साधु प्रकृति वाले लोग केवल अपने इष्टदेव को सर्वेश्वर तथा दूसरों को उसके अभिन्न मित्रों की नाईं मानते हैं और अपने लिए अपनी दूसरों को उनकी ही रीति-नीति का अवलंबन श्रेयस्कर जानते हैं । यों लड़ने के लती अपने ही सहधर्मियों की बात 2 पर मुँह बिचका के कलह के लिए सन्नद्ध हों तो उनकी इच्छा को कौन रोक सकता है पर किसी मत का कोई समझदार सच्चे जी से यह नहीं कह सकता कि हमारे संप्रदायियों को छोड़ के और सबकी सभी बातें वस्तुतः बुरी हैं ।

अभी बीस-पचीस वर्ष से अधिक नहीं बीते कि उस समय तक जब कभी शैव शाक्तादि के मध्य धर्म्मविषयक वादानुवाद उपस्थित होता था तो परस्पर के मनबहलाव और अपनी विद्या-बुद्धि की प्रकर्षता के द्वारा अपने मार्ग का कोई अंश अत्युत्तम सिद्ध करके वादी को निरुत्तर कर देने की चेष्टा के अतिरिक्त आपस के विरोध का नाम न आने पाता था ।

पूर्वकाल के इतिहास में भी द्वेष केवल बैदिक और बौद्धों में पाया जाता है सो भी इस कारण कि

बुध भगवान के मतानुयायी ईश्वर और वेद को नहीं मानते अथच किसी काल में समस्त भारत पर आधिपत्य जमाने के लिए उद्योगवान हुए थे। किंतु पंचोपासक मात्र एक-दूसरे को अपने साथ कुछ 2 भिन्नता रखने पर भी अपना भाई ही जानते थे क्योंकि सभी सबके धर्म का मूल वेद शास्त्र एवं विश्वास का आधार ईश्वर, वेद, परलोक तथा प्रतिष्ठा के पात्र देवता, पितर, गऊ, ब्राह्मण, तीर्थ, व्रतादि को समझते थे।

किसी काल में किसी देश के सभी लोग असाधारण विद्याबुद्धिविशिष्ट नहीं होते और आर्य्यभूमि भी इस नियम से न्यारी नहीं है। किंतु जैसे सब कहीं के कुछ निवासी कुछ बातों को अपने कल्याण का हेतु मानते हैं वैसे ही यहाँ वाले भी मानते हैं कि जिन बातों को अपने बाप-दादे अच्छा मानते रहे हैं वही हमारे पक्ष में अच्छी हैं और विचार कर देखिए तो वास्तव में उनके द्वारा हमारी भलाई ही होती भी है। पर इस भलाई का सत्यानाश करने की मनसा से भारत के दुर्भाग्य ने कुछ दिन से एक झगड़ालू पंथ निकाल दिया है जिसके पथिकगण सनातन मार्ग वालों से छेड़ के झगड़ा मोल लेना और प्रत्येक मत के मान्य पुरुषों तथा श्रद्धेय रीति-नीतियों को बुरा ठहराना ही अपना परम धर्म समझते हैं।

यद्यपि मुँह से एकता ही के गीत गाया करते हैं पर करतूतों के द्वारा पिता, पुत्र, भाई-भाई तक में फूट फैलाने का ठान ठानते हैं। जीवित माता-पितादि को सेवा करके प्रसन्न रखना अच्छा बतलाते हैं पर जिन बातों को जननी, जनक बाल्यावस्था से लोक-परलोक का सर्वस्व मानते हैं तो कौन कह सकता है कि सुन 2 कर माँ-बाप 'पुलक प्रफुल्लित पूरित गात' होकर रोम 2 से न असीसते होंगे। यदि यह लोग खुल्लमखुल्ला विधर्मी होते तौ भी कोई बड़ी हानि न करते क्योंकि सब कोई यह समझ कर दूर रहता कि अब हमारा इनसे कोई संबंध नहीं रहा ! पर बड़े खेद का स्थल यह है कि हमारे ही थोड़े-से धर्मग्रंथों और मान्य पुरुषों को मानने वाले यह भी बनते हैं इसी से 'गुड़ भरा हँसिया न निगलते बने न उगलते बने' घैना हो रही है।

यदि अपने विचार अपने ही सहवर्तियों में बनाए रक्खें तो भी यह समझ लिया जाय कि जहाँ हिंदुओं में और अनेक मत हैं वहाँ एक यह भी सही। पर अनर्थ तो यही है कि यह अल्पविश्वासियों के बहकाने वाले बैठे-बिठाए शांतिभंग का उद्योग करते रहते हैं।

यह नए मत वाले कहते हैं कि देश-भर का एक मत होना चाहिए पर यह नहीं समझते कि जब जिसने ऐसी चेष्टा की है तब मतों के मध्य और एक संख्या बढ़ा ही दी है। सबका एक हो जाना तो 'न भूतो न भविष्यति'। क्योंकि एक तो लोगों की रुचि पृथक 2 रीति की हुआ करती है इससे कभी ऐसा हो ही नहीं सकता बरंच इसी बिचार से दूरदर्शी जगद्‌हितैषी महर्षियों ने पात्रानुरूप उपदेश किए हैं। नहीं तो जैसे एक ही औषधि से सब प्रकार के रोगियों का उपचार असंभव है वैसे ही एक ही पद्धति से सब प्रकृति के जीवों का कल्याण असाध्य होता। दूसरे, ईश्वर न करे जो कहीं सब नवपंथी हो जायँ तो भारत के गारत होने में बिलंब क्या लगेगा ? देव प्रतिमाओं, ऋषिवंशजों, पवित्र स्थानों, पतिव्रताओं, सद्ग्रंथों का महत्व एक दिन में लुप्त हो जाय, हिंदू जाति और हिंदुस्तान का नाम भी न रहे।

कथन मात्र के लिए ईश्वर का शब्द शेष रहे, सो भी शुष्कवादी, अरसिक, कलहप्रिय समुदाय वालों के नियमों से जकड़ा हुआ न अपने प्रेमियों की रुचि रखने में योग्य न पापियों का उद्धार करने में समर्थ न प्रत्येक भाषा के प्रत्येक भाव समझने में विज्ञ ! क्योंकि आप रूपों की समझ में देश का उपकार ऐसी बनगैली बातों पर निर्भर है ! हम पूछते हैं कि जिन लक्षणों से सहस्रों नगरों की शोभा तथा लक्षों

देशभाइयों की आजीविका एक क्षण में नष्ट हो सकती है वही यदि धर्म के अंग वेद के उपदेश देश के उद्धार का उपाय है तो फिर पाप की जड़ लबेद की लीक और मातृभूमि के सत्यानाश की नेंव किसको कहना चाहिए ? पर झगड़ालू पंथ वालों की उलटी समझ को क्या कहिए जो संस्कृत का साहित्य सीखे बिना ही वेद शास्त्र का तत्व सिखलाने वाले बने फिरते हैं और देशभक्ति का नाम ले-लेकर कुतर्कों और कुवाक्यों का प्रचार करने बरंच कभी 2 अदालत—नहीं 2 लाठी तक लड़ने में संकुचित नहीं होते। परमेश्वर इनकी बुद्धि सुधारे अथवा देशभाई इन्हें जातीय दंड देने में बद्ध परिकर हों तभी कुछ भलाई हो सकती है नहीं तो यह झगड़ालू पंथ एक न एक दिन बुरा रंग लावैगा।

खं० 9, सं० 4 (नवंबर ह० सं० 8)

मना

यह मना सब के मुँह में विराजमान है। नहीं तुम्हीं बताओ कि फलाने मत अथवा जाति में ऐसा शब्द नहीं सुना। हम तो यही जानते हैं कि यह सब ठौर है। कहो गिना चलें। मुसलमानों के यहाँ कई बातों का मना है—लाहौलवलाकूबत। वाह ! खूब कही, नमअलूम ये हिंदू क्यों अलफ़ाजि अरबिया को खराब करे डालते हैं। लफ्ज है मनूअ, आप कहते हैं मना। अच्छा लो भई, माफ करो, हमें तुम्हारी तरह बमन करना नहीं आता। क्या मजे में लिखे जाते थे, आ के बिघ्न डाल दिया। और सुनो, ईसाइयों के यहाँ शराब पीना मना है, परस्त्रीगमन मना है। लो यारो, सब मतों की आज्ञा वा निषेध गिनाएँगे तो होगी देर और तुम्हारा बहुमूल्य समय यों ही जायगा।

भक्तों के मुख में 'हरि भज 2 हरि भज मोरे मना, जो तू चाहे सुख अपना', कवियों में गोस्वामी तुलसीदासजी ने अंत में मना ही की शरण ली है—'पाई न गति केहि पतितपावन राम भज सुन सठ मना'। जो कभी कुमारगियों के साथ बातचीत सुनी-सुनाई होगी (ईश्वर न करे आप कुसंगत में रहते हों) तो सुना होगा—'रामातु यार्क मना है' ?[1] उनके यहाँ वाल्मीकि जी इसी मना के प्रताप से तर गए। जगत् में यावत् पदार्थ हैं सब का मना (नाम) होता है। बिना मना के किसी वस्तु का वर्णन ही नहीं कर सकते। यदि तौरेत अँगरेजी में पढ़ा होगा तो जब इसराइलियों को भूख लगी थी तब स्वर्ग से मना वर्षा था। इसी मना ने उनके प्राण बचाए थे।

रुई की तौल लगी है, सेठ जी पगड़ी बाँधे पेंचवाँ पी रहे हैं—"अरे रमशैय्या मन्ना, उठें तो कोई णाहि मालूम पड़ैं छै शब के शवणूँ रोटी की पड़ैं छैं। परशों कोई अट्ठेणहि कै रुईणूँ बाँट लातो एकदु मना हो तो क्यूँ इतणीं पशेरियाँणीं जुरुरत होतीं।" सुनो कचहरियों में 'मनादी कर दी जाय कि

1. तुम्हारा क्या नाम है ? (बदमाश आपस में प्रायः वाक्य के अंक उलट के बातचीत करते हैं जिससे कोई समझ न जावे)।

'फुलाँ 2 की डिक्री में मनाही नहीं हो सकती' । जरा सँभल के पढ़ना, तुम्हारे मनाने में भी घंटों लगते हैं । जानी ! तू क्यों इतना अनमना होती है ? तेरी सुकड़ी हुई नाक, लाल आँखें, फड़कते होठों से "नहीं जी !" सुन के प्रेमशास्त्र में न मानना भी तो मना है । रज्जा यह कौन बात है, देखो हँसो बोलो, भला ले क्यों पीठ दे के हमें भी उदास करे देते हो । यह कौन बात है, खैर ।

हमारे भारतवासियों को आजकल देशहित के किसी सिद्धांत पर चलना मना है । केवल एक हरे-भरे रमना में लालाजी को टहलना और आमना जाना ही कामना है । इसके अतिरिक्त किसी अन्य सद्गुण की भामना नहीं । दुर्भाग्य का सामना करने का कोई उपाय नहीं । देखिए इस हत्यारे रामना को कब राम नाश करता है । देख लाला, हमारे दामना, भाँग बूटी के लिए तुमई सों कछु पामना है, तो फिर बोल न जै जमना मैया की, जै जै !

खं० 9, सं० 5 (दिसंबर ह० सं० 9)

अपव्यय

अपव्यय कहते हैं नियमबिरुद्ध वा बुरी रीति से रुपया उठाने को । यह कार्य सब देश के बुद्धिमान बुरा बतलाते हैं और बिचार के देखो तो है भी बुरा ही, क्योंकि इसके परिणाम में कर्ता और उसके संबंधियों को कष्ट एवं हानि अवश्य होती है । यद्यपि कंजूसी भी इसी के बराबर दूषित गिनी जाती है पर उसके द्वारा मनुष्य केवल दुर्नाम ही का पात्र बनता है, दुर्गति से यदि चाहे तो अपने को तथा आश्रितों को बचाने में असमर्थ नहीं रहता । क्योंकि उसकी पूँजी उसके पास रहती है, उससे काम लेना वा न लेना उसके हाथ है । पर अपव्ययी तो धन संबंधिनी शक्ति से हीन होकर अंत में आवश्यक कर्तव्यों की पूर्ति के काम ही का नहीं रहता ।

यों तो परिमाण का उल्लंघन करना सभी प्रकार से हानि अथच कष्ट का कारण होता है, यहाँ तक कि शास्त्राध्ययन, धनोपार्जन, धर्मसाधनादि कार्य जो सभी के मत से परमोत्तम हैं वे भी यदि परिमिति से अधिक किए जायँ तो स्वास्थ्य, स्फूर्ति, स्वातंत्र्य आदि को नष्ट कर देते हैं फिर दूषणीय कर्मों का तो कहना ही क्या है । जो धन कृषि, बाणिज्य, शिल्प, सेवादि के द्वारा बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है, जिसके बिना संसार का कोई भी व्यवहार नहीं सिद्ध होता, उसको तुच्छ समझ के व्यर्थ नष्ट कर देना वा हाथ में रखे हुए उससे उचित काम न लेना बुद्धि के साथ बैर बाँधना है । बरंच घोर पाप कहें तो भी अयुक्त न होगा । क्योंकि हमारे पूर्वजों ने लक्ष्मी अर्थात् धन को भगवान की स्त्री कहा है ।

इसका अभिप्राय यह है कि घर के भीतर जितना स्वत्व और जितनी प्रतिष्ठा पुरुषों के उपरांत स्त्रियों की होती है उतनी ही संसारसदन में विश्वव्यापी विश्वेश्वर के उपरांत द्रव्य की है । बरंच भगवान के अस्तित्व में नास्तिकों को नाना प्रकार के संदेह रहते हैं, आस्तिकों से भी भजन-यजन का उचित निर्बाह

बहुत थोड़ा होता है किंतु लक्ष्मी देवी की महिमा प्रत्यक्ष है। बालक, वृद्ध, मूर्ख, विद्वान सभी देखते रहते हैं कि यह न हों तो जीवन-यात्रा 'पग-पग पर्बत' हो जाय, धर्म-कर्म इज्जत, भलमंसी तो दूर रही भोजन-वस्त्र तक के लाले पड़ जायँ जिनसे साँस चलने की आस है।

इसी से सभी लोग इनकी प्राप्ति के लिये सभी कुछ करने में सन्नद्ध रहते हैं। क्योंकि मतमतांतर के झगड़ालू मुख से स्वीकार करें वा न करें पर मन में सभी जानते हैं कि जगत का कर्ता-धर्ता, हर्ता-भर्ता ईश्वर यदि कोई है तो लक्ष्मी भी उसकी एक महाशक्ति ही है, जिसे दूसरे शब्दों में स्त्री कहना भी साहित्यशास्त्र के विरुद्ध नहीं है। औ स्त्री को पुरुष का आधा अंग वा परम सहायिनी कहते हैं। इसी से रूपराज (रुपया) भी कभी 2 कहीं 2 नगदनारायण वा नकदहूलाशरीफ कहलाते हैं। इस रीति से जो मनुष्य धन के साथ कुव्यवहार करता है वह मानो जगत के स्वामी की अर्द्धांगी वा साक्षात उसी के साथ बुरा बर्ताव करके अपराधी बनता है और ऐसे बुद्धिशत्रु को यदि हम पापी कहें तो क्या अनुचित है। औ न कहें तौ भी अपने किए का फल तौ आज नहीं कल कल नहीं परसों, परसों नहीं बरसों पीछे सही उसे भोगना ही पड़ेगा। क्योंकि यह बात बच्चे तक जानते हैं कि पाप करने से दुःख मिलता है इससे उससे बचना चाहिए।

यहाँ पर यदि कोई पूछे कि कैसे बचें तो हम कहेंगे कि पहिले पाप का भेद समझ लीजिए फिर बचने की युक्ति आप ही समझ में आ जायगी। धन के संबंध में प्राचीनों के मत से तीन प्रकार का पाप होता है—1. अन्याय से उपार्जन करना, 2. कंजूसी करना, 3. अपव्यय करना। इनमें पहिला पाप तो केवल कहने मात्र के लिये है नहीं तो न्याय-अन्याय इस शताब्दी में विचारता ही कौन है ? जब आप किसी से बहुत-सा रुपया कमा लेंगे, जब जो सामने आवैगा धर्ममूर्ति, धर्म्मावतार ही कहता हुआ आवैगा, नहीं तो भुनाए क्या लेता है ? यदि कोई सच्चाई का पुतला वा स्पष्टवक्ता कहलाने की बैलच्छि में आ के आप पर पाप के शब्द का प्रयोग कर बैठे तो मानहानि का अभियोग उपस्थित करके उसकी लेव-देव कर डालिएगा। क्योंकि आप हैं लक्ष्मीवान और लक्ष्मी है आदिशक्ति, फिर भला आदिशक्ति को किसकी शक्ति है जो पाप लगावै ? आपने चाहे लाख गरीबों की जमा हजम की हो पर हम आपको गरीबपर्वर ही कहेंगे क्योंकि हम गरीब हैं और पर्वरिश चाहते हैं जिसकी प्राप्ति का यही मंत्र है।

आप किसी प्रकार रुपया जमा कर लीजिए आपको पापी कहै वह आप ही पापी है, क्योंकि जिनका धन आप ने हथिआया है वह अवश्य आलस्य वा अज्ञान के कारण अपना रुपया बचाने के योग्य न थे, नहीं तो आपके बाप भी उन्हें खौखीन न कर सकते। इससे बोध होता है कि उनके पास द्रव्य का बना रहना ईश्वर ही को अभिप्रेत न था। फिर भला आपने परमात्मा की इच्छा पूर्ण की है वा पाप किया है ? जिनको आपने शारीरिक सुख का सुभीता दिया है वा मीठी-मीठी बातों से मोहित कर लिया है उन्हीं का रुपया हस्तगत किया है और सुखलोलुपों तथा मोहग्रस्तों के पास धन रहता तो अनर्थ ही करता, उससे आपने उन्हें बचा लिया। मनुष्य कुछ खो के सीखता है, यदि खोने वाले मनुष्य होंगे तो आपकी दया से अपना भला-बुरा सोचना सीख जायँगे। फिर आपने बुराई क्या की जो उन्हें सीखने के योग्य बना दिया।

यदि पुराने ढंग के लोगों की बातों से अपने पूर्वकृत कर्मों पर ग्लानि आती हो तो प्रत्येक पाप का प्रायश्चित भी हो सकता है। उपार्जित द्रव्य से अनेक उत्तम कार्य ऐसे हो सकते हैं जो पूर्वकृत से कहीं उत्तम हैं। सिद्धांत यह कि धन संचय में छप्पन कोठे जी दौड़ना वाहियात है, लाख बात की यही एक

बात है कि अपने देश, जाति, बंधु-बांधव तथा अपने ऊपर बिश्वास रखने वालों को बचा के और किसी की प्राणहानि, मानहानि, सर्वसहानि न करके जैसे बने वैसे रुपया इकट्ठा करना पुरुष का कर्तव्य है और अपने साथ दुष्टता किया चाहे उससे बचने वा बदला लेने में जो बन पड़े वही कर उठाना बुद्धिमानी है ।

रहा दूसरा पाप, वह भी वहीं तक पाप है जहाँ तक सामर्थ्य होते हुए अपनी वा अपने लोगों की उचित आवश्यकता पूरित न की जाय । इतना करने पर भी यदि कोई कंजूस मक्खीचूस बनावै तो उसे निरा हूस समझना चाहिए । खाने-पहिनने , खिलाने-पहिनाने में जब आप कष्ट सहना-सहाना बचाए रहते हैं तो बस घर के धान पयार में मिलाना व्यर्थ है । हाँ, तीसरा पाप निश्चय ऐसा है जो धनहीन, तनक्षीण, मनमलीन करके जीवित को नर्कमय बना देता है । पर उसका समझना भी साधारण समझ वालों का काम नहीं है । हमने माना कि आजकल काल-कर्मादि की गति से हमारी दशा बहुत शोचनीय हो रही है पर यह भी क्या बात है कि जिसे देखो वह हमारा शिक्षादाता ही बनता आता है । यहाँ तक कि जिन विषयों में हम आज भी दूसरों को शिक्षा दे सकते हैं उनमें भी लोग हमारे शिक्षक बनने को मरे जाते हैं ।

यह भी यदि विदेशियों और विधर्मियों की ओर से होता तो कोई आक्षेप का स्थल न था क्योंकि संसार के सभी लोग अपनी रीति-नीति, चाल-ढाल को दूसरों से श्रेष्ठ समझते हैं और दूसरों में से जिसके धर्म-कर्म, व्यवहार-बर्ताव आदि का भेद नहीं जानते उसे अपने रंग-ढंग का उपदेश करके जो केवल स्वार्थसाधन का ढंचर डाले तो नीतिकौशल है अथवा यदि निरानिरी उपदेश पात्रों ही का भला बिचारें (यह बहुधा देखने में नहीं आता) तो उनकी सज्जनता है । यह दोनों रीतियाँ आक्षेप के योग्य नहीं हैं पर हँसी तब आती है जब कोई 'मेरे घर से आग लाई नाम धरा बंसदर' का उदाहरण बनके हमारा तत्व तनिक भी न जानकर केवल अपनी परदत्त पूँजी पर हमारा उपदेष्टा बनना चाहता है ।

जिनके मतों को उपजे अभी बीस वर्ष भी नहीं हुए, जिनके समुदाय में संस्कृत का पूर्ण विद्वान तो गूलर का फूल है, हिंदी साहित्य का समझने वाला दिया ले के देखो तो ढूँढ़े न मिले, वह हमारे उत्कृष्ट श्रेणी के मान्य ग्रंथों को दूषित ठहरा के हमें धर्म सिखलाया चाहते हैं । जो हमारी सामाजिक रीति के अनुसार समाज के इतने स्नेही और स्नेहभाजन हैं कि पानी पान के पात्र भी नहीं कहे जा सकते, जिनकी भाषा, भोजन, भेष, भाव इत्यादि में देशीपन की गंध तक नहीं आती वह हमें व्यवहार शिक्षा देने को उधार खाए फिरते हैं ।

वाह रे कलियुग, हमारी समझ में इन सिखलाने वालों को पहिले आप ही सीखना उचित है कि किसको किस रीति से क्या सिखलाना फलीभूत हो सकता है । पहिले जो बातें हम दूसरों को सिखलाते हैं वह हमें स्वयं सीखनी चाहिए नहीं तो केवल जीभ की लपालप से अपना मुँह तथा दूसरों के कान दुखाने और दोनों का समय नष्ट करने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं होता । इन दिनों जितने लोग हमारे देशी भाइयों को यह उपदेश करते हैं कि देश में धन नहीं रहा, उसकी वृद्धि का उपाय करना चाहिए और व्यर्थ न उठने देना चाहिए, उनके हम बिरोधी नहीं हैं क्योंकि प्रत्यक्ष देखते हैं कि नाना भाँति के कर और निस्सार पदार्थों के द्वारा हमारा सारा रुपया दिन 2 विदेश को लदा जाता है, जब तक हम सब बकवासें छोड़ के अपने शिल्प और व्यापार की वृद्धि में तत्पर न होंगे इस घटी को पूरा नहीं कर सकते ।

यह भी हम मानते हैं कि धन की वृद्धि यदि हमारे पक्ष में दुस्साध्य हो तथापि उसे नष्ट तो कदापि न होने देना चाहिए और इसका एकमात्र उपाय अपव्यय से बचे रहना है । जो अपव्ययी नहीं है वह यदि

दैवयोग से कमाने में शक्तिमान न हो तो भी धन के पूर्ण अभाव का दुःख नहीं उठाता । पर हम नहीं जानते कि विदेशी तथा उनके चेले एतद्देशी हम पर अपव्यय का दोष क्यों लगाते हैं ? यदि हम हिंदुस्तान की सनातनी मर्यादा न छोड़ें तो कभी अपव्यय नहीं कर सकते अतः हमें अपव्ययी कहने वाले आप ही अपव्ययी हैं तथा वही देश का सत्यानाश करते हैं ।

खं० 9, सं० 8 (मार्च ह० सं० 9)

धोखा

इन दो अक्षरों में भी न जाने कितनी शक्ति है कि इनकी लपेट से बचना यदि निरा असंभव न हो तो महा कठिन तो अवश्य है । जब कि भगवान रामचंद्र ने मारीच राक्षस को सुवर्ण मृग समझ लिया था तो हमारी-आपकी क्या सामर्थ्य है जो धोखा न खायँ । बरंच ऐसी 2 कथाओं से विदित होता है कि स्वयं ईश्वर भी केवल निराधार निर्विकार ही रहने की दशा में पृथक् रहता है सो भी एक रीति से नहीं ही रहता, क्योंकि उसके मुख्य कामों में से एक काम सृष्टि का उत्पादन करना है, उसके लिए उसे अपनी माया का आश्रय लेना पड़ता है । और माया, भ्रम, छल इत्यादि धोखे ही के पर्याय हैं, इस रीति से यदि हम कहें कि ईश्वर भी धोखे से अलग नहीं है तो अयुक्त न होगा । क्योंकि ऐसी दशा में यदि वह धोखा खाता नहीं तो धोखे से काम अवश्य लेता है, जिसे दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि माया का प्रपंच फैलाता है वा धोखे की टट्टी खड़ा करता है ।

अतः सबसे पृथक् रहने वाला ईश्वर भी ऐसा नहीं है जिसके विषय में यह कहने का स्थान हो कि वह धोखे से अलग है, बरंच धोखे से पूर्ण उसे कह सकते हैं, क्योंकि वेदों में उसे "आश्चर्योस्य वक्ता" "चित्रन्देवानमुदगातनीक" इत्यादि कहा है और आश्चर्य तथा चित्रत्व की मोटी भाषा में धोखा ही कहते हैं, अथवा अवतार धारण की दशा में उसका नाम माया-बपु-धारी होता है, जिसका अर्थ है—धोखे का पुतला, और सच भी यही है । जो सर्वथा निराकार होने पर भी मत्स्य, कच्छपादि रूपों में प्रकट होता है, और शुद्ध निर्विकार कहलाने पर भी नाना प्रकार की लीला करता है वह धोखे का पुतला नहीं है तो क्या है ? हम आदर के मारे उसे भ्रम से रहित कहते हैं, पर जिसके विषय में कोई निश्चयपूर्वक 'इदमित्थं' कही नहीं सकता, जिसका सारा भेद स्पष्ट रूप से कोई जान ही नहीं सकता वह निर्भ्रम या भ्रमरहित क्योंकर कहा जा सकता है ? शुद्ध निर्भ्रम वह कहलाता है जिसके विषय में भ्रम का आरोप भी न हो सके । पर उसके तो अस्तित्व तक में नास्तिकों को संदेह और आस्तिकों को निश्चित ज्ञान का अभाव रहता है, फिर वह निर्भ्रम कैसा ? और जब वही भ्रम से पूर्ण है तब उसके बनाए संसार में भ्रम अर्थात् धोखे का अभाव कहाँ ?

वेदांती लोग जगत् को मिथ्या भ्रम समझते हैं । यहाँ तक कि एक महात्मा ने किसी जिज्ञासु को भली

भाँति समझा दिया था कि विश्व में जो कुछ है, और जो कुछ होता है, सब भ्रम है। किंतु यह समझाने के कुछ ही दिन उपरांत उनके किसी प्रिय व्यक्ति का प्राणांत हो गया, जिसके शोक में वह फूट 2 कर रोने लगे। इस पर शिष्य ने आश्चर्य में आकर पूछा कि आप तो सब बातों को भ्रमात्मक मानते हैं, फिर जान-बूझकर रोते क्यों हैं ? उसके उत्तर में उन्होंने कहा कि भ्रम ही है। सच है, भ्रमोत्पादक भ्रमस्वरूप भगवान के बनाए हुए भव (संसार) में जो कुछ है भ्रम ही है।

जब तक भ्रम है तभी तक संसार है बरंच संसार का स्वामी भी तभी तक है, फिर कुछ भी नहीं ! और कौन जाने हो तो हमें उससे कोई काम नहीं ! परमेश्वर सबका भ्रम बनाए रक्खे इसी में सब कुछ है। जहाँ भरम खुल गया वहीं लाख की भलमंसी खाक में मिल जाती है। जो लोग पूरे ब्रह्मज्ञानी बनकर संसार को सचमुच माया की कल्पना मान बैठते हैं वे अपनी भ्रमात्मक बुद्धि से चाहे अपने तुच्छ जीवन को साक्षात् सर्वेश्वर मान के सर्वथा सुखी हो जाने का धोखा खाया करें; पर संसार के किसी काम के नहीं रह जाते हैं, बरंच निरे अकर्ता, अभोक्ता बनने की उमंग में अकर्मण्य और 'नारि नारि सब एक हैं जस मेहरि तस माय' इत्यादि सिद्धांतों के मारे अपना तथा दूसरों का जो अनिष्ट न कर बैठें वही थोड़ा है, क्योंकि लोक और परलोक का मजा भी धोखे ही में पड़े रहने से प्राप्त होता है। बहुत ज्ञान छाँटना सत्यानाशी की जड़ है ! ज्ञान की दृष्टि से देखें तो आपका शरीर मलमूत्र, मांस, मज्जादि, घृणास्पद पदार्थों का विकार मात्र है, पर हम उसे प्रीति का पात्र समझते हैं और दर्शन स्पर्शनाद से आनंद लाभ करते हैं।

हमको वास्तव में इतनी जानकारी भी नहीं है कि हमारे शिर में कितने बाल हैं वा एक मिट्टी के गोले का सिरा कहाँ पर है, किंतु आप हमें बड़ा भारी विज्ञ और सुलेखक समझते हैं तथा हमारी लेखनी या जिह्वा की कारीगरी देख 2 कर सुख प्राप्त करते हैं ! विचार कर देखिए तो धन-जन इत्यादि पर किसी का कोई स्वत्व नहीं है, इस क्षण हमारे काम आ रहे हैं, क्षण ही भर के उपरांत न जाने किसके हाथ में वा किस दशा में पड़ के हमारे पक्ष में कैसे हो जायँ, और मान भी लें कि इनका वियोग कभी न होगा तो भी हमें क्या ? आखिर एक दिन मरना है, और 'मूँदि गईं आँखें तब लाखें केहि काम की'। पर यदि हम ऐसा समझकर सबसे संबंध तोड़ दें तो सारी पूँजी गँवा कर निरे मूर्ख कहलावें, स्त्री-पुत्रादि का प्रबंध न करके उनका जीवन नष्ट करने का पाप मुड़ियावें ! 'ना हम काहू के कोऊ ना हमारा' का उदाहरण बनके सब प्रकार के सुख-सुविधा, सुयश से वंचित रह जावें ! इतना ही नहीं, बरंच और भी सोच कर देखिए तो किसी को कुछ भी खबर नहीं है कि मरने के पीछे जीव की क्या दशा होती है।

बहुतेरों का सिद्धांत यह भी है कि दशा किसकी होगी, जीव तो कोई पदार्थ ही नहीं है। घड़ी के जब तक सब पुरजे दुरुस्त हैं, और ठीक-ठीक लगे हुए हैं तभी तक उसमें खट-खट, टन-टन आवाज आ रही है, जहाँ उसके पुरजों का लगाव बिगड़ा वहीं न उसकी गति है, न शब्द है। ऐसे ही शरीर का क्रम जब तक ठीक 2 बना हुवा है, मुख से शब्द और मन से भाव तथा इंद्रियों से कर्म का प्राकट्य होता रहता है, जहाँ इसके क्रम में व्यतिक्रम हुआ, वहीं सब खेल बिगड़ गया, बस फिर कुछ नहीं, कैसा जीव ? कैसी आत्मा ? एक रीति से यह कहना झूठ भी नहीं जान पड़ता; क्योंकि जिसके अस्तित्व का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है उसके विषय में अंततोगत्वा यों ही कहा जा सकता है ! इसी प्रकार स्वर्ग-नर्कादि के सुख-दुःखादि का होना भी नास्तिकों ही के मत से नहीं, किंतु बड़े 2 आस्तिकों के सिद्धांत से भी 'अविदितिसुखदुख निर्विशेषस्वरूप' के अतिरिक्त कुछ समझ में नहीं आता।

स्कूल में हमने भी सारा भूगोल और खगोल पढ़ डाला है, पर नर्क और बैकुंठ का पता कहीं नहीं पाया। किंतु भय और लालच को छोड़ दें तो बुरे कामों से घृणा और सत्कर्मों से रुचि न रखकर भी तो अपना अथच पराया अनिष्ट ही करेंगे। ऐसी 2 बातें सोचने से गोस्वामी तुलसीदास जी का 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानेहु भाई' और श्री सूरदास जी का 'मायामोहिनी मन हरन' कहना प्रत्यक्षतया सच्चा जान पड़ता है। फिर हम नहीं जानते कि धोखे को लोग क्यों बुरा समझते हैं ? धोखा खाने वाला मूर्ख और धोखा देने वाला ठग क्यों कहलाता है ?

जब सब कुछ धोखा ही धोखा है, और धोखे से अलग रहना ईश्वर की सामर्थ्य से भी दूर है, तथा धोखे ही के कारण संसार का चर्खा पिन्न 2 चला जाता है, नहीं तो ढिच्चर 2 होने लगे, बरंच रही न जाय तौ फिर इस शब्द का स्मरण वा श्रवण करते ही आप की नाक-भौंह क्यों सुकुड़ जाती है ? इसके उत्तर में हम तो यही कहेंगे कि साधारणतः जो धोखा खाता है वह अपना कुछ न कुछ गँवा बैठता है, और जो धोखा देता है उसकी एक न एक दिन कलई खुले बिना नहीं रहती है और हानि सहना वा प्रतिष्ठा खोना दोनों बातें बुरी हैं, जो बहुधा इसके संबंध में हो ही जाया करती हैं।

इसी से साधारण श्रेणी के लोग धोखे को अच्छा नहीं समझते, यद्यपि उससे बच नहीं सकते, क्योंकि जैसे काजल की कोठरी में रहने वाला बेदाग नहीं रह सकता वैसे ही भ्रमात्मक भवसागर में रहने वाले अल्पसामर्थी जीव का भ्रम से सर्वथा बचा रहना असंभव है, और जो जिससे बच नहीं सकता उसको उसकी निंदा करना नीतिविरुद्ध है। पर क्या कीजिए, कच्ची खोपड़ी के मनुष्य को प्राचीन प्राज्ञ गण अल्पज्ञ कह गए हैं, जिसका लक्षण ही है कि आगा-पीछा सोचे बिना जो मुँह पर आवे कह डालना और जो जी में समावे कर उठना, नहीं तो कोई काम वा वस्तु वास्तव में भली अथवा बुरी नहीं होती, केवल उसके व्यवहार का नियम बनने-बिगड़ने से बनाव-बिगाड़ हो जाया करता है।

परोपकार को कोई बुरा नहीं कह सकता, पर किसी को सब कुछ उठा दीजिए तो भीख माँग के प्रतिष्ठा अथवा चोरी करके धर्म खोइएगा वा भूखों मर के आत्महत्या के पाप भागी होइएगा ! यों ही किसी को सताना अच्छा नहीं कहा जाता है, पर यदि कोई संसार का अनिष्ट करता हो, उसे राजा से दंड दिलवाइए वा आप ही उसका दमन कर दीजिए तो अनेक लोगों के हित का पुण्यलाभ होगा।

घी बड़ा पुष्टिकारक होता है, पर दो सेर पी लीजिए तो उठने-बैठने की शक्ति न रहेगी। और संखिया, सींगिया आदि प्रत्यक्ष विष हैं, किंतु उचित रीति से शोध कर सेवन कीजिए तो बहुत-से रोग-दोख दूर हो जायँगे। यही लेखा धोखे का भी है। दो-एक बार धोखा खा के धोखेबाजों की हिकमतें सीख लो, और कुछ अपनी ओर से झपकी फुँदनी जोड़कर 'उसी की जूती उसी का सिर' कर दिखाओ तो बड़े भारी अनुभवशाली बरंच 'गुरु गुड़ ही रहा चेला शक्कर हो गया' का जीवित उदाहरण कहलाओगे। यदि इतना न हो सके तो उसे पास न फटकने दो तौ भी भविष्य के लिये हानि और कष्ट से बच जाओगे।

यों ही किसी को धोखा देना हो तो इस रीति से दो कि तुम्हारी चालबाजी कोई भाँप न सके, और तुम्हारा बलिपशु यदि किसी कारण से तुम्हारे हथखंडे ताड़ भी जाय तो किसी से प्रकाशित करने के काम का न रहे। फिर बस अपनी चतुरता के मधुर फल को मूर्खों के आँसू तथा गुरूघंटालों के धन्यवाद की वर्षा के जल से धो और स्वादुपूर्वक खा ! इन दोनों रीतियों से धोखा बुरा नहीं है। अगले लोग कह गए हैं कि आदमी कुछ खो के सीखता है, अर्थात् धोखा खाए बिना अक्किल नहीं आती, और बेईमानी तथा नीति-

कुशलता में इतना ही भेद है कि जाहिर हो जाय तो बेईमानी कहलाती है और छिपी रहै तो बुद्धिमानी है।

हमें आशा है कि इतने लिखने से आप धोखे का तत्व यदि निरे खँ.ा के धोखे न हों, मनुष्य हों तो समझ गए होंगे। पर अपनी ओर से इतना और समझा देना भी हम उचित समझते हैं कि धोखा खा के धोखेबाज का पहिचानना साधारण समझ वालों का काम है। इससे जो लोग अपनी भाषा, भोजन, भेष, भाव और भ्रातृत्व को छोड़ कर आप से भी छुड़वाया चाहते हों उनको समझे रहिए कि स्वयं धोखा खाए हुए हैं और दूसरों को धोखा दिया चाहते हैं। इससे ऐसों से बचना परम कर्तव्य है, और जो पुरुष एवं पदार्थ अपने न हों वे देखने में चाहे जैसे सुशील और सुंदर हों, पर विश्वास के पात्र नहीं हैं, उनसे धोखा हो जाना असंभव नहीं है। बस, इतना स्मरण रखिएगा तो धोखे से उत्पन्न होने वाली विपत्तियों से बचे रहिएगा। नहीं तो हमें क्या, अपनी कुमति का फल अपने ही आँसुओं से धो और खा, क्योंकि जो हिंदू होकर ब्रह्मवाक्य नहीं मानता वह धोखा खाता है[1]।

खं० 9, सं० 9 (अप्रैल, ह० सं० 9)

विलायत यात्रा

न जाने क्या दुर्दशा आई है कि लोगों को सब विलायती पदार्थ ही अच्छे लगते हैं। कदाचित् इसका कारण पश्चिमीय शिक्षा हो। लोग बाल्यावस्था में ही उन स्कूलों में भेज दिए जाते हैं जहाँ वही अँगरेजी गिटपिट से काम पड़े।.. चाहे कश्मीरी, खत्री आदि की भी संतति हों, पर अपने को ब्लैक कहने में आदर समझें। चाहे महाराष्ट्र वीरों के पुत्र भी हों पर वही कि हममें अँगरजों की-सी फुर्ती कहाँ से आई, इत्यादि। यह सब बातें लिखें तो लेख बढ़ जायगा। हमें तो केवल यह दिखाना है कि काल के परिवर्तन से जो लोग विलायत गमन के लिये कहीं वेद से लेकर पुराण, कुरान आदि के श्लोक वा आयत छाँट 2 के छपा दें, कहो सहस्र युक्तियाँ निकाल के यह सिद्ध कर दें कि वहाँ की-सी जलवायु कहीं नहीं है, वहाँ की रहन-सहन, बोलचाल, शिष्टता-मिष्टता कहीं नहीं। वहाँ हमारे पूर्वज तो सब जाते थे। बिना वहाँ के खाद्याच्छादन किए हमारी ब्लैकनेस (श्यामता) जा सकती है, न गौरांग देवों की भी पूजार्चा मिल सकती है। अरे भाई एक ब्राह्मण चाहे सो बके, पर तुम्हारी समझ में नहीं आएगा।

पर यदि हमीं श्वेत लेप लगा लें और अपना नाम भी रेवरेंड मिस्टर P. Naroyegem Messur ए०बी०सी०डी०ई०.. जेड रख लें तो तुरंत आप हमारे बंगले पर आ के हमसे साक्षात् करके कर स्पर्श करने को उत्सुक होंगे। आप अपनी पाकेट से रूमाल निकाल के झुकेंगे कि हमारा बूट पोंछ दें। पर हम कहेंगे "ओ हट जाओ सूअर काला।" झट से आप सिटपिट करके हट जायँगे। आप अँगरेजी में

1. 'निबंध-नवनीत' से उद्धृत।

किटपिट करके हमें शांत करना चाहोगे, पर हमें वही "सुनटा नहीं हम चला जायगा टुम वाडमास" सूझेगा। लाख खुशामद करोगे हम एक न सुनेंगे। हम जो कुछ लिखेंगे, आप यदि हिंदू हैं तो वेदवाक्य समझेंगे, यदि मुसलमान हैं तो आयातेकुरान से भी अधिक मानेंगे, अगर नेटिव क्रिश्चियन हैं तो अपने प्रीचिङ्गज में नीम के नीचे खड़े हो करके हमारे लेख को भी, सच मानिए, अपनी बाइबिल के प्रमाणों में मिलाने लगेंगे। ऐसे समय पर कहीं हम बिलायत-यात्रा निषेध पर कुछ लिखें तो विद्युत् समाचार की नाईं समस्त भूमंडल पर फैल जाय। हमको भी राजा, सर,¨श्री ईसाई (C.S.I.) की पदवी मिल जाय। पर भैय्या !¨हम तुम्हें यह समझाते हैं कि साहिब लोगों के ही क्या रक्तमला (सुर्खाब) का पंख लगा है जो उनके लेकचर और आर्टिक्लों को बिना मीमांसा ग्रहण कर लेते हों। इसमें तुम्हारा कल्याण नहीं है। 'यथा राजा तथा प्रजा' का अर्थ यह नहीं है कि साहिब लोगों की नाईं आप की लड़की भी मिसें हो जायँ। आपकी रहन-सहन में खड़े हो के पयश्राव त्याग करना सभ्य समझा जाय। आप जो इतने प्रमाण श्री महाभारतादि वृहदितिहासों और श्रीमद्भागवतादि महापुराणों से छाँटते हैं कि हमारे पूर्वज बिलायत जाते थे, हमने माना, किंतु यह तो समझिए कि उन महापुरुषों ने जा के क्या-क्या किया था। किसी ने जा के अपनी व्यवहारविद्या फैलाई थी। आप उलटे वहीं की रीति-नीति सीख आते हैं।

उन लोगों ने वहाँ जा के अपने सनातन धर्म को विस्तृत किया था। आप वहाँ से ईसाई हो के लौटते हैं। आपके पूर्वपुरुष झट से अन्य देशस्थ मनुष्यों को विडालाक्ष, कालयवन[1] मयदानव[2] नाम धर लेते थे। आप ब्लैक, डैमड फूल बन के फूल से खिल जाते थे कि इन अधरों से भला इतना तौ भी सुना। अभी तो आप इस बात पर हँसते होंगे कि हम भी किस मुल्क में उत्पन्न हुए जहाँ के लोग जहाज पर नहीं चढ़ते, जहाँ खड़े हो के नहीं मूतते, जहाँ लौग हाइड्स पार्क[3] की सैर नहीं करते, जहाँ स्त्री स्वच्छंद नहीं विचरतीं, जहाँ कागज का एक काम तो लोगों को विदित ही नहीं, केवल लिखने, छापने, टोपी बनने आदि के ही काम में आता है इत्यादि। पर यह न समझते होंगे कि हमारे देश की एक 2 रीति पर चाहे और देश के आदमी असभ्यता का दोष आरोपण करें, किंतु कुछ नहीं, कहीं धूलि के उड़ने से भानु प्रतापहीन होते हैं।

हाँ इतना तो हो जाता है कि भानु दिखाई न दें। पर ज्योंही धूलि हटी त्योंही भगवान् वैसे के वैसे ही। सिविल सर्विस है तो सर्विस ही न, फिर क्यों उसके लिए बिना बुलाए अपनी लक्ष्मी को समुद्र प्रांतों में भेजें। एक सिविल सर्विस के लिए जितना रुपया व्यय किया जाता है और एक साल जितने मनुष्य परीक्षा देने विलायत जाते हैं, उतने रुपयों के यदि हमारे देश में कोई सद्व्यय होने लगे तो क्या ही आनंद का विषय है। सिविल सर्विस में रुपए व्यय करके जब लौटौगे तौ मिलैगी वही नौकरी। हमारा अभिप्राय यह नहीं कि नौकरी करो ही मत, न करोगे तो जियोगे कैसे ? किंतु यह अभीष्ट है कि ऐसा उद्योग करो कि जिससे देश का धन देश ही में रहे। राज्य दूसरों का है, कुछ न कुछ धन तो अवश्य ही विदेश जायगा। यह बात तो पत्थर की लकीर ही है। पर ऐसा उद्यम करो, जिससे यथोचित द्रव्य

1. अरब का रहने वाला था। हर समय कालः हुतआला, कालः हुजैद कहा करता था। झट से महर्षियों ने 'काल्यवन' नाम धर लिया।
2. फारस का रहने वाला था। जब कोई वस्तु चाहता था तो विदुर जी से कहता—"रंगे जर्द म खाहम्" झट से मैं (मय) नाम पड़ गया।
3. हाइड्स पार्क—जहाँ से लज्जा योजन भर दूर रहती है। लंडन का एक बाग है।

के अतिरिक्त एक कौड़ी भी विदेश को न जाय। यदि सैर ही के प्रयोजन से विलायत जाते हो तो तनिक चेत करके देखिए तो हमारे वैसे दिन नहीं रहे। यदि ऐसी ही इच्छा है तो श्री वृंदाबनादि तीर्थों को रमणीय करने की चेष्टा कीजिए। नहीं तो यह पवित्र स्थान एक तो वैसे ही पूवपिक्षी कुछ न्यूनतर रमणीय हो गए हैं, दूसरे तुम और कर दोगे।

मुसलमानों के अत्याचार से तो मंदिर भग्न हुए, अब तुम्हारे विलायत आदि जाने के व्यय में अकेले तीर्थ ही क्या तुम्हारे सब ग्रहादि प्राणरहित देह के समान हो जायँगे। जिस दिन तुम विलायत में जाकर अपने आचार-व्यवहार फैलाओगे, और जैसे अन्य देशियों की रीति-नीति तुम सीखते हो वैसे दूसरों को भी अपनी नीति सिखाओगे, उस दिन तुम्हें कोई बुरा न कहेगा और कोई जातिभ्रष्ट न कहेगा। बोल श्री नंदनंदन की जै—[1]

खं० 9, सं० 9 (अप्रैल, ह० सं० 9)

वाजिदअलीशाह

हाय! आज हमीं नहीं रो रहे हैं, हमारी लेखनी का भी हृदय विदीर्ण हो रहा है! हँसी मत समझो, मारे दुःख के उन्माद हो रहा है, इससे रक्त काला पड़ गया है और आँसुओं के साथ नेत्र द्वारा बहा जाता है। हमारा कानपुर यवनों का नगर नहीं सही, पर लखनऊ यहाँ से दूर नहीं है, बरंच यहाँ से सहस्रों संबंध रखता है। फिर क्यों न लखनऊ के साथ इसे भी शोक हो। संपादक और उसके मित्र श्री बाबू राधेलाल आदिक कई लोग प्रत्यक्ष अश्रुवर्षा कर चुके हैं। यह बात्त किसी के देखने की नहीं, बरंच हृदय के सच्चे संताप से थी। हाय शाह वाजिद अली! हा सुलताने आलम! हा अखतर! हाय सूबे अवध के कन्हैया! तुम हमारा शासन न करते थे, तुम हमारी जाति के न थे तो भी, हमारा बादशाह कलकत्ते में बैठा है, स्मरण हमारे लिए संतोषजनक था। तुम्हारा अंतःकरण हमसे ममता रखता था, इसमें कोई संदेह नहीं।

पर हाय! दुष्ट दैव से इतना भी न देखा गया, मूर्ख, खुशामदी और अपने दुर्गुणों से भी पराये सद्‌गुण तक को तुच्छ समझने वाले चाहे जो कुछ झख मारें, पर हम भली भाँति जानते हैं कि तुम्हारे दोष भी मनुष्य जाति की अपूर्ण शक्ति से अधिक कुछ न थे। तुमने अपनी प्रभुता के समय हिंदू मुसलमान दोनों को अपनी प्यारी प्रजा समझा है। यह तुम्हारा एक गुण ऐसा है कि तुममें सचमुच के सहस्र दोष भी होते तो भस्म कर देता! जो मूर्ख और दुष्ट लोग अपने मतवालेपन से दूसरों के पूज्य पुरुषों की निंदा और उनसे घृणा किया करते हैं उनसे तुम लाखों कोस दूर थे। सहस्रों लोगों का रक्त बहेगा, सहस्रों ललनाओं का अहिवात जाता रहेगा, इस भय से आपने तईं प्रसन्नतापूर्वक दूसरों के हाथ में सौंप दिया।

यह गुण तुम्हारा हमारे हृदय को प्रफुल्लित करता है। गुणग्राहकता आश्रितपोषकता और दुःख-सुख

1. निबंध-नवनीत' से उद्धृत।

दोनों में एकरसता आदि के कारण तुम प्रेम समाज के प्रातःस्मरणीय हो । सितंबर की 21 तारीख तुम्हारे वियोग का दिन है, अतः सहृदयों को दुखदाई होगी । कहाँ तक लिखें, शोक के मारे तो अधिक विषय सूझते ही नहीं । इस दशा में भी सहस्रों के पेट तुम्हारे अनुग्रह से पलते थे, हाय ! आज उनके चित्त की क्या दशा होगी !![1]
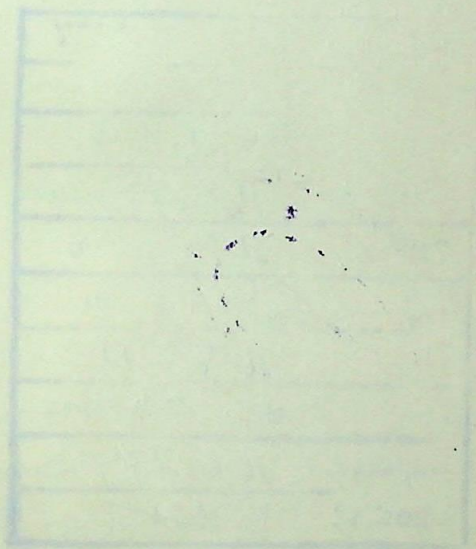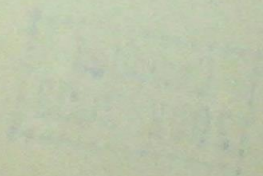
खं० 4 सं० 3

□□

1. निबंध-नवनीत' से उद्धृत ।

प्रतापनारायण मिश्र रचनावली : 3

जिस जमाने में प्रतापनारायण स्कूल में थे, बाबू हरिश्चन्द्र का 'कविवचन सुधा' पत्र खूब उन्नत अवस्था में था। उसमें बहुत ही मनोरंजक गद्य-पद्यमय लेख निकलते थे। उसे और बाबू हरिश्चन्द्र की अन्यान्य रचनाओं को भी पढ़कर प्रतापनारायण की प्रवृत्ति कविता की ओर हुई। उस समय कानपुर में लावनीबाजों का बड़ा जोर-शोर था। बाबू सीताराम कहते हैं कि लावनी गाने वालों की कई जमातें थीं। लावनी का प्रसिद्ध कवि बनारसी भी उस समय अक्सर कानपुर में रहा करता था। वे सब अक्सर सर्वसाधारण में लावनी गाया करते थे। उनके दो दल इकट्ठे हो जाते थे और लावनी कहने में एक-दूसरे को परास्त करने की चेष्टा करते थे। उनमें से कोई-कोई आदमी बहुत अच्छी लावनी कहते थे और मौके-मौके पर नयी लावनी बना लेते थे। प्रतापनारायण इन लोगों की जमातों में कभी-कभी जाते थे। इसी समय कानपुर के प्रसिद्ध कवि पंडित ललिताप्रसाद द्विवेदी के धनुषयज्ञ की धूम थी। आप रामलीला—विशेष करके धनुषयज्ञ कराने में बहुत निपुण थे। समयानुकूल अच्छी-अच्छी कविता की रचना करके और उसे लीलागत पात्रों के मुँह से सुनाकर, सुनने वालों के मन को आप मोहित कर लेते थे। प्रतापनारायण भी इस लीला में शामिल होते थे और 'ललितजी' की कविता का पाठ करते थे।

—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी

महत्त्वपूर्ण और चर्चित पुस्तकें

दस प्रतिनिधि कहानियाँ सीरीज़ की 22 पुस्तकें *(22 शीर्षस्थ कहानीकारों की चुनिंदा कहानियाँ)*
मेरे साक्षात्कार सीरीज़ की 11 पुस्तकें *(11 शीर्षस्थ साहित्यकारों के साक्षात्कार)*
महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली
(पहले सेट में 7 खंड, दूसरे सेट में 8 खंड, कुल 15 खंड) *सं० : भारत यायावर*
सर्वेश्वरदयाल सक्सेना : संपूर्ण गद्य रचनाएँ (चार खंड) *सं० : विभा व शुभा सक्सेना*
महायात्रा गाथा (अँधेरा रास्ता के दो खंड, रैन और चंदा के दो खंड)
(ऐतिहासिक औपन्यासिक कथा-सृष्टि) *रांगेय राघव*
समग्र कविताएँ : माखनलाल चतुर्वेदी *सं० : श्रीकान्त जोशी*
मंटो की कहानियाँ (बृहत् संस्करण) *सं० : डॉ० नरेन्द्र मोहन*
अपनी धरती अपने लोग (तीन खंड) (आत्मकथा) *डॉ० रामविलास शर्मा*
रसीदी टिकट (आत्मकथा) *अमृता प्रीतम*
ख़ानाबदोश (आत्मकथा) *अजीत कौर*
पार्थ से कहो चढ़ाएं बाण (पाँच खंडों में संपूर्ण महाभारत कथा) *पन्नालाल पटेल*
तोड़ो, कारा तोड़ो (दो खंडों में स्वामी विवेकानंद की औपन्यासिक जीवनी) *नरेन्द्र कोहली*
मेरा संघर्ष (हिटलर की आत्मकथा) *सं० : रामचन्द्र वर्मा शास्त्री*
दिल्ली (उपन्यास) *खुशवंत सिंह*
इदन्नमम (उपन्यास) *मैत्रेयी पुष्पा*
संसार की श्रेष्ठ कहानियाँ *सं० : ज्ञानचन्द जैन*
मेरी इक्यावन कविताएँ, कुछ लेख कुछ भाषण (दो पुस्तकें) *अटल बिहारी वाजपेयी*
केरल का क्रांतिकारी/*विष्णु प्रभाकर*, रंग दे बसंती चोला/*भीष्म साहनी* (दोनों नाटक)
यात्रा के पन्ने, एशिया के दुर्गम भूखंडों में (दो पुस्तकें) *राहुल सांकृत्यायन*
नावक के तीर (व्यंग्य) *शरद जोशी*
चुने हुए निबंध *हज़ारीप्रसाद द्विवेदी*
हिन्दी भाषा और भारतीय संस्कृति *डॉ० शंकर दयाल शर्मा*
सचित्र खेल नियम *अजय भल्ला*
नारी गुणों की गाथाएँ *ब्रजभूषण*
ग्रेडिड नैतिक अभिनय गान सीरीज़ (11 बाल पुस्तकें) *धर्मपाल शास्त्री*
आओ बच्चो खेलें सीरीज़ (दस पुस्तकें) *सुधीर सेन*
व्यक्तित्व-विकास : संघर्ष और सफलता *क्रांतिकारी लाला हरदयाल*
प्रेमी-प्रेमिका संवाद (उपन्यास) *शरद देवड़ा*

भारतीय प्रकाशन संस्थान